महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद



संस्कृत मूल

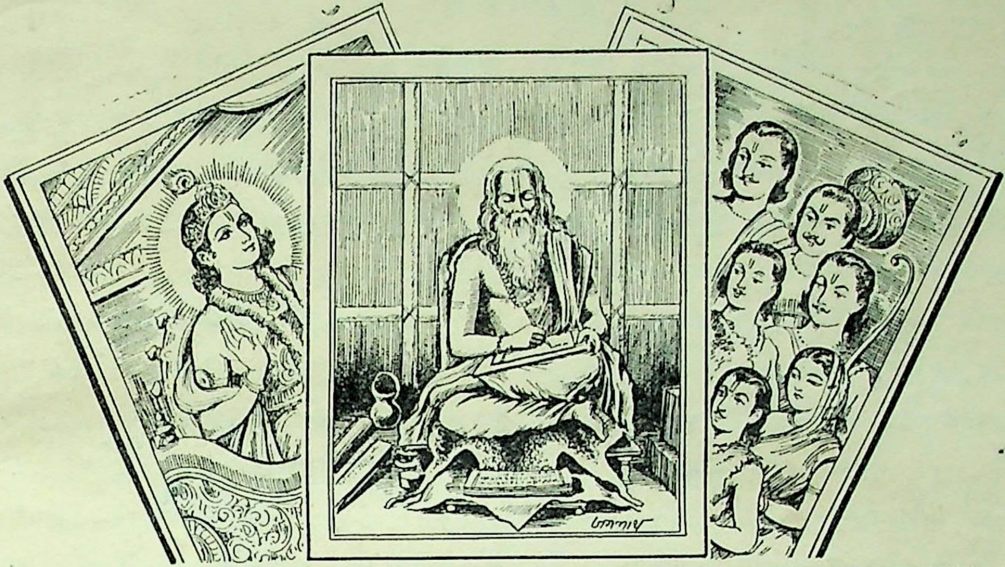
हिन्दी अनुवाद

वर्ष १

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष १ } गोरखपुर, वैशाख २०१३, मई १९५६ { संख्या ७ पूर्ण संख्या ७

कृष्णत्रय (श्रीकृष्ण, अर्जुन और वेदव्यास) का स्तवन

यज्ज्योतिस्तमसः परं महदहो निर्माय रूपाणि त-
न्नामानि प्रविभज्य च व्यवहरत्यैतैर्गुहायां गतम् ।
आनन्दैकरसं तदद्वयमथो तन्मायया देवकी-
कुन्तीसत्यवतीषु जन्म धृतवत् कृष्णत्रयं पातु नः ॥

जो अज्ञानान्धकारसे परे, चिन्मय ज्योतिःस्वरूप तथा महद् ब्रह्मरूप हैं, जो अपने ही अनेक रूपोंका निर्माण करके उनके भिन्न-भिन्न नाम रखकर उन सबके द्वारा यथायोग्य व्यवहार करते हैं तथा जो 'अन्तर्यामी आत्मा' रूपसे सबकी हृदय-गुफामें स्थित, आनन्दैकरसस्वरूप और द्वैतरहित हैं; वे मायाद्वारा देवकी, कुन्ती तथा सत्यवतीके गर्भसे प्रकट हुए तीन कृष्ण (श्रीकृष्ण, अर्जुन और वेदव्यास) हमलोगोंकी रक्षा करें ।

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

चित्र-सूची



सम्पादक—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



भगवान् शिवका आकाशसे गिरती हुई गङ्गाको अपने सिरपर धारण करना

चतुरशीतितमोऽध्यायः

नाना प्रकारके तीर्थोंकी महिमा

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेन्महाराज धर्मतीर्थमनुत्तमम् ।
यत्र धर्मो महाभागस्तप्तवानुत्तमं तपः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर परम उत्तम धर्मतीर्थकी यात्रा करे, जहाँ महाभाग धर्मने उत्तम तपस्या की थी ॥ १ ॥

तेन तीर्थं कृतं पुण्यं स्वेन नाम्ना च विश्रुतम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् धर्मशीलः समाहितः ॥ २ ॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनीते नात्र संशयः ।

राजन् ! उन्होंने ही अपने नामसे विख्यात पुण्य तीर्थकी स्थापना की है। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य धर्मशील एवं एकाग्रचित्त होता है और अपने कुलकी सातवीं पीढ़ी तकके लोगोंको पवित्र कर देता है; इसमें संशय नहीं है ॥ २½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ज्ञानपावनमुत्तमम् ॥ ३ ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति मुनिलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर उत्तम ज्ञानपावन तीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और मुनिलोकमें जाता है ॥ ३½ ॥

सौगन्धिकवनं राजंस्ततो गच्छेत मानवः ॥ ४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् मानव सौगन्धिक वनमें जाय ॥ ४ ॥

तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
सिद्धचारणगन्धर्वाः किंनराश्च महोरगाः ॥ ५ ॥

वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर और बड़े-बड़े नाग निवास करते हैं ॥ ५ ॥

तद् वनं प्रविशन्नेव सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी ॥ ६ ॥
प्लक्षाद्देवी स्रुता राजन् महापुण्या सरस्वती ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःसृते जले ॥ ७ ॥

उस वनमें प्रवेश करते ही मानव सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । उससे आगे सरिताओंमें श्रेष्ठ और नदियोंमें उत्तम नदी परम पुण्यमयी सरस्वतीदेवीका उद्गम स्थान है, जहाँ वे प्लक्ष (पकड़ी) नामक वृक्षकी जड़से टपक रही हैं। राजन् ! वहाँ बाँबीसे निकले हुए जलमें स्नान करना चाहिये ॥

अर्चयित्वा पितॄन् देवानश्वमेधफलं लभेत् ।
ईशानाध्युषितं नाम तत्र तीर्थं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥

वहाँ देवताओं तथा पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है। वहीं ईशानाध्युषित नामक परम दुर्लभ तीर्थ है ॥ ८ ॥

षट्सु शम्यानिपातेषु वल्मीकादिति निश्चयः ।
कपिलानां सहस्रं च वाजिमेधं च विन्दति ॥ ९ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र दृष्टमेतत् पुरातनैः ।

जहाँ बाँबीका जल है, वहाँसे इसकी दूरी छः शम्यानिपात[1] है। यह निश्चित माप बताया गया है। नरश्रेष्ठ ! उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र कपिलादान और अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है; इसे प्राचीन ऋषियोंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है।

सुगन्धां शतकुम्भां च पञ्चयज्ञां च भारत ॥ १० ॥
अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते ।

भारत ! पुरुषरत्न ! सुगन्धा, शतकुम्भा तथा पञ्चयज्ञा तीर्थमें जाकर मानव स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १०½ ॥

त्रिशूलखातं तत्रैव तीर्थमासाद्य भारत ॥ ११ ॥
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गाणपत्यं च लभते देहं त्यक्त्वा न संशयः ॥ १२ ॥

भरतकुलतिलक ! वहीं त्रिशूलखात नामक तीर्थ है; वहाँ जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें लग जाय । ऐसा करनेवाला मनुष्य देहत्यागके अनन्तर गणपति-पद प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ।११-१२।

ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम् ।
शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे परमदुर्लभ देवीस्थानकी यात्रा करे, वह देवी तीनों लोकोंमें शाकम्भरीके नामसे विख्यात है ॥ १३ ॥

दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रता ।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप ॥ १४ ॥
ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः ।
आतिथ्यं च कृतं तेषां शाकेन किल भारत ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! कहते हैं उत्तम व्रतका पालन करनेवाली उस देवीने एक हजार दिव्य वर्षोंतक एक-एक महीनेपर केवल शाकका आहार किया था। देवीकी भक्तिसे प्रभावित होकर बहुत-से तपोधन महर्षि वहाँ आये। भारत ! उस देवीने उन महर्षियोंका आतिथ्य-सत्कार भी शाकके ही द्वारा किया ॥

ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम् ।
शाकम्भरीं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ १६ ॥

---

१. शम्याका अर्थ है डंडा। कोई बलवान् पुरुष डंडेको खूब जोर लगाकर फेंके तो वह जहाँ गिरे, उतनी दूरके स्थानको एक शम्यानिपात कहते हैं । ऐसे ही छः शम्यानिपातकी दूरी समझ लेनी चाहिये ।

त्रिरात्रमुषितः शाकं भक्षयित्वा नरः शुचिः ।
शाकाहारस्य यत् किंचिद् वर्षैर्द्वादशभिः कृतम् ॥ १७ ॥
तत् फलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत ।

भारत ! तबसे उस देवीका 'शाकम्भरी' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। शाकम्भरीके समीप जाकर मनुष्य ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त और पवित्र हो वहाँ तीन राततक शाक खाकर रहे तो बारह वर्षोंतक शाकाहारी मनुष्यको जो पुण्य प्राप्त होता है, वह उसे देवीकी इच्छासे (तीन ही दिनोंमें) मिल जाता है ॥ १६-१७½॥

ततो गच्छेत् सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १८ ॥
तत्र विष्णुः प्रसादार्थं रुद्रमाराधयत् पुरा ।
वरांश्च सुबहूँल्लेभे दैवतेषु सुदुर्लभान् ॥ १९ ॥

तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात सुवर्णतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने रुद्रदेवकी प्रसन्नताके लिये उनकी आराधना की और उनसे अनेक देवदुर्लभ उत्तम वर प्राप्त किये ॥ १८-१९ ॥

उक्तश्च त्रिपुरघ्नेन परितुष्टेन भारत ।
अपि च त्वं प्रियतरो लोके कृष्ण भविष्यसि ॥ २० ॥
त्वन्मुखं च जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः ।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र पूजयित्वा वृषध्वजम् ॥ २१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ।
धूमावतीं ततो गच्छेत् त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ २२ ॥
मनसा प्रार्थितान् कामाँल्लभते नात्र संशयः ।

भारत ! उस समय संतुष्टचित्त त्रिपुरारि शिवने श्रीविष्णुसे कहा—'श्रीकृष्ण ! तुम मुझे लोकमें अत्यन्त प्रिय होओगे। संसारमें सर्वत्र तुम्हारी ही प्रधानता होगी, इसमें संशय नहीं है।' राजेन्द्र ! उस तीर्थमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और गणपतिपद प्राप्त कर लेता है। वहाँसे मनुष्य धूमावतीतीर्थको जाय और तीन रात उपवास करे। इससे वह निःसंदेह मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ २०-२२½ ॥

देव्यास्तु दक्षिणार्धेन रथावर्तो नराधिप ॥ २३ ॥
तत्रारोहेत धर्मज्ञ श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
महादेवप्रसादाद्धि गच्छेत परमां गतिम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! देवीसे दक्षिणार्ध भागमें रथावर्त नामक तीर्थ है। धर्मज्ञ ! जो श्रद्धालु एवं जितेन्द्रिय पुरुष उस तीर्थकी यात्रा करता है, वह महादेवजीके प्रसादसे परम गति प्राप्त कर लेता है ॥ २३-२४ ॥

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
धारां नाम महाप्राज्ञः सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर महाप्राज्ञ पुरुष उस तीर्थकी परिक्रमा करके धाराकी यात्रा करे, जो सब पापोंसे छुड़ानेवाली है ॥ २५ ॥

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचति नराधिप ।

नरव्याघ्र ! नराधिप ! वहाँ स्नान करके मनुष्य कभी शोकमें नहीं पड़ता है ॥ २५½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ नमस्कृत्य महागिरिम् ॥ २६ ॥
स्वर्गद्वारेण यत् तुल्यं गङ्गाद्वारं न संशयः ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत कोटितीर्थे समाहितः ॥ २७ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे महापर्वत हिमालयको नमस्कार करके गङ्गाद्वार (हरिद्वार) की यात्रा करे, जो स्वर्गद्वारके समान है; इसमें संशय नहीं है। वहाँ एकाग्रचित्त हो कोटितीर्थमें स्नान करे ॥ २६-२७ ॥

पुण्डरीकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
उष्यैकां रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २८ ॥

ऐसा करनेवाला मनुष्य पुण्डरीकयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है। वहाँ एक रात निवास करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ २८ ॥

सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च शक्रावर्ते च तर्पयन् ।
देवान् पितॄंश्च विधिवत् पुण्ये लोके महीयते ॥ २९ ॥

सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग और शक्रावर्ततीर्थमें विधिपूर्वक देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करनेवाला मनुष्य पुण्यलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २९ ॥

ततः कनखले स्नात्वा त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३० ॥

तदनन्तर कनखलमें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ३० ॥

कपिलावटं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
उपोष्य रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! उसके बाद तीर्थसेवी मनुष्य कपिलावट तीर्थमें जाय। वहाँ रातभर उपवास करनेसे उसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ३१ ॥

नागराजस्य राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥ ३२ ॥

राजेन्द्र ! कुरुश्रेष्ठ ! वहीं नागराज महात्मा कपिलका तीर्थ है, जो सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है ॥ ३२ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वीत नागतीर्थे नराधिप ।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ॥ ३३ ॥

महाराज ! वहाँ नागतीर्थमें स्नान करना चाहिये। इससे मनुष्यको सहस्र कपिलादानका फल प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

ततो ललितकं गच्छेच्छान्तनोस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् शान्तनुके उत्तम तीर्थ ललितकमें जाय । राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता ॥ ३४ ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नाति यः संगमे नरः ।
दशाश्वमेधानाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ३५ ॥

जो मनुष्य गङ्गा-यमुनाके बीच संगम (प्रयाग) में स्नान करता है, उसे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल मिलता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ३५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुगंधां लोकविश्रुताम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३६ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर लोकविख्यात सुगन्धातीर्थकी यात्रा करे । इससे सब पापोंसे विशुद्धचित्त हुआ मानव ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ॥ ३६ ॥

रुद्रावर्तं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष रुद्रावर्ततीर्थमें जाय । राजन् ! वहाँ स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ॥३७॥

गङ्गायाश्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याश्च संगमे ।
स्नात्वाश्वमेधं प्राप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३८ ॥

नरश्रेष्ठ ! गङ्गा और सरस्वतीके संगममें स्नान करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ३८ ॥

भद्रकर्णेश्वरं गत्वा देवमर्च्य यथाविधि ।
न दुर्गतिमवाप्नोति नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ ३९ ॥

भगवान् भद्रकर्णेश्वरके समीप जाकर विधिपूर्वक उनकी पूजा करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ ३९ ॥

ततः कुब्जाम्रकं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
गोसहस्रमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४० ॥

नरेन्द्र ! तत्पश्चात् तीर्थसेवी मानव कुब्जाम्रक तीर्थमें जाय । वहाँ उसे सहस्र गोदानका फल मिलता है और अन्तमें वह स्वर्गलोकको जाता है ॥ ४० ॥

अरुन्धतीवटं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
सामुद्रकमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ४१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
गोसहस्रफलं विद्यात् कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ४२ ॥

नरपते ! तत्पश्चात् तीर्थसेवी अरुन्धती-वटके समीप जाय और सामुद्रकतीर्थमें स्नान करके ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात उपवास करे । इससे मनुष्य अश्वमेध यज्ञ और सहस्र गोदानका फल पाता तथा अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ४१-४२ ॥

ब्रह्मावर्तं ततो गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥ ४३ ॥

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक चित्तको एकाग्र करके ब्रह्मावर्ततीर्थमें जाय । इससे वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता और सोमलोकको जाता है ॥ ४३ ॥

यमुनाप्रभवं गत्वा समुपस्पृश्य यामुनम् ।
अश्वमेधफलं लब्ध्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ ४४ ॥

यमुनाप्रभव नामक तीर्थमें जाकर यमुनाजलमें स्नान करके अश्वमेधयज्ञका फल पाकर मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४४ ॥

दर्वीसंक्रमणं प्राप्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४५ ॥

दर्वीसंक्रमण नामक त्रिभुवनपूजित तीर्थमें जानेसे तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥४५॥

सिन्धोश्च प्रभवं गत्वा सिद्धगन्धर्वसेवितम् ।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च विन्देद् बहुसुवर्णकम् ॥ ४६ ॥

सिंधुके उद्गमस्थानमें, जो सिद्ध-गन्धर्वोंद्वारा सेवित है, जाकर पाँच रात उपवास करनेसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥

अथ वेदीं समासाद्य नरः परमदुर्गमाम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४७ ॥

तदनन्तर मनुष्य परम दुर्गम वेदीतीर्थमें जाकर अश्वमेध यज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ४७ ॥

ऋषिकुल्यां समासाद्य वासिष्ठं चैव भारत ।
वासिष्ठीं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन ! ऋषिकुल्या एवं वासिष्ठतीर्थमें जाकर स्नान आदि करके वासिष्ठीको लाँघकर जानेवाले क्षत्रिय आदि सभी वर्णोंके लोग द्विजाति हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषः ।
देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते ॥ ४९ ॥

ऋषिकुल्यामें जाकर स्नान करके पापरहित मानव देवताओं और पितरोंकी पूजा करके ऋषिलोकमें जाता है ॥

यदि तत्र वसेन्मासं शाकाहारो नराधिप ।
भृगुतुङ्गं समासाद्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ५० ॥

नरेश्वर ! यदि मनुष्य भृगुतुङ्गमें जाकर शाकाहारी हो वहाँ एक मासतक निवास करे तो उसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

गत्वा वीरप्रमोक्षं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
कृत्तिकामघयोश्चैव तीर्थमासाद्य भारत ॥ ५१ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलमाप्नोति मानवः ।
तत्र संध्यां समासाद्य विद्यातीर्थमनुत्तमम् ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्य च वै विद्यां यत्र तत्रोपपद्यते ।
महाश्रमे वसेद् रात्रिं सर्वपापप्रमोचने ॥ ५३ ॥
एककालं निराहारो लोकानावसते शुभान् ।

वीरप्रमोक्षतीर्थमें जाकर मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है । भारत ! कृत्तिका और मघाके तीर्थमें जाकर मानव अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल पाता है । वहीं प्रातः-संध्याके समय परम उत्तम विद्यातीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य जहाँ-कहीं भी विद्या प्राप्त कर लेता है । जो सब पापोंसे छुड़ानेवाले महाश्रमतीर्थमें एक समय उपवास करके एक रात वहीं निवास करता है, उसे शुभ लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ५१–५३½ ॥

षष्ठकालोपवासेन मासमुष्य महालये ॥ ५४ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विन्देद् बहुसुवर्णकम् ।
दशापरान् दश पूर्वान् नरानुद्धरते कुलम् ॥ ५५ ॥

जो छठे समय उपवासपूर्वक एक मासतक महालय-तीर्थमें निवास करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त हो प्रचुर सुवर्णराशि प्राप्त करता है । साथ ही दस पहलेकी और दस बादकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ॥ ५४-५५ ॥

अथ वेतसिकां गत्वा पितामहनिषेविताम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेदौशनसीं गतिम् ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीके द्वारा सेवित वेतसिकातीर्थमें जाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और शुक्राचार्यके लोकमें जाता है ॥ ५६ ॥

अथ सुन्दरिकातीर्थं प्राप्य सिद्धनिषेवितम् ।
रूपस्य भागी भवति दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥ ५७ ॥

तदनन्तर सिद्धसेवित सुन्दरिकातीर्थमें जाकर मनुष्य रूपका भागी होता है, यह बात प्राचीन ऋषियोंने देखी है ॥

ततो वै ब्राह्मणीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥५८॥

इसके बाद इन्द्रियसंयम और ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक ब्राह्मणीतीर्थमें जानेसे मनुष्य कमलके समान कान्तिवाले विमानद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ ५८ ॥

ततस्तु नैमिषं गच्छेत् पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मा देवगणैः सह ॥५९॥

तदनन्तर सिद्धसेवित पुण्यमय नैमिष (नैमिषारण्य) तीर्थमें जाय । वहाँ देवताओंके साथ ब्रह्माजी नित्य निवास करते हैं ॥ ५९ ॥

नैमिषं मृगयानस्य पापस्यार्धं प्रणश्यति ।
प्रविष्टमात्रस्तु नरः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६०॥

नैमिषकी खोज करनेवाले पुरुषका आधा पाप उसी समय नष्ट हो जाता है और उसमें प्रवेश करते ही वह सारे पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ६० ॥

तत्र मासं वसेद् धीरो नैमिषे तीर्थतत्परः ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि नैमिषे ॥६१॥

धीर पुरुष तीर्थसेवनमें तत्पर हो एक मासतक नैमिषमें निवास करे । पृथ्वीमें जितने तीर्थ हैं, वे सभी नैमिषमें विद्यमान हैं ॥ ६१ ॥

कृताभिषेकस्तत्रैव नियतो नियताशनः ।
गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥६२॥

भारत ! जो वहाँ स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करता है, वह गोमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ६२ ॥

पुनात्यासप्तमं चैव कुलं भरतसत्तम ।
यस्त्यजेन्नैमिषे प्राणानुपवासपरायणः ॥६३॥
स मोदेत् सर्वलोकेषु एवमाहुर्मनीषिणः ।
नित्यं मेध्यं च पुण्यं च नैमिषं नृपसत्तम ॥६४॥

भरतश्रेष्ठ ! अपने कुलकी सात पीढ़ियोंका भी वह उद्धार कर देता है । जो नैमिषमें उपवासपूर्वक प्राणत्याग करता है, वह सब लोकोंमें आनन्दका अनुभव करता है; ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है । नृपश्रेष्ठ ! नैमिषतीर्थ नित्य, पवित्र और पुण्यजनक है ॥६३-६४ ॥

गङ्गोद्भेदं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
वाजपेयमवाप्नोति ब्रह्मभूतो भवेत् सदा ॥६५॥

गङ्गोद्भेदतीर्थमें जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और सदाके लिये ब्रह्मीभूत हो जाता है ॥ ६५ ॥

सरस्वतीं समासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
सारस्वतेषु लोकेषु मोदते नात्र संशयः ॥६६॥

सरस्वतीतीर्थमें जाकर देवता और पितरोंका तर्पण करे । इससे तीर्थयात्री सारस्वतलोकोंमें जाकर आनन्दका भागी होता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ६६ ॥

ततश्च बाहुदां गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ॥६७॥
देवसत्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति कौरव ।

तदनन्तर बाहुदा-तीर्थमें जाय और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ एक रात उपवास करे; इससे वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है कुरुनन्दन ! उसे देवसत्र यज्ञका भी फल प्राप्त होता है ॥ ६७½ ॥

ततः क्षीरवतीं गच्छेत् पुण्यां पुण्यतरैर्वृताम् ॥६८॥
पितृदेवार्चनपरो वाजपेयमवाप्नुयात् ।

वहाँसे क्षीरवती नामक पुण्यतीर्थमें जाय, जो अत्यन्त पुण्यात्मा पुरुषोंसे भरी हुई है। वहाँ स्नान करके देवता और पितरोंके पूजनमें लगा हुआ मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता है ॥ ६८½ ॥

विमलाशोकमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥६९॥
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते।

वहीं विमलाशोक नामक उत्तम तीर्थ है, वहाँ जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो एक रात निवास करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ६९½ ॥

गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ॥७०॥
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः।
स च वीरो महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा ॥७१॥

वहाँसे सरयूके उत्तम तीर्थ गोप्रतारमें जाय। महाराज! वहाँ अपने सेवकों, सैनिकों और वाहनोंके साथ गोते लगाकर उस तीर्थके प्रभावसे वे वीर श्रीरामचन्द्रजी अपने नित्यधामको पधारे थे ॥ ७०-७१ ॥

रामस्य च प्रसादेन व्यवसायाच्च भारत।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिप ॥७२॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते।

भरतनन्दन! नरेश्वर! उस सरयूके गोप्रतारतीर्थमें स्नान करके मनुष्य श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा और उद्योगसे सब पापोंसे शुद्ध होकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ७२½

रामतीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्यां कुरुनन्दन ॥७३॥
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः।

कुरुनन्दन! गोमतीके रामतीर्थमें स्नान करके मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ७३½ ॥

शतसाहस्रकं तीर्थं तत्रैव भरतर्षभ ॥७४॥
तत्रोपस्पर्शनं कृत्वा नियतो नियताशनः।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नोति भरतर्षभ ॥७५॥

भरतकुलभूषण! वहीं शतसाहस्रकतीर्थ है। उसमें स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए मनुष्य सहस्र गोदानका पुण्यफल प्राप्त करता है ॥ ७४-७५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम्।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥७६॥

राजेन्द्र! वहाँसे परम उत्तम भर्तृस्थानको जाय। वहाँ जानेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा अर्चयित्वा गुहं नृप।
गोसहस्रफलं विद्यात् तेजस्वी च भवेन्नरः ॥७७॥

राजन्! मनुष्य कोटितीर्थमें स्नान करके कार्तिकेयजीका पूजन करनेसे सहस्र गोदानका फल पाता और तेजस्वी होता है ॥ ७७ ॥

ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम्।
कपिलाह्रदे नरः स्नात्वा राजसूयमवाप्नुयात् ॥७८॥

तदनन्तर वाराणसी (काशी)तीर्थमें जाकर भगवान् शङ्करकी पूजा करे और कपिलाह्रदमें गोता लगाये; इससे मनुष्यको राजसूययज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।
दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥७९॥
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः।

कुरुश्रेष्ठ! अविमुक्त तीर्थमें जाकर तीर्थसेवी मनुष्य देवदेव महादेवजीका दर्शनमात्र करके ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है। वहीं प्राणोत्सर्ग करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ७९½ ॥

मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ॥८०॥
गोमतीगङ्गयोश्चैव संगमे लोकविश्रुते।
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥८१॥

राजेन्द्र! गोमती और गङ्गाके लोकविख्यात संगमके समीप मार्कण्डेयजीका दुर्लभ तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ८०-८१ ॥

ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥८२॥

तदनन्तर गयातीर्थमें जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ८२ ॥

तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
तत्र दत्तं पितृभ्यस्तु भवत्यक्षयमुच्यते ॥८३॥

वहाँ तीनों लोकोंमें विख्यात अक्षयवट है। उनके समीप पितरोंके लिये दिया हुआ सब कुछ अक्षय बताया जाता है ॥ ८३ ॥

महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत् पितृदेवताः।
अक्षयान् प्राप्नुयाल्लोकान् कुलं चैव समुद्धरेत् ॥८४॥

महानदीमें स्नान करके जो देवताओं और पितरोंका तर्पण करता है, वह अक्षय लोकोंको प्राप्त होता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ८४ ॥

ततो ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम्।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति प्रभातामेव शर्वरीम् ॥८५॥

तदनन्तर धर्मारण्यसे सुशोभित ब्रह्मसरोवरकी यात्रा करके वहाँ एक रात प्रातःकालतक निवास करनेसे मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ॥ ८५ ॥

ब्रह्मणा तत्र सरसि यूपश्रेष्ठः समुच्छ्रितः।
यूपं प्रदक्षिणं कृत्वा वाजपेयफलं लभेत् ॥८६॥

ब्रह्माजीने उस सरोवरमें एक श्रेष्ठ यूपकी स्थापना की थी। उसकी परिक्रमा करनेसे मानव वाजपेययज्ञका फल पा लेता है ॥ ८६ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकं लोकविश्रुतम्।
एकरात्रोषितो राजन् प्रयच्छेत् तिलधेनुकाम् ॥८७॥
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं व्रजेद् ध्रुवम्।

राजेन्द्र! वहाँसे लोकविख्यात धेनुतीर्थमें जाय। महाराज! वहाँ एक रात रहकर तिलकी गौका दान करे*। इससे तीर्थयात्री पुरुष सब पापोंसे शुद्धचित्त हो निश्चय ही सोमलोकमें जाता है ॥ ८७½ ॥

तत्र चिह्नं महद् राजन्नद्यापि सुमहद् भृशम् ॥८८॥
कपिलायाः सवत्सायाश्चरन्त्याः पर्वते कृतम्।
सवत्सायाः पदानि स्म दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥८९॥

राजन्! वहाँ एक पर्वतपर चरनेवाली बछड़ेसहित कपिला गौका विशाल चरणचिह्न आज भी अङ्कित है। भरतनन्दन! बछड़ेसहित उस गौके चरणचिह्न आज भी वहाँ देखे जाते हैं ॥ ८८-८९ ॥

तेषूपस्पृश्य राजेन्द्र पदेषु नृपसत्तम।
यत् किंचिदशुभं कर्म तत् प्रणश्यति भारत ॥९०॥

भारत! नृपश्रेष्ठ! राजेन्द्र! उन चरणचिह्नोंका स्पर्श करके मनुष्यका जो कुछ भी अशुभ कर्म शेष रहता है, वह सब नष्ट हो जाता है ॥ ९० ॥

ततो गृध्रवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः।
स्नायीत भस्मना तत्र अभिगम्य वृषध्वजम् ॥९१॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् महादेवजीके गृध्रवट नामक स्थानकी यात्रा करे और वहाँ भगवान् शङ्करके समीप जाकर भस्मसे स्नान करे (अपने शरीरमें भस्म लगाये) ॥ ९१ ॥

ब्राह्मणेन भवेच्चीर्णं व्रतं द्वादशवार्षिकम्।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वपापं प्रणश्यति ॥९२॥

वहाँ यात्रा करनेसे ब्राह्मणको बारह वर्षोंतक व्रतके पालन करनेका फल प्राप्त होता है और अन्य वर्णके लोगोंके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ९२ ॥

उद्यन्तं च ततो गच्छेत् पर्वतं गीतनादितम्।
सावित्र्यास्तु पदं तत्र दृश्यते भरतर्षभ ॥९३॥

भरतकुलभूषण! तदनन्तर संगीतकी ध्वनिसे गूँजते हुए उदयगिरिपर जाय। वहाँ सावित्रीका चरणचिह्न आज भी दिखायी देता है ॥ ९३ ॥

तत्र संध्यामुपासीत ब्राह्मणः संशितव्रतः।
तेन ह्युपास्ता भवति संध्या द्वादशवार्षिकी ॥९४॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण वहाँ संध्योपासना करे। इससे उसके द्वारा बारह वर्षोंतककी संध्योपासना सम्पन्न हो जाती है ॥ ९४ ॥

योनिद्वारं च तत्रैव विश्रुतं भरतर्षभ।
तत्राभिगम्य मुच्येत पुरुषो योनिसंकटात् ॥९५॥

भरतश्रेष्ठ! वहीं विख्यात योनिद्वारतीर्थ है, जहाँ जाकर मनुष्य योनिसंकटसे मुक्त हो जाता है—उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ९५ ॥

कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः।
पुनात्यासप्तमं राजन् कुलं नास्त्यत्र संशयः ॥९६॥

राजन्! जो मानव कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें गयातीर्थमें निवास करता है, वह अपने कुलकी सातवीं पीढ़ीतकको पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९६ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥९७॥

बहुत-से पुत्रोंकी इच्छा करे। सम्भव है, उनमेंसे एक भी गयामें जाय या अश्वमेधयज्ञ करे अथवा नील वृषका उत्सर्ग ही करे ॥ ९७ ॥

ततः फल्गुं व्रजेद् राजंस्तीर्थसेवी नराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति सिद्धिं च महतीं व्रजेत् ॥९८॥

राजन्! नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी मानव फल्गुतीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है और बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ९८ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धर्मप्रस्थं समाहितः।
तत्र धर्मो महाराज नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥९९॥

महाराज! तदनन्तर एकाग्रचित्त हो मनुष्य धर्मप्रस्थकी यात्रा करे। युधिष्ठिर! वहाँ धर्मराजका नित्य निवास है ॥ ९९ ॥

तत्र कूपोदकं कृत्वा तेन स्नातः शुचिस्तथा।
पितॄन् देवांस्तु संतर्प्य मुक्तपापो दिवं व्रजेत् ॥१००॥

वहाँ कुएँका जल लेकर उससे स्नान करके पवित्र हो देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यके सारे पाप छूट जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १०० ॥

मतङ्गस्याश्रमस्तत्र महर्षेर्भावितात्मनः।
तं प्रविश्याश्रमं श्रीमच्छ्रमशोकविनाशनम् ॥१०१॥
गवामयनयज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः।
धर्मं तत्राभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥१०२॥

वहीं भावितात्मा महर्षि मतङ्गका आश्रम है। श्रम और शोकका विनाश करनेवाले उस सुन्दर आश्रममें प्रवेश करनेसे मनुष्य गवायनयज्ञका फल पाता है। वहाँ धर्मके निकट जा उनके श्रीविग्रहका दर्शन और स्पर्श करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १०१—१०२ ॥

* तिलोंसे गौकी आकृति बनाकर उसका दान करे।

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम्।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र ब्रह्माणं पुरुषर्षभ ॥१०३॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः।

राजेन्द्र ! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मस्थानको जाय। महाराज ! पुरुषोत्तम ! वहाँ ब्रह्माजीके समीप जाकर मनुष्य राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका फल पाता है ॥ १०३½ ॥

ततो राजगृहं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ॥१०४॥
उपस्पृश्य ततस्तत्र कक्षीवानिव मोदते।
यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुषः शुचिः ॥१०५॥
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते ब्रह्महत्यया।

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य राजगृहको जाय। वहाँ स्नान करके वह कक्षीवान्‌के समान प्रसन्न होता है। उस तीर्थमें पवित्र होकर पुरुष यक्षिणीदेवीका नैवेद्य भक्षण करे। यक्षिणीके प्रसादसे वह ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है ॥ १०४-१०५½ ॥

मणिनागं ततो गत्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०६॥

तदनन्तर मणिनागतीर्थमें जाकर तीर्थयात्री सहस्र गोदानका फल प्राप्त करे ॥ १०६ ॥

तैर्थिकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य भारत।
दष्टस्याशीविषेणापि न तस्य क्रमते विषम् ॥१०७॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्।

भरतनन्दन ! जो मणिनागका तीर्थप्रसाद (नैवेद्य, चरणामृत आदि) का भक्षण करता है, उसे साँप काट ले तो भी उसपर विषका असर नहीं होता। वहाँ एक रात रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १०७½ ॥

ततो गच्छेत ब्रह्मर्षेर्गौतमस्य वनं प्रियम् ॥१०८॥
अहल्याया ह्रदे स्नात्वा व्रजेत परमां गतिम्।
अभिगम्याश्रमं राजन् विन्दते श्रियमात्मनः ॥१०९॥

तत्पश्चात् ब्रह्मर्षि गौतमके प्रिय वनकी यात्रा करे। वहाँ अहल्याकुण्डमें स्नान करनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है। राजन् ! गौतमके आश्रममें जाकर मनुष्य अपने लिये लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है ॥ १०८-१०९ ॥

तत्रोदपानं धर्मज्ञ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥११०॥

धर्मज्ञ ! वहाँ एक त्रिभुवनविख्यात कूप है, जिसमें स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ११० ॥

जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥१११॥

राजर्षि जनकका एक कूप है, जिसका देवता भी सम्मान करते हैं। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य विष्णुलोकमें जाता है ॥ १११ ॥

ततो विनशनं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम्।
वाजपेयमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥११२॥

तत्पश्चात् सब पापोंसे छुड़ानेवाले विनशन तीर्थको जाय, जिससे मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और सोमलोकको जाता है ॥ ११२ ॥

गण्डकीं तु समासाद्य सर्वतीर्थजलोद्भवाम्।
वाजपेयमवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥११३॥

गण्डकी नदी सब तीर्थोंके जलसे उत्पन्न हुई है। वहाँ जाकर तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और सूर्यलोकमें जाता है ॥ ११३ ॥

ततो विशल्यामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम्।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥११४॥

तत्पश्चात् त्रिलोकीमें विख्यात विशल्या नदीके तटपर जाकर स्नान करे। इससे वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ११४ ॥

ततोऽधिवङ्गं धर्मज्ञ समाविश्य तपोवनम्।
गुह्यकेषु महाराज मोदते नात्र संशयः ॥११५॥

धर्मज्ञ महाराज ! तदनन्तर वङ्गदेशीय तपोवनमें प्रवेश करके तीर्थयात्री इस शरीरके अन्तमें गुह्यकलोकमें जाकर निःसंदेह आनन्दका भागी होता है ॥ ११५ ॥

कम्पनां तु समासाद्य नदीं सिद्धनिषेविताम्।
पुण्डरीकमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥११६॥

तत्पश्चात् सिद्धसेवित कम्पना नदीमें पहुँचकर मनुष्य पुण्डरीकयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥११६॥

अथ माहेश्वरीं धारां समासाद्य धराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥११७॥

राजन् ! तत्पश्चात् माहेश्वरी धाराकी यात्रा करनेसे तीर्थयात्रीको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ११७ ॥

दिवौकसां पुष्करिणीं समासाद्य नराधिप।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजिमेधं च विन्दति ॥११८॥

नरेश्वर ! फिर देवपुष्करिणीमें जाकर मानव कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥

अथ सोमपदं गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः।
माहेश्वरपदे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥११९॥

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो सोमपद तीर्थमें जाय। वहाँ माहेश्वरपदमें स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ११९ ॥

तत्र कोटिस्तु तीर्थानां विश्रुता भरतर्षभ।
कूर्मरूपेण राजेन्द्र ह्यसुरेण दुरात्मना ॥१२०॥
ह्रियमाणा हृता राजन् विष्णुना प्रभविष्णुना।
तत्राभिषेकं कुर्वीत तीर्थकोट्यां युधिष्ठिर ॥१२१॥
पुण्डरीकमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति।

भरतकुलतिलक ! वहाँ तीर्थोंकी विख्यात श्रेणीको एक

दुरात्मा असुर कूर्मरूप धारण करके हरकर लिये जाता था। राजन्! यह देख सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने उस तीर्थश्रेणीका उद्धार किया। युधिष्ठिर! वहाँ उस तीर्थकोटिमें स्नान करना चाहिये। ऐसा करनेवाले यात्रीको पुण्डरीक यज्ञका फल मिलता है और वह विष्णुलोकको जाता है ॥ १२०-१२१½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र स्थानं नारायणस्य च ॥१२२॥
सदा संनिहितो यत्र विष्णुर्वसति भारत।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१२३॥
आदित्या वसवो रुद्रा जनार्दनमुपासते।
शालग्राम इति ख्यातो विष्णुरद्भुतकर्मकः ॥१२४॥

राजेन्द्र! तदनन्तर नारायण स्थानको जाय। भरतनन्दन! वहाँ भगवान् विष्णु सदा निवास करते हैं। ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, आदित्य, वसु तथा रुद्र भी वहाँ रहकर जनार्दनकी उपासना करते हैं। उस तीर्थमें अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णु शालग्रामके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥

अभिगम्य त्रिलोकेशं वरदं विष्णुमव्ययम्।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥१२५॥

तीनों लोकोंके स्वामी उन वरदायक अविनाशी भगवान् विष्णुके समीप जाकर मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता और विष्णुलोकमें जाता है ॥ १२५ ॥

तत्रोदपानं धर्मज्ञ सर्वपापप्रमोचनम्।
समुद्रास्तत्र चत्वारः कूपे संनिहिताः सदा ॥१२६॥

धर्मज्ञ! वहाँ एक कूप है, जो सब पापोंको दूर करनेवाला है। उसमें सदा चारों समुद्र निवास करते हैं ॥ १२६ ॥

तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र न दुर्गतिमवाप्नुयात्।
अभिगम्य महादेवं वरदं रुद्रमव्ययम् ॥१२७॥
विराजति यथा सोमो मेघैर्मुक्तो नराधिप।
जातिस्मरमुपस्पृश्य शुचिः प्रयतमानसः ॥१२८॥

राजेन्द्र! उसमें निवास करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। सबको वर देनेवाले अविनाशी महादेव रुद्रके समीप जाकर मनुष्य मेघोंके आवरणसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित होता है। नरेश्वर! वहीं जातिस्मर तीर्थ है; जिसमें स्नान करके मनुष्य पवित्र एवं शुद्धचित्त हो जाता है। अर्थात् उसके शरीर और मनकी शुद्धि हो जाती है ॥१२७-१२८॥

जातिस्मरत्वमाप्नोति स्नात्वा तत्र न संशयः।
माहेश्वरपुरं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ॥१२९॥
ईप्सिताल्लँभते कामानुपवासान्न संशयः।
ततस्तु वामनं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम् ॥१३०॥
अभिगम्य हरिं देवं न दुर्गतिमवाप्नुयात्।
कुशिकस्याश्रमं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम् ॥१३१॥

उस तीर्थमें स्नान करनेसे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है, इसमें संशय नहीं है। माहेश्वरपुरमें जाकर भगवान् शङ्करकी पूजा और उपवास करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। तत्पश्चात् सब पापोंको दूर करनेवाले वामनतीर्थकी यात्रा करके भगवान् श्रीहरिके निकट जाय। उनका दर्शन करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। इसके बाद सब पापोंसे छुड़ानेवाले कुशिकाश्रमकी यात्रा करे ॥ १२९–१३१ ॥

कौशिकीं तत्र गच्छेत महापापप्रणाशिनीम्।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥१३२॥

वहीं बड़े-बड़े पापोंका नाश करनेवाली कौशिकी (कोशी) नदी है। उसके तटपर जाकर स्नान करे। ऐसा करनेवाला मानव राजसूययज्ञका फल पाता है ॥ १३२ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र चम्पकारण्यमुत्तमम्।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥१३३॥

राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम चम्पकारण्य (चम्पारन) की यात्रा करे। वहाँ एक रात निवास करनेसे तीर्थयात्रीको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १३३ ॥

अथ ज्येष्ठिलमासाद्य तीर्थं परमदुर्लभम्।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥१३४॥

तत्पश्चात् परम दुर्लभ ज्येष्ठिल तीर्थमें जाकर एक रात निवास करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ॥१३४॥

तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम्।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ॥१३५॥
त्रिरात्रोपोषितस्तत्र अग्निष्टोमफलं लभेत्।

पुरुषरत्न! वहाँ पार्वतीदेवीके साथ महातेजस्वी भगवान् विश्वेश्वरका दर्शन करनेसे तीर्थयात्रीको मित्र और वरुण-देवताके लोकोंकी प्राप्ति होती है वहाँ तीन रात उपवास करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥ १३५½ ॥

कन्यासंवेद्यमासाद्य नियतो नियताशनः ॥१३६॥
मनोः प्रजापतेर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ।
कन्यायां ये प्रयच्छन्ति दानमण्वपि भारत ॥१३७॥
तदक्षय्यमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः।

पुरुषश्रेष्ठ! इसके बाद नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए तीर्थयात्रीको कन्यासंवेद्य नामक तीर्थमें जाना चाहिये। इससे वह प्रजापति मनुके लोक प्राप्त कर लेता है। भरतनन्दन! जो लोग कन्यासंवेद्य तीर्थमें थोड़ा-सा भी दान देते हैं, उनके उस दानको उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि अक्षय बताते हैं ॥ १३६–१३७½ ॥

निश्चीरां च समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥१३८॥
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति।
ये तु दानं प्रयच्छन्ति निश्चीरासंगमे नराः ॥१३९॥
ते यान्ति नरशार्दूल शक्रलोकमनामयम्।
तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥१४०॥

तदनन्तर त्रिलोकविख्यात निश्चीरा नदीकी यात्रा करे। इससे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है और तीर्थयात्री पुरुष भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। नरश्रेष्ठ! जो मानव निश्चीरासंगममें दान देते हैं, वे रोग-शोकसे रहित इन्द्रलोकमें जाते हैं। वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात वसिष्ठ-आश्रम है॥

तत्राभिषेकं कुर्वाणो वाजपेयमवाप्नुयात्।
देवकूटं समासाद्य ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥१४१॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्।

वहाँ स्नान करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता है। तदनन्तर ब्रह्मर्षियोंसे सेवित देवकूट तीर्थमें जाकर स्नान करे। ऐसा करनेवाला पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है॥ १४१½॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र कौशिकस्य मुनेर्ह्रदम् ॥१४२॥
यत्र सिद्धिं परां प्राप्तो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः।
तत्र मासं वसेद् वीर कौशिक्यां भरतर्षभ ॥१४३॥

राजेन्द्र! तत्पश्चात् कौशिक मुनिके कुण्डमें स्नानके लिये जाय जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्रने उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। वीर! भरतकुलभूषण! उस तीर्थमें कौशिकी नदीके तटपर एक मासतक निवास करे॥ १४२-१४३॥

अश्वमेधस्य यत् पुण्यं तन्मासेनाधिगच्छति।
सर्वतीर्थवरे चैव यो वसेत महाह्रदे ॥१४४॥
न दुर्गतिमवाप्नोति विन्देद् बहु सुवर्णकम्।

ऐसा करनेसे एक मासमें ही अश्वमेधयज्ञका पुण्यफल प्राप्त हो जाता है। जो सब तीर्थोंमें उत्तम महाह्रदमें स्नान करता है, वह कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता और प्रचुर सुवर्णराशि प्राप्त कर लेता है॥ १४४½॥

कुमारमभिगम्याथ वीराश्रमनिवासिनम् ॥१४५॥
अश्वमेधमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः।

तदनन्तर वीराश्रमनिवासी कुमार कार्तिकेयके निकट जाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है॥ १४५½॥

अग्निधारां समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥१४६॥
तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात्।

अग्निधारातीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात है। वहाँ जाकर स्नान करनेवाला पुरुष अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है॥१४६½॥

अधिगम्य महादेवं वरदं विष्णुमव्ययम् ॥१४७॥

वहाँ वर देनेवाले महान् देवता अविनाशी भगवान् विष्णुके निकट जाकर उनका दर्शन और पूजन करे॥१४७॥

पितामहसरो गत्वा शैलराजसमीपतः।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ॥१४८॥

गिरिराज हिमालयके निकट पितामहसरोवरमें जाकर स्नान करनेवाले पुरुषको अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है॥

पितामहस्य सरसः प्रस्रुता लोकपावनी।
कुमारधारा तत्रैव त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥१४९॥

पितामहसरोवरसे सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करनेवाली एक धारा प्रवाहित होती है, जो तीनों लोकोंमें कुमारधाराके नामसे विख्यात है॥ १४९॥

यत्र स्नात्वा कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमवगच्छति।
षष्ठकालोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥१५०॥

उसमें स्नान करके मनुष्य अपने आपको कृतार्थ मानने लगता है। वहाँ रहकर छठे समय उपवास करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्यासे छुटकारा पा जाता है॥ १५०॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थसेवनतत्परः।
शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥१५१॥

धर्मज्ञ! तदनन्तर तीर्थसेवनमें तत्पर मानव महादेवी गौरीके शिखरपर जाय, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है॥१५१॥

समारुह्य नरश्रेष्ठ स्तनकुण्डेषु संविशेत्।
स्तनकुण्डमुपस्पृश्य वाजपेयफलं लभेत् ॥१५२॥

नरश्रेष्ठ! उस शिखरपर चढ़कर मानव स्तनकुण्डमें स्नान करे। स्तनकुण्डमें अवगाहन करनेसे वाजपेययज्ञका फल प्राप्त होता है॥ १५२॥

तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः।
हयमेधमवाप्नोति शक्रलोकं च गच्छति ॥१५३॥

उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करनेवाला पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और इन्द्रलोकमें पूजित होता है॥ १५३॥

ताम्रारुणं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥१५४॥

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो ताम्रारुण-तीर्थकी यात्रा करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और ब्रह्मलोकमें जाता है॥ १५४॥

नन्दिन्यां च समासाद्य कूपं देवनिषेवितम्।
नरमेधस्य यत् पुण्यं तदाप्नोति नराधिप ॥१५५॥

नन्दिनीतीर्थमें देवताओंद्वारा सेवित एक कूप है। नरेश्वर! वहाँ जाकर स्नान करनेसे मानव नरमेधयज्ञका पुण्यफल प्राप्त करता है॥ १५५॥

कालिकासंगमे स्नात्वा कौशिक्यरुणयोर्गतः ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१५६॥

राजन् ! कौशिकी-अरुणा-संगम और कालिका-संगममें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १५६ ॥

उर्वशीतीर्थमासाद्य ततः सोमाश्रमं बुधः ।
कुम्भकर्णाश्रमं गत्वा पूज्यते भुवि मानवः ॥१५७॥

तदनन्तर उर्वशीतीर्थ, सोमाश्रम और कुम्भकर्णाश्रमकी यात्रा करके मनुष्य इस भूतलपर पूजित होता है ॥ १५७ ॥

कोकामुखमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी यतव्रतः ।
जातिस्मरत्वमाप्नोति दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥१५८॥

कोकामुखतीर्थमें स्नान करके ब्रह्मचर्य एवं संयम-नियमका पालन करनेवाला पुरुष पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। यह बात प्राचीन पुरुषोंने प्रत्यक्ष देखी है ॥ १५८ ॥

प्राङ्नदीं च समासाद्य कृतात्मा भवति द्विजः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शक्रलोकं च गच्छति ॥१५९॥

प्राङ्नदी तीर्थमें जानेसे द्विज कृतार्थ हो जाता है । वह सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर इन्द्रलोकमें जाता है ॥ १५९॥

ऋषभद्वीपमासाद्य मेध्यं क्रौञ्चनिषूदनम् ।
सरस्वत्यामुपस्पृश्य विमानस्थो विराजते ॥१६०॥

तीर्थसेवी मनुष्य पवित्र ऋषभद्वीप और क्रौञ्चनिषूदन-तीर्थमें जाकर सरस्वतीमें स्नान करनेसे विमानपर विराजमान होता है ॥ १६० ॥

औद्दालकं महाराज तीर्थं मुनिनिषेवितम् ।
तत्राभिषेकं कृत्वा वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१६१॥

महाराज ! मुनियोंसे सेवित औद्दालकतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १६१ ॥

धर्मतीर्थं समासाद्य पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।
वाजपेयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते ॥१६२॥

परम पवित्र ब्रह्मर्षिसेवित धर्मतीर्थमें जाकर स्नान करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और विमानपर बैठकर पूजित होता है ॥ १६२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यकी तीर्थयात्रासे सम्बन्ध रखनेवाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

गङ्गासागर, अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग आदि विभिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन और गङ्गाका माहात्म्य

पुलस्त्य उवाच

अथ संध्यां समासाद्य संवेद्यं तीर्थमुत्तमम् ।
उपस्पृश्य नरो विद्यां लभते नात्र संशयः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी कहते हैं—भीष्म ! तदनन्तर प्रातःसंध्याके समय उत्तम संवेद्यतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य विद्यालाभ करता है; इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

रामस्य च प्रभावेण तीर्थं राजन् कृतं पुरा ।
तल्लौहित्यं समासाद्य विन्द्याद् बहु सुवर्णकम् ॥ २ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें श्रीरामके प्रभावसे जो तीर्थ प्रकट हुआ, उसका नाम लौहित्यतीर्थ है। उसमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको बहुत-सी सुवर्णराशि प्राप्त होती है ॥ २ ॥

करतोयां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति प्रजापतिकृतो विधिः ॥ ३ ॥

करतोयामें जाकर स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता है। यह ब्रह्माजीद्वारा की हुई व्यवस्था है ॥ ३ ॥

गङ्गायास्तत्र राजेन्द्र सागरस्य च संगमे ।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४ ॥

राजेन्द्र ! वहाँ गङ्गासागरसंगममें स्नान करनेसे दस अश्वमेध-यज्ञोंके फलकी प्राप्ति होती है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥

गङ्गायास्त्वपरं पारं प्राप्य यः स्नाति मानवः ।
त्रिरात्रमुषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

राजन् ! जो मानव गङ्गासागरसंगममें गङ्गाके दूसरे पार पहुँचकर स्नान करता है और तीन रात वहाँ निवास करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ५ ॥

ततो वैतरणीं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनीम् ।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी ॥ ६ ॥

तदनन्तर सब पापोंसे छुड़ानेवाली वैतरणीकी यात्रा करे। वहाँ विरजतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

प्रतरेच्च कुलं पुण्यं सर्वपापं व्यपोहति ।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नरः ॥ ७ ॥

उसका पुण्यमय कुल संसारसागरसे तर जाता है। वह अपने सब पापोंका नाश कर देता है और सहस्र गोदानका फल प्राप्त करके अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ७ ॥

शोणस्य ज्योतिरथ्यायाः संगमे नियतः शुचिः ।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ८ ॥

शोण और ज्योतिरथ्याके संगममें स्नान करके जितेन्द्रिय एवं पवित्र पुरुष यदि देवताओं और पितरोंका तर्पण करे तो वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ ८ ॥

शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभवे कुरुनन्दन ।
वंशगुल्म उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन ! शोण और नर्मदाके उत्पत्तिस्थान वंशगुल्मतीर्थमें स्नान करके तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ९ ॥

ऋषभं तीर्थमासाद्य कोसलायां नराधिप ।
वाजपेयमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥१०॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात् कुलं चैव समुद्धरेत् ।

नरेश्वर ! कोसला (अयोध्या) में ऋषभतीर्थमें जाकर स्नानपूर्वक तीन रात उपवास करनेवाला मानव वाजपेय यज्ञका फल पाता है इतना ही नहीं, वह सहस्र गोदानका फल पाता और अपने कुलका भी उद्धार कर देता है ॥ १०½ ॥

कोसलां तु समासाद्य कालतीर्थमुपस्पृशेत् ॥११॥
वृषभैकादशफलं लभते नात्र संशयः ।
पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥१२॥
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नृप ।

कोसला नगरी (अयोध्या) में जाकर कालतीर्थमें स्नान करे ऐसा करनेसे ग्यारह वृषभ-दानका फल मिलता है, इसमें संशय नहीं है। पुष्पवतीमें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ११-१२½ ॥

ततो बदरिकातीर्थे स्नात्वा भरतसत्तम ॥१३॥
दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।

भरतकुलभूषण ! तदनन्तर बदरिकातीर्थमें स्नान करके मनुष्य दीर्घायु पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १३½ ॥

अथ चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ॥१४॥
दण्डाख्यमभिगम्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ।

तत्पश्चात् चम्पामें जाकर भागीरथीमें तर्पण करे और दण्ड-नामक तीर्थमें जाकर सहस्र गोदानका फल प्राप्त करे ॥१४½॥

लपेटिकां ततो गच्छेत् पुण्यां पुण्योपशोभिताम् ॥१५॥
वाजपेयमवाप्नोति देवैः सर्वैश्च पूज्यते ।

तदनन्तर पुण्यशोभिता पुण्यमयी लपेटिकामें जाकर स्नान करे। ऐसा करनेसे तीर्थयात्री वाजपेययज्ञका फल पाता और सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित होता है ॥ १५½ ॥

ततो महेन्द्रमासाद्य जामदग्न्यनिषेवितम् ॥१६॥
रामतीर्थे नरः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ।

इसके बाद परशुरामसेवित महेन्द्रपर्वतपर जाकर वहाँके रामतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ १६½ ॥

मतङ्गस्य तु केदारस्तत्रैव कुरुनन्दन ॥१७॥
तत्र स्नात्वा कुरुश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ।

कुरुश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! वहीं मतङ्गका केदार है, उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥१७½॥

श्रीपर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत् ॥१८॥
अश्वमेधमवाप्नोति पूजयित्वा वृषध्वजम् ।

श्रीपर्वतपर जाकर वहाँकी नदीके तटपर स्नान करे। वहाँ भगवान् शङ्करकी पूजा करके मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १८½ ॥

श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः ॥१९॥
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह ।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥२०॥
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति ।
ऋषभं पर्वतं गत्वा पाण्ड्ये दैवतपूजितम् ।
वाजपेयमवाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते ॥२१॥

श्रीपर्वतपर देवी पार्वतीके साथ महातेजस्वी महादेवजी बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं। देवताओंके साथ ब्रह्माजी भी वहाँ रहते हैं। वहाँ देवकुण्डमें स्नान करके पवित्र हो जितात्मा पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और परम सिद्धि लाभ करता है। पाण्ड्यदेशमें देवपूजित ऋषभ पर्वतपर जाकर तीर्थयात्री वाजपेययज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें आनन्दित होता है ॥ १९–२१ ॥

ततो गच्छेत कावेरीं वृतामप्सरसां गणैः ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ॥२२॥

राजन् ! तदनन्तर अप्सराओंसे आवृत कावेरीनदीकी यात्रा करे। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ २२ ॥

ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थमुपस्पृशेत् ।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२३॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् समुद्रके तटपर विद्यमान कन्यातीर्थ (कन्याकुमारी) में जाकर स्नान करे। उस तीर्थमें स्नान करनेसे ही मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम् ॥२४॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
भूतयक्षपिशाचाश्च किंनराः समहोरगाः ॥२५॥
सिद्धचारणगन्धर्वमानुषाः पन्नगास्तथा।
सरितः सागराः शैला उपासन्त उमापतिम् ॥२६॥

महाराज ! इसके बाद समुद्रके मध्यमें विद्यमान त्रिभुवन-विख्यात अखिल लोकवन्दित गोकर्णतीर्थमें जाकर स्नान करे। जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन महर्षि, भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, महानाग, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मनुष्य, सर्प, नदी, समुद्र और पर्वत—ये सभी उमावल्लभ भगवान् शंकरकी उपासना करते हैं ॥ २४–२६ ॥

तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः।
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ॥२७॥

वहाँ भगवान् शिवकी पूजा करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और गणपति-पद प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

उष्य द्वादशरात्रं तु पूतात्मा च भवेन्नरः।
तत एव च गायत्र्याः स्थानं त्रैलोक्यपूजितम् ॥२८॥

वहाँ बारह रात निवास करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। वहीं गायत्रीका त्रिलोकपूजित स्थान है ॥ २८॥

त्रिरात्रमुषितस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत्।
निदर्शनं च प्रत्यक्षं ब्राह्मणानां नराधिप ॥२९॥

वहाँ तीन रात निवास करनेवाला पुरुष सहस्र गोदान-का फल प्राप्त करता है। नरेश्वर ! ब्राह्मणोंकी पहचानके लिये वहाँ प्रत्यक्ष उदाहरण है ॥ २९ ॥

गायत्रीं पठते यस्तु योनिसंकरजस्तथा।
गाथा च गाथिका चापि तस्य सम्पद्यते नृप ॥३०॥

राजन् ! जो वर्णसंकर योनिमें उत्पन्न हुआ है, वह यदि गायत्रीमन्त्रका पाठ करता है, तो उसके मुखसे वह गाथा या गीतकी तरह स्वर और वर्णोंके नियमसे रहित होकर निकलती है अर्थात् वह गायत्रीका उच्चारण ठीक नहीं कर सकता ॥३०॥

अब्राह्मणस्य सावित्रीं पठतस्तु प्रणश्यति।

जो सर्वथा ब्राह्मण नहीं है, ऐसा मनुष्य यदि वहाँ गायत्रीमन्त्रका पाठ करे तो वहाँ वह मन्त्र लुप्त हो जाता है अर्थात् उसे भूल जाता है ॥ ३०½ ॥

संवर्तस्य तु विप्रर्षेर्वापीमासाद्य दुर्लभाम् ॥३१॥
रूपस्य भागी भवति सुभगश्च प्रजायते।

राजन् ! वहाँ ब्रह्मर्षि संवर्तकी दुर्लभ बावली है। उसमें स्नान करके मनुष्य सुन्दर रूपका भागी और सौभाग्यशाली होता है। ३१½।

ततो वेणां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥३२॥
मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः।

तदनन्तर वेणा नदीके तटपर जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य (मृत्युके पश्चात्) मोर और हंसोंसे जुता हुआ विमानको प्राप्त करता है ॥ ३२½ ॥

ततो गोदावरीं प्राप्य नित्यं सिद्धनिषेविताम् ॥३३॥
गवां मेधमवाप्नोति वासुकेर्लोकमुत्तमम्।
वेणायाः संगमे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥३४॥

तत्पश्चात् सदा सिद्ध पुरुषोंसे सेवित गोदावरीके तटपर जाकर स्नान करनेसे तीर्थयात्री गोमेधयज्ञका फल पाता और वासुकिके लोकमें जाता है। वेणासंगममें स्नान करके मनुष्य अश्वमेधके फलका भागी होता है ॥ ३३-३४ ॥

वरदासंगमे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्।
ब्रह्मस्थानं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ३५ ॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात् स्वर्गलोकं च गच्छति।

वरदासंगमतीर्थमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है। ब्रह्मस्थानमें जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है।

कुशप्लवनमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ३६ ॥
त्रिरात्रमुषितः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत्।

कुशप्लवनतीर्थमें जाकर स्नान करके ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात निवास करनेवाला पुरुष अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ३६½ ॥

ततो देवह्रदेऽरण्ये कृष्णवेणाजलोद्भवे ॥ ३७ ॥
जातिस्मरह्रदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः।

तदनन्तर कृष्णवेणाके जलसे उत्पन्न हुए रमणीय देवकुण्डमें, जिसे जातिस्मर ह्रद कहते हैं, स्नान करे। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य जातिस्मर (पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेकी शक्ति-वाला) होता है ॥ ३७½ ॥

यत्र क्रतुशतैरिष्ट्वा देवराजो दिवं गतः ॥ ३८ ॥
अग्निष्टोमफलं विन्द्याद् गमनादेव भारत।
सर्वदेवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३९ ॥

वहीं सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवराज इन्द्र स्वर्गके सिंहासनपर आसीन हुए थे। भरतनन्दन ! वहाँ जानेमात्रसे यात्री अग्निष्टोमयज्ञका फल पा लेता है। तत्पश्चात् सर्वदेवह्रदमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ३८-३९ ॥

ततो वापीं महापुण्यां पयोष्णीं सरितां वराम्।
पितृदेवार्चनरतो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ४० ॥

तदनन्तर परम पुण्यमयी वापी और सरिताओंमें श्रेष्ठ पयोष्णीमें जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंके

पूजनमें तत्पर रहे, ऐसा करनेसे तीर्थसेवीको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ४० ॥

दण्डकारण्यमासाद्य पुण्यं राजन्नुपस्पृशेत् ।
गोसहस्रफलं तस्य स्नातमात्रस्य भारत ॥ ४१ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! जो दण्डकारण्यमें जाकर स्नान करता है, उसे स्नान करनेमात्रसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

शरभङ्गाश्रमं गत्वा शुकस्य च महात्मनः ।
न दुर्गतिमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ॥ ४२ ॥

शरभङ्ग मुनि तथा महात्मा शुकके आश्रमपर जानेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ४२ ॥

ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम् ।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा विन्द्याद् बहुसुवर्णकम् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर परशुरामसेवित शूर्पारकतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ रामतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः ।
महत् पुण्यमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ॥ ४४ ॥

सप्तगोदावरतीर्थमें स्नान करके नियम-पालनपूर्वक नियमित भोजन करनेवाला पुरुष महान् पुण्यलाभ करता और देवलोकमें जाता है ॥ ४४ ॥

ततो देवपथं गत्वा नियतो नियताशनः ।
देवसत्रस्य यत् पुण्यं तदेवाप्नोति मानवः ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् नियमपालनके साथ-साथ नियमित आहार ग्रहण करनेवाला मानव देवपथमें जाकर देवसत्रका जो पुण्य है, उसे पा लेता है ॥ ४५ ॥

तुङ्गकारण्यमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
वेदानध्यापयत् तत्र ऋषिः सारस्वतः पुरा ॥ ४६ ॥

तुङ्गकारण्यमें जाकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए इन्द्रियोंको अपने वशमें रखे। प्राचीन कालमें वहाँ सारस्वत ऋषिने अन्य ऋषियोंको वेदोंका अध्ययन कराया था ॥ ४६ ॥

तत्र वेदेषु नष्टेषु मुनेरङ्गिरसः सुतः ।
ऋषीणामुत्तरीयेषु सूपविष्टो यथासुखम् ॥ ४७ ॥

एक समय उन ऋषियोंको सारा वेद भूल गया। इस प्रकार वेदोंके नष्ट होने (भूल जाने) पर अङ्गिरा मुनिका पुत्र ऋषियोंके उत्तरीय वस्त्रों (चादरों) में छिपकर सुखपूर्वक बैठ गया (और विधिपूर्वक ॐकारका उच्चारण करने लगा)॥

ओङ्कारेण यथान्यायं सम्यगुच्चारितेन ह ।
येन यत् पूर्वमभ्यस्तं तत् सर्वं समुपस्थितम् ॥ ४८ ॥

नियमके अनुसार ॐकारका ठीक-ठीक उच्चारण होनेपर, जिसने पूर्वकालमें जिस वेदका अध्ययन एवं अभ्यास किया था, उसे वह सब स्मरण हो आया ॥ ४८ ॥

ऋषयस्तत्र देवाश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
हरिर्नारायणस्तत्र महादेवस्तथैव च ॥ ४९ ॥

उस समय वहाँ बहुतसे ऋषि, देवता, वरुण, अग्नि, प्रजापति, भगवान् नारायण और महादेवजी भी उपस्थित हुए॥

पितामहश्च भगवान् देवैः सह महाद्युतिः ।
भृगुं नियोजयामास याजनार्थे महाद्युतिम् ॥ ५० ॥

महातेजस्वी भगवान् ब्रह्माने देवताओंके साथ जाकर परम कान्तिमान् भृगुको यज्ञ करानेके कामपर नियुक्त किया॥

ततः स चक्रे भगवानृषीणां विधिवत् तदा ।
सर्वेषां पुनराधानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ५१ ॥
आज्यभागेन तत्राग्निं तर्पयित्वा यथाविधि ।
देवाः स्वभवनं याता ऋषयश्च यथाक्रमम् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर भगवान् भृगुने वहाँ सब ऋषियोंके यहाँ शास्त्रीय विधिके अनुसार पुनः भलीभाँति अग्निस्थापन कराया। उस समय आज्यभागके द्वारा विधिपूर्वक अग्निको तृप्त करके सब देवता और ऋषि क्रमशः अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ५१-५२ ॥

तदरण्यं प्रविष्टस्य तुङ्गकं राजसत्तम ।
पापं प्रणश्यत्यखिलं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ॥ ५३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस तुङ्गकारण्यमें प्रवेश करते ही स्त्री या पुरुष सबके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

तत्र मासं वसेद् धीरो नियतो नियताशनः ।
ब्रह्मलोकं व्रजेद् राजन् कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ५४ ॥

धीर पुरुषको चाहिये कि वह नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए एक मासतक वहाँ रहे। राजन् ! ऐसा करनेवाला तीर्थयात्री ब्रह्मलोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ५४ ॥

मेधाविकं समासाद्य पितॄन् देवांश्च तर्पयेत् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् मेधाविकतीर्थमें जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करे; ऐसा करनेवाला पुरुष अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और स्मृति एवं बुद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

अत्र कालञ्जरं नाम पर्वतं लोकविश्रुतम् ।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५६ ॥

इस तीर्थमें कालञ्जर नामक लोकविख्यात पर्वत है, वहाँ देवह्रद नामक तीर्थमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ५६ ॥

योऽस्नातः साधयेत् तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप ।
स्वर्गलोके महीयेत नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ५७ ॥

राजन् ! जो कालञ्जर पर्वतपर स्नान करके वहाँ साधन करता है, वह मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ५७ ॥

ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशाम्पते ।
मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ ५८ ॥
तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ५९ ॥

राजन् ! तदनन्तर पर्वतश्रेष्ठ चित्रकूटमें सब पापोंका नाश करनेवाली मन्दाकिनीके तटपर पहुँचकर उसमें स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें लग जाय । इससे वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता और परम गतिको प्राप्त होता है ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
यत्र नित्यं महासेनो गुहः संनिहितो नृप ॥ ६० ॥
तत्र गत्वा नृपश्रेष्ठ गमनादेव सिध्यति ।

धर्मज्ञनरेश ! तत्पश्चात् तीर्थयात्री परम उत्तम भर्तृस्थानकी यात्रा करे, जहाँ महासेन कार्तिकेयजी निवास करते हैं। नृपश्रेष्ठ ! वहाँ जानेमात्रसे सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६०½ ॥

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ६१ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य ज्येष्ठस्थानं व्रजेन्नरः ।
अभिगम्य महादेवं विराजति यथा शशी ॥ ६२ ॥

कोटि-तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है । उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मानव ज्येष्ठस्थानको जाय । वहाँ महादेवजीका दर्शन-पूजन करनेसे वह चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ ६१-६२ ॥

तत्र कूपे महाराज विश्रुता भरतर्षभ ।
समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर ॥ ६३ ॥

भरतकुलभूषण महाराज युधिष्ठिर ! वहाँ एक कूप है, जिसमें चारों समुद्र निवास करते हैं ॥ ६३ ॥

तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र पितृदेवार्चने रतः ।
नियतात्मा नरः पूतो गच्छेत परमां गतिम् ॥ ६४ ॥

राजेन्द्र ! उसमें स्नान करके देवताओं और पितरोंके पूजनमें तत्पर रहनेवाला जितात्मा पुरुष पवित्र हो परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत् ।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा ॥ ६५ ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे महान् शृङ्गवेरपुरकी यात्रा करे । महाराज ! पूर्वकालमें दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने वहीं गङ्गा पार की थी ॥ ६५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाबाहो स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।
गङ्गायां तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६६ ॥
विधूतपाप्मा भवति वाजपेयं च विन्दति ।

महाबाहो ! उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्र हो गङ्गाजीमें स्नान करके मनुष्य पापरहित होता तथा वाजपेययज्ञका फल पाता है ॥ ६६½ ॥

ततो मुञ्जवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः ॥ ६७ ॥
अभिगम्य महादेवमभिवाद्य च भारत ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ ६८ ॥
तस्मिंस्तीर्थे तु जाह्नव्यां स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते।

तदनन्तर तीर्थयात्री परम बुद्धिमान् महादेवजीके मुञ्जवट नामक तीर्थको जाय । भरतनन्दन ! उस तीर्थमें महादेवजीके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके परिक्रमा करनेसे मनुष्य गणपतिपद प्राप्त कर लेता है । उक्त तीर्थमें जाकर गङ्गामें स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है । ॥ ६७-६८½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रयागमृषिसंस्तुतम् ॥ ६९ ॥
तत्र ब्रह्मादयो देवा दिशश्च सदिगीश्वराः ।
लोकपालाश्च साध्याश्च पितरो लोकसम्मताः ॥ ७० ॥
सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः ।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७१ ॥
तथा नागाः सुपर्णाश्च सिद्धाश्चक्रचरास्तथा ।
सरितः सागराश्चैव गन्धर्वाप्सरसोऽपि च ॥ ७२ ॥
हरिश्च भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृतः ।
तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जाह्नवी ॥ ७३ ॥
वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता ।
तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ ७४ ॥
यमुना गङ्गया सार्धं संगता लोकपावनी ।
गङ्गायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम् ॥ ७५ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् महर्षियोंद्वारा प्रशंसित प्रयागतीर्थमें जाय । जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, दिशा, दिक्पाल, लोकपाल, साध्य, लोकसम्मानित पितर, सनत्कुमार आदि महर्षि, अङ्गिरा आदि निर्मल ब्रह्मर्षि, नाग, सुपर्ण, सिद्ध, सूर्य, नदी, समुद्र, गन्धर्व, अप्सरा तथा ब्रह्माजीसहित भगवान् विष्णु निवास करते हैं। वहाँ तीन अग्निकुण्ड हैं, जिनके बीचसे सब तीर्थोंसे सम्पन्न गङ्गा वेगपूर्वक बहती है । त्रिभुवनविख्यात सूर्यपुत्री लोकपावनी यमुनादेवी वहाँ गङ्गाजीके साथ मिली हैं। गङ्गा और यमुनाका मध्यभाग पृथ्वीका जघन माना गया है ॥ ६९–७५ ॥

प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृषयो विदुः ।
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा ॥ ७६ ॥

तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः ।
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर ॥ ७७ ॥
प्रजापतिमुपासन्ते ऋषयश्च तपोधनाः ।
यजन्ते क्रतुभिर्देवास्तथा चक्रधरा नृपाः ॥ ७८ ॥
ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत ।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्यधिकं विभो ॥ ७९ ॥
गमनात् तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्युकालभयाच्चापि नरः पापात् प्रमुच्यते ॥ ८० ॥

ऋषियोंने प्रयागको जघनस्थानीय उपस्थ बताया है। प्रतिष्ठानपुर (झूसी) सहित प्रयाग, कम्बल और अश्वतर नाग तथा भोगवतीतीर्थ यह ब्रह्माजीकी वेदी है। युधिष्ठिर ! उस तीर्थमें वेद और यज्ञ मूर्तिमान् होकर रहते हैं और प्रजापतिकी उपासना करते हैं । तपोधन ऋषि, देवता तथा चक्रधर नृपतिगण वहाँ यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करते हैं। भरतनन्दन ! इसीलिये तीनों लोकोंमें प्रयागको सब तीर्थोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ एवं पुण्यतम बताते हैं। उस तीर्थमें जानेसे अथवा उसका नाम लेनेमात्रसे भी मनुष्य मृत्युकालके भय और पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ७६—८० ॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात् संगमे लोकविश्रुते ।
पुण्यं स फलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८१ ॥

वहाँके विश्वविख्यात संगममें जो स्नान करता है, वह राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका पुण्यफल प्राप्त कर लेता है ॥

एषा यजनभूमिर्हि देवानामभिसंस्कृता ।
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद् भवति भारत ॥ ८२ ॥

भरतनन्दन ! यह देवताओंकी संस्कार की हुई यज्ञभूमि है। यहाँ दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् होता है ॥

न वेदवचनात् तात न लोकवचनादपि ।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ॥ ८३ ॥

तात ! तुम्हें किसी वैदिक वचनसे या लौकिक वचनसे भी प्रयागमें मरनेका विचार नहीं त्यागना चाहिये ॥ ८३ ॥

दश तीर्थसहस्राणि षष्टिः कोट्यस्तथापराः ।
येषां सांनिध्यमत्रैव कीर्तितं कुरुनन्दन ॥ ८४ ॥
चतुर्विद्ये च यत् पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत् ।
स्नात एव तदाप्नोति गङ्गायमुनसंगमे ॥ ८५ ॥

कुरुनन्दन ! साठ करोड़ दस हजार तीर्थोंका निवास केवल इस प्रयागमें ही बताया गया है। चारों विद्याओंके ज्ञानसे जो पुण्य होता है तथा सत्य बोलनेवाले व्यक्तियोंको जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, वह सब गङ्गा-यमुनाके संगममें स्नान करनेमात्रसे प्राप्त हो जाता है ॥ ८४-८५ ॥

तत्र भोगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ ८६ ॥

प्रयागमें भोगवती नामसे प्रसिद्ध वासुकि नागका उत्तम तीर्थ है। जो वहाँ स्नान करता है, उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ८६ ॥

तत्र हंसप्रपतनं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
दशाश्वमेधिकं चैव गङ्गायां कुरुनन्दन ॥ ८७ ॥

कुरुनन्दन ! वहीं त्रिलोकविख्यात हंसप्रपतन नामक तीर्थ है और गङ्गाके तटपर दशाश्वमेधिक तीर्थ है ॥ ८७ ॥

कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहिता ।
विशेषो वै कनखले प्रयागे परमं महत् ॥ ८८ ॥

गङ्गामें जहाँ कहीं भी स्नान किया जाय, वह कुरुक्षेत्रके समान पुण्यदायिनी है । कनखलमें गङ्गाका स्नान विशेष माहात्म्य रखता है और प्रयागमें गङ्गा-स्नानका माहात्म्य सबकी अपेक्षा बहुत अधिक है ॥ ८८ ॥

यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गाभिषेचनम् ।
सर्वं तत् तस्य गङ्गाम्भो दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ ८९ ॥
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम् ।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता ॥ ९० ॥
पुष्करे तु तपस्तप्येद् दानं दद्यान्महालये ।
मलये त्वग्निमारोहेद् भृगुतुङ्गे त्वनाशनम् ॥ ९१ ॥

जैसे अग्नि ईंधनको जला देती है, उसी प्रकार सैकड़ों निषिद्ध कर्म करके भी यदि गङ्गास्नान किया जाय तो उसका जल उन सब पापोंको भस्म कर देता है। सत्ययुगमें सभी तीर्थ पुण्यदायक होते हैं । त्रेतामें पुष्करका महत्त्व है। द्वापरमें कुरुक्षेत्र विशेष पुण्यदायक है और कलियुगमें गङ्गाकी अधिक महिमा बतायी गयी है। पुष्करमें तप करे, महालयमें दान दे, मलय पर्वतमें अग्निपर आरूढ हो और भृगुतुङ्गमें उपवास करे॥ ८९—९१ ॥

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मध्यमेषु च ।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्तसप्तावरांस्तथा ॥ ९२ ॥

पुष्करमें, कुरुक्षेत्रमें, गङ्गामें तथा प्रयाग आदि मध्यवर्ती तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य अपने आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ॥ ९२ ॥

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति ।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥ ९३ ॥

गङ्गाजीका नाम लिया जाय तो वह सारे पापोंको धो-बहाकर पवित्र कर देती है। दर्शन करनेपर कल्याण प्रदान करती है तथा स्नान और जलपान करनेपर वह मनुष्यकी सात पीढ़ियोंको पावन बना देती है ॥ ९३ ॥

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम् ।
तावत् स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते ॥ ९४ ॥

राजन् ! मनुष्यकी हड्डी जबतक गङ्गाजलका स्पर्श करती है, तबतक वह पुरुष स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ ९४ ॥

यथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
उपास्य पुण्यं लब्ध्वा च भवत्यमरलोकभाक् ॥ ९५ ॥

जितने पुण्य-तीर्थ हैं और जितने पुण्य मन्दिर हैं, उन सबकी उपासना (सेवन) से पुण्यलाभ करके मनुष्य देवलोकका भागी होता है ॥ ९५ ॥

न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात् परः ।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ॥९६॥

गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं, भगवान् विष्णुसे बढ़कर कोई देवता नहीं और ब्राह्मणोंसे उत्तम कोई वर्ण नहीं है; ऐसा ब्रह्माजीका कथन है ॥ ९६ ॥

यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत् तपोवनम् ।
सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम् ॥ ९७ ॥

महाराज ! जहाँ गङ्गा बहती हैं, वही उत्तम देश है और वही तपोवन है । गङ्गाके तटवर्ती स्थानको सिद्धिक्षेत्र समझना चाहिये ॥ ९७ ॥

इदं सत्यं द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य च ।
सुहृदां च जपेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ॥ ९८ ॥

इस सत्य सिद्धान्तको ब्राह्मण आदि द्विजों, साधु पुरुषों, पुत्र, सुहृदों, शिष्यवर्ग तथा अपने अनुगत मनुष्योंके कानमें कहना चाहिये ॥ ९८ ॥

इदं धन्यमिदं मेध्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
इदं पुण्यमिदं रम्यं पावनं धर्म्यमुत्तमम् ॥ ९९ ॥

यह गङ्गा-माहात्म्य धन्य, पवित्र, स्वर्गप्रद और परम उत्तम है । यह पुण्यदायक, रमणीय, पावन, उत्तम, धर्मसंगत और श्रेष्ठ है ॥ ९९ ॥

महर्षीणामिदं गुह्यं सर्वपापप्रमोचनम् ।
अधीत्य द्विजमध्ये च निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥१००॥

यह महर्षियोंका गोपनीय रहस्य है । सब पापोंका नाश करनेवाला है । द्विजमण्डलीमें इस गङ्गा-माहात्म्यका पाठ करके मनुष्य निर्मल हो स्वर्गलोकमें पहुँच जाता है ॥ १०० ॥

श्रीमत् स्वर्ग्यं तथा पुण्यं सपत्नशमनं शिवम् ।
मेधाजननमग्र्यं वै तीर्थवंशानुकीर्तनम् ॥१०१॥

यह तीर्थसमूहोंकी महिमाका वर्णन परम उत्तम, सम्पत्तिदायक, स्वर्गप्रद, पुण्यकारक, शत्रुओंका निवारण करनेवाला, कल्याणकारक तथा मेधाशक्तिको उत्पन्न करनेवाला है ॥

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमाप्नुयात् ।
महीं विजयते राजा वैश्यो धनमवाप्नुयात् ॥१०२॥

इस तीर्थ-माहात्म्यका पाठ करनेसे पुत्रहीनको पुत्र प्राप्त होता है, धनहीनको धन मिलता है, राजा इस पृथ्वीपर विजय पाता है और वैश्यको व्यापारमें धन मिलता है ॥

शूद्रो यथेप्सितान् कामान् ब्राह्मणः पारगः पठन् ।
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं तीर्थपुण्यं नरः शुचिः ॥१०३॥
जातीः स स्मरते बह्वीर्नाकपृष्ठे च मोदते ।
गम्यान्यपि च तीर्थानि कीर्तितान्यगमानि च ॥१०४॥

शूद्र मनोवाञ्छित वस्तुएँ पाता है और ब्राह्मण इसका पाठ करे तो वह समस्त शास्त्रोंका पारंगत विद्वान् होता है। जो मनुष्य तीर्थोंके इस पुण्य माहात्म्यको प्रतिदिन सुनता है, वह पवित्र हो पहलेके अनेक जन्मोंकी बातें याद कर लेता है और देहत्यागके पश्चात् स्वर्गलोकमें आनन्दका अनुभव करता है । भीष्म ! मैंने यहाँ गम्य और अगम्य सभी प्रकारके तीर्थोंका वर्णन किया है ॥ १०३-१०४ ॥

मनसा तानि गच्छेत सर्वतीर्थसमीक्षया ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ॥१०५॥
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च स्नातानि सुकृतैषिभिः ।
एवं त्वमपि कौरव्य विधिनानेन सुव्रत ॥१०६॥
व्रज तीर्थानि नियतः पुण्यं पुण्येन वर्धयन् ।
भावितैः करणैः पूर्वमास्तिक्याच्छ्रुतिदर्शनात् ॥१०७॥
प्राप्यन्ते तानि तीर्थानि सद्भिः शास्त्रानुदर्शिभिः ।
नाव्रती नाकृतात्मा च नाशुचिर्न च तस्करः ॥१०८॥
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ।
त्वया तु सम्यग्वृत्तेन नित्यं धर्मार्थदर्शिना ॥१०९॥
पिता पितामहश्चैव सर्वे च प्रपितामहाः ।
पितामहपुरोगाश्च देवाः सर्षिगणा नृप ॥११०॥
तव धर्मेण धर्मज्ञ नित्यमेवाभितोषिताः ।
अवाप्स्यसि त्वं लोकान् वै वसूनां वासवोपम ।
कीर्तिं च महतीं भीष्म प्राप्स्यसे भुवि शाश्वतीम् ॥१११॥

सम्पूर्ण तीर्थोंके दर्शनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मनुष्य जहाँ जाना सम्भव न हो, उन अगम्य तीर्थोंमें मनसे यात्रा करे अर्थात् मनसे उन तीर्थोंका चिन्तन करे । वसुगण, साध्यगण, आदित्यगण, मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार तथा देवोपम महर्षियोंने भी पुण्य-लाभकी इच्छासे उन तीर्थोंमें स्नान किया है । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुरुनन्दन ! इसी प्रकार तुम भी विधिपूर्वक शौच-संतोषादि नियमोंका पालन करते और पुण्यसे पुण्यको बढ़ाते हुए उन तीर्थोंकी यात्रा करो । आस्तिकता और वेदोंके अनुशीलनसे पहले अपने इन्द्रियोंको पवित्र करके शास्त्रज्ञ साधु पुरुष ही उन तीर्थोंको प्राप्त करते हैं । कुरुनन्दन ! जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन नहीं करता, जिसने अपने चित्तको वशमें नहीं किया, जो अपवित्र आचार-विचारवाला और चोर है, जिसकी बुद्धि वक्र है, ऐसा मनुष्य श्रद्धा न होनेके कारण तीर्थोंमें स्नान नहीं

करता । तुम धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा नित्य सदाचारमें तत्पर रहनेवाले हो । धर्मज्ञ ! तुमने पिता-पितामह-प्रपितामह, ब्रह्मा आदि देवता तथा महर्षिगण इन सबको सदा स्वधर्म-पालनसे संतुष्ट किया है, अतः इन्द्रके समान तेजस्वी नरेश ! तुम वसुओंके लोकमें जाओगे । भीष्म ! तुम्हें इस पृथ्वीपर विशाल एवं अक्षय कीर्ति प्राप्त होगी ॥ १०५–१११ ॥

नारद उवाच

एवमुक्त्वाभ्यनुज्ञाय पुलस्त्यो भगवानृषिः ।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तत्रैवान्तरधीयत ॥११२॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर भीष्मजीकी अनुमति ले संतुष्ट हुए भगवान् पुलस्त्य मुनि प्रसन्न मनसे वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ११२ ॥

भीष्मश्च कुरुशार्दूल शास्त्रतत्त्वार्थदर्शिवान् ।
पुलस्त्यवचनाच्चैव पृथिवीं परिचक्रमे ॥११३॥

कुरुश्रेष्ठ ! शास्त्रके तात्त्विक अर्थको जाननेवाले भीष्मने महर्षि पुलस्त्यके वचनसे (तीर्थयात्राके लिये) सारी पृथ्वीकी परिक्रमा की ॥ ११३ ॥

एवमेषा महाभाग प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठिता ।
तीर्थयात्रा महापुण्या सर्वपापप्रमोचनी ॥११४॥

महाभाग ! इस प्रकार यह सब पापोंको दूर करनेवाली महापुण्यमयी तीर्थयात्रा प्रतिष्ठानपुर (प्रयागमें) प्रतिष्ठित है ॥ ११४ ॥

अनेन विधिना यस्तु पृथिवीं संचरिष्यति ।
अश्वमेधशतस्याग्र्यं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यति ॥११५॥

जो इस विधिसे (तीर्थयात्राके उद्देश्यसे) सारी पृथ्वी-की परिक्रमा करेगा, वह सौ अश्वमेधयज्ञोंसे भी उत्तम पुण्य-फल पाकर देहत्यागके पश्चात् उसका उपभोग करेगा ॥११५॥

ततश्चाष्टगुणं पार्थ प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ।
भीष्मः कुरूणां प्रवरो यथापूर्वमवाप्तवान् ॥११६॥

कुन्तीनन्दन ! कुरुप्रवर भीष्मने पहले जिस प्रकार तीर्थयात्राजनित पुण्य प्राप्त किया था, उससे भी आठगुने उत्तम धर्मकी उपलब्धि तुम्हें होगी ॥ ११६ ॥

नेता च त्वमृषीन् यस्मात् तेन तेऽष्टगुणं फलम् ।
रक्षोगणविकीर्णानि तीर्थान्येतानि भारत ।
न गतानि मनुष्येन्द्रैस्त्वामृते कुरुनन्दन ॥११७॥

तुम अपने साथ इन सब ऋषियोंको ले जाओगे, इसीलिये तुम्हें आठगुना पुण्यफल प्राप्त होगा । भरतकुल-भूषण कुरुनन्दन ! इन सभी तीर्थोंमें राक्षसोंके समुदाय फैले हुए हैं । तुम्हारे सिवा, दूसरे नरेशोंने वहाँकी यात्रा नहीं की है ॥ ११७ ॥

इदं देवर्षिचरितं सर्वतीर्थाभिसंवृतम् ।
यः पठेत् कल्यमुत्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥११८॥

जो मनुष्य सबेरे उठकर देवर्षि पुलस्त्यद्वारा वर्णित सम्पूर्ण तीर्थोंके माहात्म्यसे संयुक्त इस प्रसंगका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ११८ ॥

ऋषिमुख्याः सदा यत्र वाल्मीकिस्त्वथ कश्यपः ।
आत्रेयः कुण्डजठरो विश्वामित्रोऽथ गौतमः ॥११९॥
असितो देवलश्चैव मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजो वसिष्ठश्च मुनिरुद्दालकस्तथा ॥१२०॥
शौनकः सह पुत्रेण व्यासश्च तपतां वरः ।
दुर्वासाश्च मुनिश्रेष्ठो जाबालिश्च महातपाः ॥१२१॥
एते ऋषिवराः सर्वे त्वत्प्रतीक्षास्तपोधनाः ।
एभिः सह महाराज तीर्थान्येतान्यनुव्रज ॥१२२॥

महाराज ! ऋषिप्रवर वाल्मीकि, कश्यप, आत्रेय, कुण्डजठर, विश्वामित्र, गौतम, असित, देवल, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, वसिष्ठ, उद्दालक मुनि, शौनक तथा पुत्रसहित तपोधनप्रवर व्यास, मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा और महातपस्वी जाबालि—ये सभी महर्षि, जो तपस्याके धनी हैं, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । इन सबके साथ उक्त तीर्थोंमें जाओ ॥ ११९–१२२॥

एष ते लोमशो नाम महर्षिरमितद्युतिः ।
समेष्यति महाराज तेन सार्धमनुव्रज ॥१२३॥

महाराज ! ये अमिततेजस्वी महर्षि लोमश तुम्हारे पास आनेवाले हैं, उन्हें साथ लेकर यात्रा करो ॥ १२३ ॥

मयापि सह धर्मज्ञ तीर्थान्येतान्यनुक्रमात् ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं यथा राजा महाभिषः ॥१२४॥

धर्मज्ञ ! इस यात्रामें मैं भी तुम्हारा साथ दूँगा । प्राचीन राजा महाभिषके समान तुम भी क्रमशः इन तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए महान् यश प्राप्त करोगे ॥ १२४ ॥

यथा ययातिर्धर्मात्मा यथा राजा पुरूरवाः ।
तथा त्वं राजशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे ॥१२५॥
यथा भगीरथो राजा यथा रामश्च विश्रुतः ।
तथा त्वं सर्वराजभ्यो भ्राजसे रश्मिवानिव ॥१२६॥

नृपश्रेष्ठ ! जैसे धर्मात्मा ययाति तथा राजा पुरूरवा थे वैसे ही तुम भी अपने धर्मसे सुशोभित हो रहे हो । जैसे राजा भगीरथ तथा विख्यात महाराज श्रीराम हो गये हैं, उसी प्रकार तुम भी सूर्यकी भाँति सब राजाओंसे अधिक शोभा पा रहे हो ॥ १२५-१२६ ॥

यथा मनुर्यथेक्ष्वाकुर्यथा पूरुर्महायशाः ।
यथा वैन्यो महाराज तथा त्वमपि विश्रुतः ॥१२७॥
यथा च वृत्रहा सर्वान् सपत्नान् निर्दहन् पुरा ।
त्रैलोक्यं पालयामास देवराड् विगतज्वरः ॥१२८॥

तथा शत्रुक्षयं कृत्वा त्वं प्रजाः पालयिष्यसि ।
स्वधर्मविजितामुर्वीं प्राप्य राजीवलोचन ॥ १२९ ॥
ख्यातिं यास्यसि धर्मेण कार्तवीर्यार्जुनो यथा ॥ १३० ॥

महाराज ! जैसे मनु, जैसे इक्ष्वाकु, जैसे महायशस्वी पूरु और जैसे वेननन्दन पृथु हो गये हैं, वैसी ही तुम्हारी भी ख्याति है । पूर्वकालमें वृत्रासुरविनाशक देवराज इन्द्रने जैसे सब शत्रुओंका संहार करते हुए निश्चिन्त होकर तीनों लोकोंका पालन किया था, उसी प्रकार तुम भी शत्रुओंका नाश करके प्रजाका पालन करोगे । कमलनयन नरेश ! तुम अपने धर्मसे जीती हुई पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त करके स्वधर्मपालनद्वारा कार्तवीर्य अर्जुनके समान विख्यात होओगे ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वास्य राजानं नारदो भगवानृषिः ।
अनुज्ञाप्य महाराज तत्रैवान्तरधीयत ॥ १३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! देवर्षि नारद इस प्रकार राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देकर उनकी आज्ञा ले वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १३१ ॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
तीर्थयात्राश्रितं पुण्यमृषीणां प्रत्यवेदयत् ॥ १३२ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिरने भी इसी विषयका चिन्तन करते हुए अपने पास रहनेवाले महर्षियोंसे तीर्थयात्रासम्बन्धी महान् पुण्यके विषयमें निवेदन किया ॥ १३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां नारदवाक्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें महर्षि पुलस्त्यकी तीर्थयात्राके सम्बन्धमें नारदवाक्यविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धौम्य मुनिसे पुण्य तपोवन, आश्रम एवं नदी आदिके विषयमें पूछना

वैशम्पायन उवाच

भ्रातॄणां मतमाज्ञाय नारदस्य च धीमतः ।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने भाइयों तथा परम बुद्धिमान् देवर्षि नारदकी सम्मति जानकर राजा युधिष्ठिरने पितामहके समान प्रभावशाली पुरोहित धौम्यजीसे कहा—॥ १ ॥

मया स पुरुषव्याघ्रो जिष्णुः सत्यपराक्रमः ।
अस्त्रहेतोर्महाबाहुरमितात्मा विवासितः ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने अस्त्रप्राप्तिके लिये विजयी सत्यपराक्रमी, महामना एवं प्रतापी पुरुषसिंह महाबाहु अर्जुनको निर्वासित कर रखा है ॥

स हि वीरोऽनुरक्तश्च समर्थश्च तपोधनः ।
कृती च भृशमप्यस्त्रे वासुदेव इव प्रभुः ॥ ३ ॥

'वह वीर मुझमें अनुराग रखनेवाला, सामर्थ्यशाली, तपस्याका धनी, पुण्यात्मा और अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति प्रभावशाली है ॥ ३ ॥

अहं ह्येतावुभौ ब्रह्मन् कृष्णावरिविघातिनौ ।
अभिजानामि विक्रान्तौ तथा व्यासः प्रतापवान् ॥ ४ ॥

'विप्रवर ! मैं इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंको शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ और महापराक्रमी समझता हूँ । महाप्रतापी वेदव्यासजीकी भी यही धारणा है ॥ ४ ॥

त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनंजयौ ।
नारदोऽपि तथा वेद योऽप्यशंसत् सदा मम ॥ ५ ॥

'कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन तीन युगोंसे सदा साथ रहते आये हैं । नारदजी भी इन दोनोंको इसी रूपमें जानते हैं और सदा मुझसे इस बातकी चर्चा करते रहते हैं ॥ ५ ॥

तथाहमपि जानामि नरनारायणावृषी ।
शक्तोऽयमित्यतो मत्वा मया स प्रेषितोऽर्जुनः ॥ ६ ॥
इन्द्रादनवरः शक्रं सुरसूनुः सुराधिपम् ।
द्रष्टुमस्त्राणि चादातुमिन्द्रादिति विवासितः ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणावतिरथौ कृपो द्रौणिश्च दुर्जयः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण वृता युधि महारथाः ॥ ८ ॥

'मैं भी ऐसा ही समझता हूँ कि श्रीकृष्ण और अर्जुन सुप्रसिद्ध नर-नारायण ऋषि हैं । अर्जुनको शक्तिशाली समझकर ही मैंने उसे दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये भेजा है । देवपुत्र अर्जुन इन्द्रसे कम नहीं हैं । यह जानकर ही मैंने उसे देवराज इन्द्रका दर्शन करने और उनसे दिव्यास्त्रोंको प्राप्त करनेके लिये भेजा है । भीष्म और द्रोण अतिरथी वीर हैं । कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाको भी जीतना कठिन है । धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनने इन सभी महारथियोंको युद्धके लिये वरण कर लिया है ॥ ६–८ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वास्त्रविदुषस्तथा ।
योद्धुकामाश्च पार्थेन सततं ये महाबलाः ।
स च दिव्यास्त्रवित् कर्णः सूतपुत्रो महारथः ॥ ९ ॥

'वे सब-के-सब वेदज्ञ, शूरवीर, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता,

महाबली और सदा अर्जुनके साथ युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं। वह सूतपुत्र महारथी कर्ण भी दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता है ॥ ९ ॥

योऽस्त्रवेगानिलबलः शरार्चिस्तलनिःस्वनः ।
रजोधूमोऽस्त्रसम्पातो धार्तराष्ट्रानिलोद्धतः ॥ १० ॥
निसृष्ट इव कालेन युगान्ते ज्वलनो महान् ।
मम सैन्यमयं कक्षं प्रधक्ष्यति न संशयः ॥ ११ ॥

'कालने उसे प्रलयकालीन संवर्तक नामक महान् अग्निके समान उत्पन्न किया है। अस्त्रोंका वेग ही उसका वायुतुल्य बल है। बाण ही उसकी ज्वाला हैं। हथेलीसे होनेवाली आवाज़ ही उस दाहक अग्निका शब्द है। युद्धमें उठनेवाली धूल ही उस कर्णरूपी अग्निका धूम है। अस्त्रोंकी वर्षा ही उसकी लपटोंका लगना है। धृतराष्ट्रपुत्ररूपी वायुका सहारा पाकर वह और भी उद्धत एवं प्रज्वलित हो उठा है। इसमें संदेह नहीं कि वह मेरी सेनाको सूखे तिनकोंकी राशिके समान भस्म कर डालेगा ॥ १०-११ ॥

तं स कृष्णानिलोद्धूतो दिव्यास्त्रज्वलनो महान् ।
श्वेतवाजिबलाकाभृद् गाण्डीवेन्द्रायुधोल्बणः ॥ १२ ॥
संरब्धः शरधाराभिः सुदीप्तं कर्णपावकम् ।
अर्जुनोदीरितो मेघः शमयिष्यति संयुगे ॥ १३ ॥
स साक्षादेव सर्वाणि शक्रात् परपुरंजयः ।
दिव्यान्यस्त्राणि बीभत्सुस्ततश्च प्रतिपत्स्यते ॥ १४ ॥

'उस आगको युद्धमें अर्जुननामक महामेघ ही बुझा सकेगा। श्रीकृष्णरूपी वायुका सहारा पाकर ही वह मेघ उठेगा। दिव्यास्त्रोंका प्रकाश ही उसमें बिजलीकी चमक होगी। रथके श्वेत घोड़े ही उसके निकट उड़नेवाली बकपंक्तियोंकी भाँति सुशोभित होंगे। गाण्डीव धनुष ही इन्द्रधनुषके समान दुःसह दृश्य उपस्थित करनेवाला होगा। वह क्रोधमें भरकर बाणरूपी जलकी धारासे कर्णरूपी प्रज्वलित अग्निको निश्चय ही शान्त कर देगा। शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाला अर्जुन साक्षात् इन्द्रसे सारे दिव्यास्त्र प्राप्त करेगा ॥

अलं स तेषां सर्वेषामिति मे धीयते मतिः ।
नास्ति त्वतिकृतार्थानां रणेऽरीणां प्रतिक्रिया ॥ १५ ॥

'धृतराष्ट्र-पक्षके उक्त सभी महारथियोंको जीतनेके लिये वह अकेला ही पर्याप्त होगा; ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अन्यथा अत्यन्त कृतार्थताका अनुभव करनेवाले शत्रुओंको दबानेका और कोई उपाय नहीं है ॥ १५ ॥

ते वयं पाण्डवं सर्वे गृहीतास्त्रमरिंदमम् ।
द्रष्टारो न हि बीभत्सुर्भारमुद्यम्य सीदति ॥ १६ ॥

'अतः हम शत्रुहन्ता पाण्डुनन्दन अर्जुनको अवश्य ही सब दिव्यास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके आया हुआ देखेंगे; क्योंकि वह वीर किसी कार्य-भारको उठाकर उसे पूर्ण किये बिना कभी श्रान्त नहीं होता ॥ १६ ॥

वयं तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन् द्विपदां वर ।
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया ॥ १७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इस काम्यकवनमें वीर अर्जुनके बिना द्रौपदीसहित हम सब पाण्डवोंका मन बिल्कुल नहीं लग रहा है ॥

भवानन्यद् वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि ।
आख्यातु रमणीयं च सेवितं पुण्यकर्मभिः ॥ १८ ॥

'इसलिये आप हमें किसी ऐसे रमणीय वनका पता बतायें जो बहुत अच्छा, पवित्र, प्रचुर अन्न और फलसे सम्पन्न तथा पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा सेवित हो ॥ १८ ॥

यत्र कंचिद् वयं कालं वसन्तः सत्यविक्रमम् ।
प्रतीक्षामोऽर्जुनं वीरं वृष्टिकामा इवाम्बुदम् ॥ १९ ॥

'जहाँ हमलोग कुछ काल रहकर सत्यपराक्रमी वीर अर्जुनके आगमनकी उसी प्रकार प्रतीक्षा करें, जैसे वृष्टिकी इच्छा रखनेवाले किसान बादलोंकी राह देखते हैं ॥ १९ ॥

विविधानाश्रमान् कांश्चिद् द्विजातिभ्यः प्रतिश्रुतान् ।
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान् ॥ २० ॥
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन् रोचते तमृतेऽर्जुनम् ।
वनेऽस्मिन् काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति ॥

'ब्रह्मन् ! आप दूसरे ब्राह्मणोंसे सुने हुए नाना प्रकारके कतिपय आश्रमों, सरोवरों, सरिताओं तथा रमणीय पर्वतोंका पता बताइये। अर्जुनके बिना अब काम्यकवनमें रहना हमें अच्छा नहीं लगता; इसलिये अब दूसरी दिशाको चलेंगे' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यकी तीर्थयात्राविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा पूर्वदिशाके तीर्थोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

तान् सर्वानुत्सुकान् दृष्ट्वा पाण्डवान् दीनचेतसः ।
आश्वासयंस्तथा धौम्यो बृहस्पतिसमोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
ब्राह्मणानुमतान् पुण्यानाश्रमान् भरतर्षभ ।
दिशस्तीर्थानि शैलांश्च शृणु मे वदतोऽनघ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंका

चित्त अर्जुनके लिये अत्यन्त दीन हो रहा था। वे सब-के-सब उनसे मिलनेको उत्सुक थे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर बृहस्पतिके समान तेजस्वी महर्षि धौम्यने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'पापरहित भरतकुलभूषण! ब्राह्मणलोग जिन्हें आदर देते हैं, उन पुण्य आश्रमों, दिशाओं, तीर्थों और पर्वतोंका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १-२ ॥

याञ्छ्रुत्वा गदतो राजन् विशोको भवितासि ह।
द्रौपद्या चानया सार्धं भ्रातृभिश्च नरेश्वर ॥ ३ ॥

'नरेश्वर! राजन्! मेरे मुखसे उन सबका वर्णन सुनकर तुम द्रौपदी तथा भाइयोंके साथ शोकरहित हो जाओगे ॥३॥

श्रवणाच्चैव तेषां त्वं पुण्यमाप्स्यसि पाण्डव।
गत्वा शतगुणं चैव तेभ्य एव नरोत्तम ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन! उनका श्रवण करनेमात्रसे तुम्हें उनके सेवनका पुण्य प्राप्त होगा और वहाँ जानेसे सौगुने पुण्यकी प्राप्ति होगी ॥ ४ ॥

पूर्वं प्राचीं दिशं राजन् राजर्षिगणसेविताम्।
रम्यां ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथास्मृति ॥ ५ ॥

'महाराज युधिष्ठिर! मैं अपनी स्मरणशक्तिके अनुसार सबसे पहले राजर्षिगणोंद्वारा सेवित रमणीय प्राची दिशाका वर्णन करूँगा ॥ ५ ॥

तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत।
यत्र तीर्थानि देवानां पुण्यानि च पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन! देवर्षिसेवित प्राची दिशामें नैमिष नामक तीर्थ है, जहाँ भिन्न-भिन्न देवताओंके अलग-अलग पुण्यतीर्थ हैं ॥ ६ ॥

यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः ॥ ७ ॥

'जहाँ देवर्षिसेवित परम रमणीय पुण्यमयी गोमती नदी है। देवताओंकी यज्ञभूमि और सूर्यका यज्ञपात्र विद्यमान है ॥

तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः।
शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः ॥ ८ ॥

'प्राची दिशामें ही पुण्यपर्वतश्रेष्ठ गय है, जो राजर्षि गयके द्वारा सम्मानित हुआ है। वहाँ कल्याणमय ब्रह्मसरोवर है, जिसका देवर्षिगण सेवन करते हैं ॥ ८ ॥

यदर्थे पुरुषव्याघ्र कीर्तयन्ति पुरातनाः।
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ॥ ९ ॥
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।
उत्तारयति संतत्या दशपूर्वान् दशावरान् ॥१०॥

'पुरुषसिंह! उस गयाके विषयमें ही प्राचीनलोग यह कहा करते हैं कि 'बहुत-से पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये; सम्भव है, उनमेंसे एक भी गया जाय या अश्वमेध यज्ञ करे अथवा नीलवृषका* उत्सर्ग करे। ऐसा पुरुष अपनी संततिद्वारा दस पहलेकी और दस बादकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है' ॥

महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप।
यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः ॥११॥

'राजन्! वहीं महानदी और गयशीर्ष तीर्थ है, जहाँ ब्राह्मणोंने अक्षयवटकी स्थिति बतायी है जिसके जड़ और शाखा आदि उपकरण कभी नष्ट नहीं होते ॥ ११ ॥

यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गुर्नाम महानदी ॥१२॥
बहुमूलफला चापि कौशिकी भरतर्षभ।
विश्वामित्रोऽध्यगाद् यत्र ब्राह्मणत्वं तपोधनः ॥१३॥

'प्रभो! वहाँ पितरोंके लिये दिया हुआ अन्न अक्षय होता है। भरतश्रेष्ठ! वहीं फल्गु नामवाली पुण्यसलिला महानदी है और वहीं बहुत-से फल-मूलोंवाली कौशिकी नदी प्रवाहित होती है जहाँ तपोधन विश्वामित्र ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए थे ॥ १२-१३ ॥

गङ्गा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः।
अयजत् तत्र बहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥१४॥

'पूर्वदिशामें ही पुण्यनदी गङ्गा बहती है, जिसके तटपर राजा भगीरथने प्रचुर दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ १४ ॥

पञ्चालेषु च कौरव्य कथयन्त्युत्पलावनम्।
विश्वामित्रोऽयजद् यत्र पुत्रेण सह कौशिकः ॥१५॥

'कुरुनन्दन! पञ्चालदेशमें ऋषिलोग उत्पलावन बतलाते हैं, जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्रने अपने पुत्रके साथ यज्ञ किया था ॥ १५ ॥

यत्रानुवंशं भगवाञ्जामदग्न्यस्तथा जगौ।
विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम् ॥१६॥

'उसी यज्ञमें विश्वामित्रका अलौकिक वैभव देखकर जमदग्निनन्दन परशुरामने उनके वंशके अनुरूप यक्षका वर्णन किया था ॥ १६ ॥

कान्यकुब्जेऽपिबत् सोममिन्द्रेण सह कौशिकः।
ततः क्षत्रादपाक्रामद् ब्राह्मणोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥१७॥

'विश्वामित्रजीने कान्यकुब्जदेशमें इन्द्रके साथ सोमपान किया; वहीं वे क्षत्रियत्वसे ऊपर उठ गये और 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह बात घोषित कर दी ॥ १७ ॥

---

* लोहितो यस्तु वर्णेन पुच्छाग्रेण तु पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥

जिसका रंग तो लाल हो पर पूछका अग्रभाग सफेद हो एवं खुर और सींग भी सफेद हों, वह नील वृष कहा जाता है।

पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम् ॥१८॥

'वीरवर ! गङ्गा और यमुनाका परम उत्तम पुण्यमय पवित्र संगम सम्पूर्ण जगत्में विख्यात है और बड़े-बड़े महर्षि उसका सेवन करते हैं ॥ १८ ॥

यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः ।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद् भरतसत्तम ॥१९॥

'जहाँ समस्त प्राणियोंके आत्मा भगवान् ब्रह्माजीने पहले ही यज्ञ किया था । भरतकुलभूषण ! ब्रह्माजीके उस प्रकृष्टयाग-से ही उस स्थानका नाम 'प्रयाग' हो गया ॥ १९ ॥

अगस्त्यस्य तु राजेन्द्र तत्राश्रमवरो नृप ।
तत् तथा तापसारण्यं तापसैरुपशोभितम् ॥२०॥

'राजेन्द्र ! वहाँ महर्षि अगस्त्यका श्रेष्ठ आश्रम है । इसी प्रकार तापसारण्य तपस्वीजनोंसे सुशोभित है ॥ २० ॥

हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे महान् ।
आगस्त्यपर्वतो रम्यः पुण्यो गिरिवरः शिवः ॥२१॥

'कालञ्जर पर्वतपर हिरण्यबिन्दु नामसे प्रसिद्ध महान् तीर्थ बताया गया है । आगस्त्यपर्वत बहुत ही रमणीय, पवित्र, श्रेष्ठ एवं कल्याणस्वरूप है ॥ २१ ॥

महेन्द्रो नाम कौरव्य भार्गवस्य महात्मनः ।
अयजत् तत्र कौन्तेय पूर्वमेव पितामहः ॥२२॥

'कुरुनन्दन ! महात्मा भार्गवका निवासस्थान महेन्द्रपर्वत है । कुन्तीनन्दन ! वहाँ ब्रह्माजीने पूर्वकालमें यज्ञ किया था ॥

यत्र भागीरथी पुण्या सरस्यासीद् युधिष्ठिर ।
यत्र सा ब्रह्मशालेति पुण्या ख्याता विशाम्पते ॥२३॥
धूतपाप्मभिराकीर्णा पुण्यं तस्याश्च दर्शनम् ।

'युधिष्ठिर ! जहाँ पुण्यसलिला भागीरथी गङ्गा सरोवरमें स्थित थी । महाराज ! जहाँपर उन्हें 'ब्रह्मशाला' यह पवित्र नाम दिया गया है । वह पुण्यतीर्थ निष्पाप मनुष्योंसे व्याप्त है; उसका दर्शन पुण्यमय बताया गया है ॥ २३½ ॥

पवित्रो मङ्गलीयश्च ख्यातो लोके महात्मनः ॥२४॥
केदारश्च मतङ्गस्य महानाश्रम उत्तमः ।
कुण्डोदः पर्वतो रम्यो बहुमूलफलोदकः ॥२५॥
नैषधस्तृषितो यत्र जलं शर्म च लब्धवान् ।

'वहीं महात्मा मतंगऋषिका महान् एवं उत्तम आश्रम केदारतीर्थ है । वह परम पवित्र, मङ्गलकारी और लोकमें विख्यात है । कुण्डोद नामक रमणीय पर्वत बहुत फल-मूल और जलसे सम्पन्न है, जहाँ प्यासे हुए निषधनरेशको जल और शान्तिकी उपलब्धि हुई थी ॥ २४-२५½ ॥

यत्र देववनं पुण्यं तापसैरुपशोभितम् ॥२६॥
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि ।

'वहीं तपस्वीजनोंसे सुशोभित पवित्र देववन नामक पुण्य-क्षेत्र है, जहाँ पर्वतके शिखरपर बाहुदा और नन्दा नदी बहती हैं ॥२६½॥

तीर्थानि सरितः शैलाः पुण्यान्यायतनानि च ॥२७॥
प्राच्यां दिशि महाराज कीर्तितानि मया तव ।
तिसृष्वन्यानि पुण्यानि दिक्षु तीर्थानि मे शृणु ।
सरितः पर्वतांश्चैव पुण्यान्यायतनानि च ॥२८॥

'महाराज ! पूर्वदिशामें जो बहुत-से तीर्थ, नदियाँ, पर्वत और पुण्यमन्दिर आदि हैं, उनका मैंने तुमसे (संक्षेपमें) वर्णन किया है । अब शेष तीन दिशाओंके सरिताओं, पर्वतों और पुण्यस्थानोंका वर्णन करता हूँ, सुनो' ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

धौम्यमुनिके द्वारा दक्षिणदिशावर्ती तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

दक्षिणस्यां तु पुण्यानि शृणु तीर्थानि भारत ।
विस्तरेण यथाबुद्धि कीर्त्यमानानि तानि वै ॥ १ ॥

धौम्यजी कहते हैं—भरतवंशी युधिष्ठिर ! अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार दक्षिणदिशावर्ती पुण्यतीर्थोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी ।
बह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शिवा ॥ २ ॥

दक्षिणमें पुण्यमयी गोदावरी नदी बहुत प्रसिद्ध है, जिसके तटपर अनेक बगीचे सुशोभित हैं । उसके भीतर अगाध जल भरा हुआ है । बहुत-से तपस्वी उसका सेवन करते हैं तथा वह सबके लिये कल्याणस्वरूपा है ॥ २ ॥

वेणा भीमरथी चैव नद्यौ पापभयापहे ।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते ॥ ३ ॥

वेणा और भीमरथी—ये दो नदियाँ भी दक्षिणमें ही हैं, जो समस्त पापभयका नाश करनेवाली हैं । उसके दोनों तट

अनेक प्रकारके पशु-पक्षियोंसे व्याप्त और तपस्वीजनोंके आश्रमोंसे विभूषित हैं ॥ ३ ॥

राजर्षेस्तस्य च सरिन्नृगस्य भरतर्षभ।
रम्यतीर्था बहुजला पयोष्णी द्विजसेविता ॥ ४ ॥

भरतकुलभूषण ! राजा नृगकी नदी पयोष्णी भी उधर ही है, जो रमणीय तीर्थों और अगाध जलसे सुशोभित है। द्विज उसका सेवन करते हैं ॥ ४ ॥

अपि चात्र महायोगी मार्कण्डेयो महायशाः।
अनुवंश्यां जगौ गाथां नृगस्य धरणीपतेः ॥ ५ ॥
नृगस्य यजमानस्य प्रत्यक्षमिति नः श्रुतम्।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ॥ ६ ॥
पयोष्ण्यां यजमानस्य वाराहे तीर्थ उत्तमे।
उद्धृतं भूतलस्थं वा वायुना समुदीरितम्।
पयोष्ण्या हरते तोयं पापमामरणान्तिकम् ॥ ७ ॥

इस विषयमें हमारे सुननेमें आया है कि महायोगी एवं महायशस्वी मार्कण्डेयने यजमान राजा नृगके सामने उनके वंशके योग्य यज्ञगाथाका वर्णन इस प्रकार किया था—'पयोष्णीके तटपर उत्तम वाराहतीर्थमें यज्ञ करनेवाले राजा नृगके यज्ञमें इन्द्र सोमपान करके मस्त हो गये थे और प्रचुर दक्षिणा पाकर ब्राह्मणलोग भी हर्षोल्लाससे पूर्ण हो गये थे।' पयोष्णीका जल हाथसे उठाया गया हो या धरतीपर पड़ा हो अथवा वायुके वेगसे उछलकर अपने ऊपर पड़ गया हो, वह जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त किये हुए समस्त पापोंको हर लेता है ॥ ५—७ ॥

स्वर्गादुत्तुङ्गममलं विषाणं यत्र शूलिनः।
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यः शिवपुरं व्रजेत् ॥ ८ ॥

जहाँ भगवान् शङ्करका स्वयं ही अपने लिये बनाया हुआ शृंगनामक वाद्यविशेष स्वर्गसे भी ऊँचा और निर्मल है, उसका दर्शन करके मरणधर्मा मानव शिवधाममें चला जाता है ॥ ८ ॥

एकतः सरितः सर्वा गङ्गाद्याः सलिलोच्चयाः।
पयोष्णी चैकतः पुण्या तीर्थेभ्यो हि मता मम ॥ ९ ॥

एक ओर अगाध जलराशिसे भरी हुई गङ्गा आदि सम्पूर्ण नदियाँ हों और दूसरी ओर केवल पुण्यसलिला पयोष्णी नदी हो तो वही अन्य सब नदियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; ऐसा मेरा विचार है ॥ ९ ॥

माठरस्य वनं पुण्यं बहुमूलफलं शिवम्।
यूपश्च भरतश्रेष्ठ वरुणस्रोतसे गिरौ ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! दक्षिणमें पवित्र माठर-वन है, जो प्रचुर फल-मूलसे सम्पन्न और कल्याणस्वरूप है। वहाँ वरुणस्रोतस नामक पर्वतपर माठर (सूर्यके पार्श्ववर्ती देवता) का विजय-स्तम्भ सुशोभित होता है ॥ १० ॥

प्रवेण्युत्तरमार्गे तु पुण्ये कण्वाश्रमे तथा।
तापसानामरण्यानि कीर्तितानि यथाश्रुति ॥ ११ ॥

यह स्तम्भ प्रवेणी-नदीके उत्तरवर्ती मार्गमें कण्वके पुण्यमय आश्रममें है। इस प्रकार जैसा कि मैंने सुन रखा था, तपस्वी महात्माओंके निवास योग्य वनोंका वर्णन किया है ॥ ११ ॥

वेदी शूर्पारके तात जमदग्नेर्महात्मनः।
रम्या पाषाणतीर्था च पुनश्चन्द्रा च भारत ॥ १२ ॥

तात ! शूर्पारकक्षेत्रमें महात्मा जमदग्निकी वेदी है। भारत ! वहीं रमणीय पाषाणतीर्था और पुनश्चन्द्रा नामक तीर्थ-विशेष हैं ॥ १२ ॥

अशोकतीर्थं तत्रैव कौन्तेय बहुलाश्रमम्।
अगस्त्यतीर्थं पाण्ड्येषु वारुणं च युधिष्ठिर ॥ १३ ॥
कुमार्यः कथिताः पुण्याः पाण्ड्येष्वेव नरर्षभ।
ताम्रपर्णीं तु कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तां शृणु ॥ १४ ॥

कुन्तीनन्दन ! उसी क्षेत्रमें अशोकतीर्थ है, जहाँ महर्षियोंके बहुत-से आश्रम हैं। युधिष्ठिर ! पाण्ड्यदेशमें अगस्त्यतीर्थ और वारुणतीर्थ है। नरश्रेष्ठ ! पाण्ड्यदेशके भीतर पवित्र कुमारी कन्याएँ (कन्याकुमारी तीर्थ) कही गयी हैं। कुन्तीकुमार ! अब मैं तुमसे ताम्रपर्णी नदीकी महिमाका वर्णन करूँगा, सुनो ॥ १३-१४ ॥

यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे।
गोकर्ण इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! वहाँ मोक्ष पानेकी इच्छासे देवताओंने आश्रममें रहकर बड़ी भारी तपस्या की थी। वहाँका गोकर्ण-तीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ १५ ॥

शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः।
ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥

तात ! गोकर्णतीर्थमें शीतल जल भरा रहता है। उसकी जलराशि अनन्त है। वह पवित्र, कल्याणमय और शुभ है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्योंके लिये गोकर्णतीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १६ ॥

तत्र वृक्षतृणाद्यैश्च सम्पन्नः फलमूलवान्।
आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसमो गिरिः ॥ १७ ॥

वहाँ अगस्त्यके शिष्यका पुण्यमय आश्रम है, जो वृक्षों और तृण आदिसे सम्पन्न एवं फल-मूलोंसे परिपूर्ण है। देवसम नामक पर्वत ही वह आश्रम है ॥ १७ ॥

वैदूर्यपर्वतस्तत्र श्रीमान् मणिमयः शिवः।
अगस्त्यस्याश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः ॥ १८ ॥

वहाँ परम सुन्दर मणिमय वैदूर्यपर्वत है, जो शिवस्वरूप है। उसीपर महर्षि अगस्त्यका आश्रम है, जो प्रचुर फल-मूल और जलसे सम्पन्न है ॥ १८ ॥

सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ।
आश्रमान् सरितश्चैव सरांसि च नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! अब मैं सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) देशीय पुण्यस्थानों, मन्दिरों, आश्रमों, सरिताओं और सरोवरोंका वर्णन करता हूँ ॥

चमसोद्भेदनं विप्रास्तत्रापि कथयन्त्युत ।
प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर ॥ २० ॥

विप्रगण ! वहीं चमसोद्भेदतीर्थकी चर्चा की जाती है । युधिष्ठिर ! सुराष्ट्रमें ही समुद्रके तटपर प्रभासक्षेत्र है, जो देवताओंका तीर्थ कहा गया है ॥ २० ॥

तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शिवम् ।
उज्जयन्तश्च शिखरी क्षिप्रं सिद्धिकरो महान् ॥ २१ ॥

वहीं पिण्डारक नामक तीर्थ है, जो तपस्वी जनोंद्वारा सेवित और कल्याणस्वरूप है । उधर ही उज्जयन्त नामक महान् पर्वत है, जो शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला है ॥ २१ ॥

तत्र देवर्षिवर्येण नारदेनानुकीर्तितः ।
पुराणः श्रूयते श्लोकस्तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! उसके विषयमें देवर्षिप्रवर श्रीनारदजीके द्वारा कहा हुआ एक प्राचीन श्लोक सुना जाता है, उसको मुझसे सुनो ॥ २२ ॥

पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते ।
उज्जयन्ते स तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते ॥ २३ ॥

सुराष्ट्र देशमें मृगों और पक्षियोंसे सेवित उज्जयन्त नामक पुण्यपर्वतपर तपस्या करनेवाला पुरुष स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ २३ ॥

पुण्या द्वारवती तत्र यत्रासौ मधुसूदनः ।
साक्षाद् देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ॥ २४ ॥

उज्जयन्तके ही आस-पास पुण्यमयी द्वारकापुरी है, जहाँ साक्षात् पुराणपुरुष भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं । वे ही सनातन धर्मस्वरूप हैं ॥ २४ ॥

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ २५ ॥

जो वेदवेत्ता और अध्यात्मशास्त्रके विद्वान् ब्राह्मण हैं, वे परमात्मा श्रीकृष्णको ही सनातन धर्मरूप बताते हैं ॥ २५ ॥

पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः ॥ २६ ॥
अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ॥ २७ ॥

भगवान् गोविन्द पवित्रोंको भी पावन करनेवाले परमपवित्र कहे जाते हैं । वे पुण्योंके भी पुण्य और मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं । कमलनयन देवाधिदेव सनातन श्रीहरि अविनाशी परमात्मा, व्ययात्मा (क्षरपुरुष), क्षेत्रज्ञ और परमेश्वर हैं । वे अचिन्त्यस्वरूप भगवान् मधुसूदन वहीं द्वारकापुरीमें विराजमान हैं ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायामष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा पश्चिम दिशाके तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

आनर्तेषु प्रतीच्यां वै कीर्तयिष्यामि ते दिशि ।
यानि तत्र पवित्राणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥

धौम्यजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अब मैं पश्चिम दिशाके आनर्तदेशमें जो-जो पवित्र तीर्थ और पुण्यस्वरूप देवालय हैं, उन सबका वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

प्रियङ्ग्वाम्रवणोपेता वानीरफलमालिनी ।
प्रत्यक्स्रोता नदी पुण्या नर्मदा तत्र भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! पश्चिम दिशामें पुण्यमयी नर्मदा नदी प्रवाहित होती है, जिसकी धारा पूर्वसे पश्चिमकी ओर है । उसके तटपर प्रियङ्गु और आमके वृक्षोंका वन है । बेंत तथा फलवाले वृक्षोंकी श्रेणियाँ भी उसकी शोभा बढ़ाती हैं ॥ २ ॥

त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सरिद्वनानि शैलेन्द्रा देवाश्च सपितामहाः ॥ ३ ॥
नर्मदायां कुरुश्रेष्ठ सह सिद्धर्षिचारणैः ।
स्नातुमायान्ति पुण्यौघैः सदा वारिषु भारत ॥ ४ ॥

भरतनन्दन कुरुश्रेष्ठ ! त्रिलोकीमें जो-जो पुण्यतीर्थ, मन्दिर, नदी, वन, पर्वत, ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध, ऋषि, चारण एवं पुण्यात्माओंके समूह हैं, वे सब सदा नर्मदाके जलमें स्नान करनेके लिये आया करते हैं ॥ ३-४ ॥

निकेतः श्रूयते पुण्यो यत्र विश्रवसो मुनेः ।
जज्ञे धनपतिर्यत्र कुबेरो नरवाहनः ॥ ५ ॥

वहीं मुनिवर विश्रवाका पवित्र आश्रम सुना जाता है, जहाँ नरवाहन धनाध्यक्ष कुबेरका जन्म हुआ था ॥ ५ ॥

वैदूर्यशिखरो नाम पुण्यो गिरिवरः शिवः ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥ ६ ॥

वैदूर्यशिखरनामक मङ्गलमय पवित्र पर्वत भी नर्मदा-तटपर है, वहाँ हरे-हरे पत्तोंसे सुशोभित सदा फल और फूलोंके भारसे लदे हुए वृक्ष शोभा पाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे सरः पुण्यं महीपते ।
फुल्लपद्मं महाराज देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ७ ॥

राजन्! उस पर्वतके शिखरपर एक पुण्य सरोवर है, जिसमें सदा कमल खिले रहते हैं। महाराज! देवता और गन्धर्व भी उस पुण्यतीर्थका सेवन करते हैं ॥ ७ ॥

बह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते ।
पुण्ये स्वर्गोपमे चैव देवर्षिगणसेविते ॥ ८ ॥

राजन्! देवर्षिगणोंसे सेवित वह पुण्यपर्वत स्वर्गके समान सुन्दर एवं सुखद है। वहाँ अनेक आश्चर्यकी बातें देखी जाती हैं ॥ ८ ॥

ह्रदिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित् ।
विश्वामित्रनदी राजन् पुण्या परपुरंजय ॥ ९ ॥
यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः ।
पपात स पुनर्लोकाँल्लेभे धर्मान् सनातनान् ॥ १० ॥

शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले नरेश! वहाँ राजर्षि विश्वामित्रकी तपस्यासे प्रकट हुई एक पुण्यमयी नदी है, जो परम पवित्र तीर्थ मानी गयी है। उसीके तटपर नहुषनन्दन राजा ययाति स्वर्गसे साधु पुरुषोंके बीचमें गिरे थे और पुनः सनातन धर्ममय लोकोंमें चले गये थे ॥ ९-१० ॥

तत्र पुण्यो ह्रदः ख्यातो मैनाकश्चैव पर्वतः ।
बहुमूलफलोपेतस्त्वसितो नाम पर्वतः ॥ ११ ॥

वहाँ पुण्यसरोवर, विख्यात मैनाक पर्वत और प्रचुर फल-मूलोंसे सम्पन्न असित नामक पर्वत है ॥ ११ ॥

आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर ।
च्यवनस्याश्रमश्चैव विख्यातस्तत्र पाण्डव ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर! उसी पर्वतपर कच्छसेनका पुण्यदायक आश्रम है। पाण्डुनन्दन! महर्षि च्यवनका सुविख्यात आश्रम भी वहीं है ॥ १२ ॥

तत्राल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तपसा विभो ।
जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ १३ ॥
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगद्विजनिषेवितः ।

प्रभो! वहाँ थोड़ी ही तपस्यासे मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। महाराज! पश्चिम दिशामें ही जम्बूमार्ग है, जो शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका आश्रम है। शान्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! वह आश्रम पशु-पक्षियोंसे सेवित है ॥ १३½ ॥

ततः पुण्यतमा राजन् सततं तापसैर्युता ॥ १४ ॥
केतुमाला च मेध्या च गङ्गाद्वारं च भूमिप ।
ख्यातं च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १५ ॥

राजन्! उधर ही सदा तपस्वी जनोंसे भरे हुए पुण्यमय तीर्थ—केतुमाला, मेध्या और गङ्गाद्वार (हरिद्वार) हैं। भूपाल! द्विजोंसे सेवित सुप्रसिद्ध सैन्धवारण्य भी उधर ही है ॥ १४-१५ ॥

पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ॥ १६ ॥

ब्रह्माजीका पुण्यदायक सरोवर पुष्कर भी पश्चिम दिशामें ही है, जो वानप्रस्थों, सिद्धों और महर्षियोंका प्रिय आश्रम है।

अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर ॥ १७ ॥

पुण्यवानोंमें प्रधान कुरुश्रेष्ठ! पुष्करमें निवास करनेके लिये प्रजापति ब्रह्माजीने एक गाथा गायी है, जो इस प्रकार है—

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ॥ १८ ॥

'जो मनस्वी पुरुष मनसे भी पुष्करतीर्थमें निवास करनेकी इच्छा करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें आनन्द भोगता है' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा उत्तर दिशाके तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥
शृणुष्वावहितो भूत्वा मम मन्वतः प्रभो ।
कथाप्रतिग्रहो वीर श्रद्धां जनयते शुभाम् ॥ २ ॥

धौम्यजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! उत्तर दिशामें जो पुण्यप्रद तीर्थ और देवालय आदि हैं, उनका तुमसे वर्णन करता हूँ। प्रभो! तुम सावधान होकर वह सब मेरे मुखसे

सुनो। वीरवर! तीर्थोंकी कथाका प्रसंग उनके प्रति मङ्गलमयी श्रद्धा उत्पन्न करता है ॥ १-२ ॥

सरस्वती महापुण्या ह्रदिनी तीर्थमालिनी ।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव ॥ ३ ॥

तीर्थोंकी पंक्तिसे सुशोभित सरस्वती नदी बड़ी पुण्यदायिनी है। पाण्डुनन्दन! समुद्रमें मिलनेवाली महावेगशालिनी यमुना भी उत्तर दिशामें ही हैं ॥ ३ ॥

यत्र पुण्यतरं तीर्थं प्लक्षावतरणं शुभम् ।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथैर्द्विजाः ॥ ४ ॥

उधर ही अत्यन्त पुण्यमय प्लक्षावतरण नामक मङ्गलकारक तीर्थ है; जहाँ ब्राह्मणगण यज्ञ करके सरस्वतीके जलसे अवभृथस्नान करते और अपने स्थानको जाते हैं ॥४॥

पुण्यं चाख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।
सहदेवोऽयजद् यत्र शम्याक्षेपेण भारत ॥ ५ ॥

उधर ही अग्निशिर नामक दिव्य, कल्याणमय, पुण्यतीर्थ बताया जाता है। निष्पाप भरतनन्दन! उसी तीर्थमें सहदेवने शमीका डंडा फेंकवाकर, जितनी दूरीमें वह डंडा पड़ा था उतनी दूरीमें, मण्डप बनवाकर उसमें यज्ञ किया ॥

एतस्मिन्नेव चार्थेऽसाविन्द्रगीता युधिष्ठिर ।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन् गीयमाना द्विजातिभिः॥ ६ ॥

युधिष्ठिर! इसी विषयमें इन्द्रकी गायी हुई एक गाथा लोकमें प्रचलित है, जिसे ब्राह्मण गाया करते हैं ॥ ६ ॥

अग्नयः सहदेवेन सेविता यमुनामनु ।
ते तस्य कुरुशार्दूल सहस्रशतदक्षिणाः ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ! सहदेवने यमुना-तटपर लाख स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा देकर अग्निकी उपासना की थी* ॥ ७ ॥

तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्ती महायशाः ।
विंशतिः सप्त चाष्टौ च हयमेधानुपाहरत् ॥ ८ ॥

वहीं महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरतने पैंतीस अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ ८ ॥

कामकृद् यो द्विजातीनां श्रुतस्तात यथा पुरा ।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः शरभङ्गस्य विश्रुतः ॥ ९ ॥

तात! प्राचीनकालमें राजा भरत ब्राह्मणोंकी मनोवाञ्छाको पूर्ण करनेवाला राजा सुना गया है। उत्तराखण्डमें ही महर्षि शरभङ्गका अत्यन्त पुण्यदायक आश्रम विख्यात है ॥

सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता ।
बालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन! साधु पुरुषोंने सरस्वती नदीकी सदा उपासना की है। महाराज! पूर्वकालमें बालखिल्य ऋषियोंने वहाँ यज्ञ किया था ॥ १० ॥

दृषद्वती महापुण्या यत्र ख्याता युधिष्ठिर ।
न्यग्रोधाख्यस्तु पुण्याख्यः पाञ्चाल्यो द्विपदां वर॥ ११ ॥
दाल्भ्यघोषश्च दाल्भ्यश्च धरणीस्थो महात्मनः।
कौन्तेयानन्तयशसः सुव्रतस्यामितौजसः ॥ १२ ॥
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।

युधिष्ठिर! परम पुण्यमयी दृषद्वती नदी भी उधर ही बतायी गयी है। मनुष्योंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! वहीं न्यग्रोध, पुण्य, पाञ्चाल्य, दाल्भ्यघोष और दाल्भ्य—ये पाँच आश्रम हैं तथा अनन्तकीर्ति एवं अमित तेजस्वी महात्मा सुव्रतका पुण्य आश्रम भी उत्तराखण्डमें ही बताया जाता है, जो पृथ्वीपर रहकर भी तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ११-१२½ ॥

एतावर्णाववर्णौ च विश्रुतौ मनुजाधिप ॥ १३ ॥

नरेश्वर! उत्तराखण्डमें ही विख्यात मुनि नर और नारायण हैं, जो एतावर्ण (श्यामवर्ग—साकार) होते हुए भी वास्तवमें अवर्ण (निराकार) ही हैं ॥ १३ ॥

वेदज्ञौ वेदविद्वांसौ वेदविद्याविदावुभौ ।
ईजाते क्रतुभिर्मुख्यैः पुण्यैर्भरतसत्तम ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ! ये दोनों मुनि वेदज्ञ, वेदके मर्मज्ञ तथा वेदविद्याके पूर्ण जानकार हैं। इन्होंने पुण्यदायक उत्तम यज्ञोंद्वारा शङ्करका यजन किया है ॥ १४ ॥

समेत्य बहुशो देवाः सेन्द्राः सवरुणाः पुरा ।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तेन पुण्यतमश्च सः ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें इन्द्र, वरुण आदि बहुत-से देवताओंने मिलकर विशाखयूप नामक स्थानमें तप किया था, अतः वह अत्यन्त पुण्यप्रद स्थान है ॥ १५ ॥

ऋषिर्महान् महाभागो जमदग्निर्महायशाः ।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजत प्रभुः ॥ १६ ॥

महाभाग, महायशस्वी और महाप्रभावशाली महर्षि जमदग्निने परम सुन्दर तथा पुण्यप्रद पलाशवनमें यज्ञ किया था ॥ १६ ॥

यत्र सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः साक्षात् तमृषिसत्तमम्।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे ॥ १७॥

जिसमें सब श्रेष्ठ नदियाँ मूर्तिमती हो अपना-अपना जल लेकर उन मुनिश्रेष्ठके पास आयीं और उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ी हुई थीं ॥ १७ ॥

अपि चात्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ ।
इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य दीक्षां महात्मनः॥ १८ ॥

---

* ये सहदेव सुप्रसिद्ध राजा संजयके पुत्र थे—'सहदेवः संजयपुत्रः' इति नीलकण्ठी।

वीर महाराज ! यहाँ महात्मा जमदग्निकी वह यज्ञदीक्षा देखकर स्वयं गन्धर्वराज विश्वावसुने इस श्लोकका गान किया था ॥ १८ ॥

यजमानस्य वै देवाञ्जमदग्नेर्महात्मनः ।
आगम्य सरितो विप्रान् मधुना समतर्पयन् ॥१९॥

'महात्मा जमदग्नि जब यज्ञद्वारा देवताओंका यजन कर रहे थे, उस समय उनके यज्ञमें सरिताओंने आकर मधुसे ब्राह्मणोंको तृप्त किया' ॥ १९ ॥

गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम् ।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम् ॥२०॥
बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारं युधिष्ठिर ।
पुण्यं तत् ख्यायते राजन् ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥२१॥

युधिष्ठिर ! गिरिश्रेष्ठ हिमालय किरातों और किन्नरोंका निवासस्थान है । गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और अप्सराएँ उसका सदा सेवन करती हैं । गङ्गाजी अपने वेगसे उस शैलराजको फोड़कर जहाँ प्रकट हुई है, वह पुण्यस्थान गङ्गाद्वार (हरिद्वार) के नामसे विख्यात है । राजन् ! उस तीर्थका ब्रह्मर्षिगण सदा सेवन करते हैं ॥ २०-२१ ॥

सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा ।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र यातः पुरूरवाः ॥२२॥

कुरुनन्दन ! पुण्यमय कनखलमें पहले सनत्कुमारने यात्रा की थी । वहीं पुरु नामसे प्रसिद्ध पर्वत है, जहाँ पूर्वकालमें पुरूरवाने यात्रा की थी ॥ २२ ॥

भृगुर्यत्र तपस्तेपे महर्षिगणसेविते ।
राजन् स आश्रमः ख्यातो भृगुतुङ्गो महागिरिः ॥२३॥

राजन् ! महर्षियोंसे सेवित जिस महान् पर्वतपर भृगुने तपस्या की थी, वह भृगुतुङ्ग आश्रमके नामसे विख्यात है ॥ २३ ॥

यः स भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
नारायणः प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥२४॥
तस्यातियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु ।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥२५॥

भरतश्रेष्ठ ! भूत, भविष्य और वर्तमान जिनका स्वरूप है, जो सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सनातन एवं पुरुषोत्तम नारायण हैं उन अत्यन्त यशस्वी श्रीहरिकी पुण्यमयी विशालापुरी बदरीवनके निकट है । वह नर-नारायणका आश्रम कहा गया है वह पुण्यप्रद बदरिकाश्रम तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ २४-२५ ॥

उष्णतोयवहा गङ्गा शीततोयवहा पुरा ।
सुवर्णसिकता राजन् विशालां बदरीमनु ॥२६॥

राजन् ! पूर्वकालसे ही विशाला बदरीके समीप गङ्गा कहीं गर्म जल तथा कहीं शीतल जल प्रवाहित करती हैं । उनकी बालू सुवर्णकी भाँति चमकती रहती है ॥ २६ ॥

ऋषयो यत्र देवाश्च महाभागा महौजसः ।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं प्रभुम् ॥२७॥
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः ।
तत्र कृत्स्नं जगत् सर्वं तीर्थान्यायतनानि च ॥२८॥

वहाँ महाभाग एवं महातेजस्वी देवता तथा महर्षि प्रतिदिन जाकर अमित प्रभावशाली भगवान् नारायणको नमस्कार करते हैं । जहाँ सनातन परमात्मा भगवान् नारायण विराजमान हैं, वहाँ सम्पूर्ण जगत् है और समस्त तीर्थ तथा देवालय हैं ॥ २७-२८ ॥

तत् पुण्यं परमं ब्रह्म तत् तीर्थं तत् तपोवनम् ।
तत् परं परमं देवं भूतानां परमेश्वरम् ॥२९॥

वह बदरिकाश्रम पुण्यक्षेत्र और परब्रह्मस्वरूप है । वही तीर्थ है, वही तपोवन है, वही सम्पूर्ण भूतोंका परमदेव परमेश्वर है ॥ २९ ॥

शाश्वतं परमं चैव धातारं परमं पदम् ।
यं विदित्वा न शोचन्ति विद्वांसः शास्त्रदृष्टयः ॥३०॥
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः ।

वही सनातन परमधाता एवं परमपद है, जिसे जान लेनेपर शास्त्रदर्शी विद्वान् कभी शोक नहीं करते हैं। वहीं देवर्षि सिद्ध और समस्त तपोधन महात्मा निवास करते हैं ॥ ३०½ ॥

आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः ॥३१॥
पुण्यानामपि तत्पुण्यमत्र ते संशयोऽस्तु मा ।
एतानि राजन् पुण्यानि पृथिव्यां पृथिवीपते ॥३२॥
कीर्तितानि नरश्रेष्ठ तीर्थान्यायतनानि च ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ॥३३॥
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च सेवितानि महात्मभिः ।
चरन्नेतानि कौन्तेय सहितो ब्राह्मणर्षभैः ।
भ्रातृभिश्च महाभागैरुत्कण्ठां विहरिष्यसि ॥३४॥

जहाँ महायोगी आदिदेव भगवान् मधुसूदन विराजमान हैं वह स्थान पुण्योंका भी पुण्य है । इस विषयमें तुम्हें संशय नहीं होना चाहिये । राजन् ! पृथ्वीपते ! नरश्रेष्ठ ! ये भूमण्डलके पुण्यतीर्थ और आश्रम आदि कहे गये वसु, साध्य, आदित्य, मरुद्गण, अश्विनीकुमार तथा देवोपम महात्मा मुनि इन सब तीर्थोंका सेवन करते हैं । कुन्तीनन्दन !

तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणों और महान् सौभाग्यशाली भाइयोंके साथ इन तीर्थोंमें विचरते रहोगे तो अर्जुनके लिये तुम्हारी मिलनेकी उत्कट इच्छा अर्थात् विरहव्याकुलता शान्त हो जायगी ॥ ३१-३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

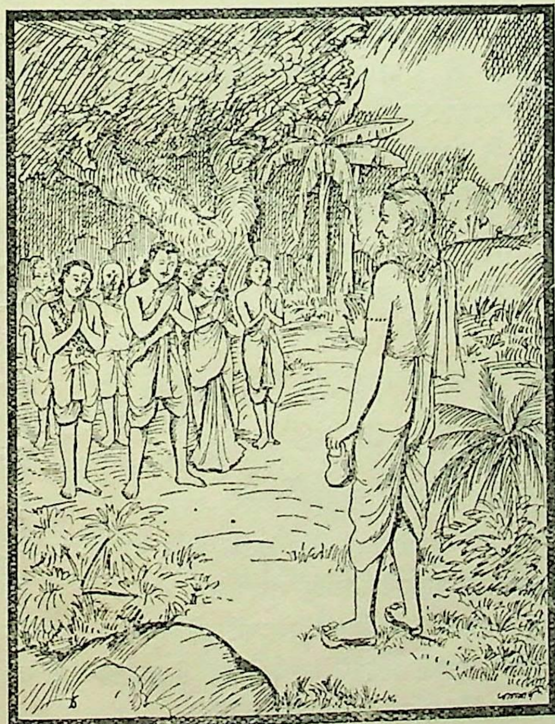
एकनवतितमोऽध्यायः

महर्षि लोमशका आगमन और युधिष्ठिरसे अर्जुनके पाशुपत आदि दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिका वर्णन तथा इन्द्रका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणे तु धौम्ये कौरवनन्दन ।
लोमशः स महातेजा ऋषिस्तत्राजगाम ह ॥ १ ॥
तं पाण्डवाग्रजो राजा सगणो ब्राह्मणाश्च ते ।
उपातिष्ठन्महाभागं दिवि शक्रमिवामराः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कौरवनन्दन ! जब धौम्य ऋषि इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय महातेजस्वी महर्षि लोमश वहाँ आये । जैसे स्वर्गमें इन्द्रके आनेपर समस्त देवता उठकर खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्येष्ठ पाण्डव राजा युधिष्ठिर, उनके समुदायके अन्य लोग तथा वे ब्राह्मण भी उन महाभाग लोमशको आया देख उनके स्वागतके लिये उठकर खड़े हो गये ॥ १-२ ॥



समभ्यर्च्य यथान्यायं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छागमने हेतुमटने च प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

धर्मनन्दन युधिष्ठिरने यथायोग्य उनका पूजन करके उन्हें आसनपर बिठाया और वहाँ आने तथा वनमें घूमनेका प्रयोजन पूछा ॥ ३ ॥

स पृष्टः पाण्डुपुत्रेण प्रीयमाणो महामनाः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान् ॥ ४ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर महामना महर्षि लोमश बड़े प्रसन्न हुए और अपनी मधुर वाणीद्वारा पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए-से बोले—॥ ४ ॥

संचरन्नस्मि कौन्तेय सर्वाँल्लोकान् यदृच्छया ।
गतः शक्रस्य भवनं तत्रापश्यं सुरेश्वरम् ॥ ५ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मैं यों ही इच्छानुसार सम्पूर्ण लोकोंमें विचरण करता हूँ । एक दिन मैं इन्द्रके भवनमें गया और वहाँ देवराज इन्द्रसे मिला ॥ ५ ॥

तव च भ्रातरं वीरमपश्यं सव्यसाचिनम् ।
शक्रस्यार्धासनगतं तत्र मे विस्मयो महान् ॥ ६ ॥

'वहाँ मैंने तुम्हारे वीर भ्राता सव्यसाची अर्जुनको भी देखा, जो इन्द्रके आधे सिंहासनपर बैठे हुए थे । वहाँ उन्हें इस दशामें देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६ ॥

आसीत् पुरुषशार्दूल दृष्ट्वा पार्थं तथागतम् ।
आह मां तत्र देवेशो गच्छ पाण्डुसुतान् प्रति ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! तुम्हारे भाई अर्जुनको इन्द्रके सिंहासनपर बैठा देख जब मैं आश्चर्यचकित हो रहा था, उसी समय देवराज इन्द्रने मुझसे कहा—'मुने ! तुम पाण्डवोंके पास जाओ' ॥ ७ ॥

सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं दिदृक्षुस्त्वां सहानुजम् ।
वचनात् पुरुहूतस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥ ८ ॥

'उन इन्द्रके आदेशसे मैं भाइयोंसहित तुम्हें देखनेके लिये शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ । इसके लिये इन्द्रने तो मुझसे कहा ही था, महात्मा अर्जुनने भी अनुरोध किया था ॥

आख्यास्ये ते प्रियं तात महत् पाण्डवनन्दन ।
ऋषिभिः सहितो राजन् करुणया चैव तच्छृणु ॥ ९ ॥

यत् त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थं भरतर्षभ ।
तदस्त्रमाप्तं पार्थेन रुद्रादप्रतिमं विभो ॥१०॥

'तात ! पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर ! मैं तुम्हें बड़ा प्रिय समाचार सुनाऊँगा । राजन् ! तुम इन महर्षियों और द्रौपदीके साथ मेरी बात सुनो । भरतकुलभूषण विभो ! तुमने महाबाहु अर्जुनको दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये जो आदेश दिया था, उसके विषयमें यह निवेदन करना है कि अर्जुनने भगवान् शङ्करसे उनका अनुपम अस्त्र (पाशुपत) प्राप्त कर लिया है ॥ ९-१० ॥

यत् तद् ब्रह्मशिरो नाम तपसा रुद्रमागमत् ।
अमृतादुत्थितं रौद्रं तल्लब्धं सव्यसाचिना ॥११॥

'जो ब्रह्मशिर नामक अस्त्र अमृतसे प्रकट होकर तपस्याके प्रभावसे भगवान् शङ्करको मिला था, वही पाशुपतास्त्र सव्यसाची अर्जुनने प्राप्त कर लिया है ॥ ११ ॥

तत् समन्त्रं ससंहारं सप्रायश्चित्तमङ्गलम् ।
वज्रमस्त्राणि चान्यानि दण्डादीनि युधिष्ठिर ॥१२॥

'युधिष्ठिर ! रुद्र देवताका वह वज्रके समान दुर्भेद्य अस्त्र मन्त्र, उपसंहार, प्रायश्चित्त और मङ्गलसहित अर्जुनने पा लिया है । साथ ही, दण्ड आदि अन्य अस्त्र भी उन्होंने हस्तगत कर लिये हैं ॥ १२ ॥

यमात् कुबेराद् वरुणादिन्द्राच्च कुरुनन्दन ।
अस्त्राण्यधीतवान् पार्थो दिव्यान्यमितविक्रमः ॥१३॥

'कुरुनन्दन ! अमित पराक्रमी अर्जुनने यम, कुबेर, वरुण और इन्द्रसे दिव्यास्त्रोंका अध्ययन किया है ॥ १३ ॥

विश्वावसोस्तु तनयाद् गीतं नृत्यं च साम च ।
वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद् यथाविधि ॥१४॥

'इतना ही नहीं, उन्होंने विश्वावसुके पुत्रसे नृत्य, गीत, सामगान और वाद्यकलाकी भी विधिपूर्वक यथोचित शिक्षा प्राप्त कर ली है ॥ १४ ॥

एवं कृतास्त्रः कौन्तेयो गान्धर्वं वेदमाप्तवान् ।
सुखं वसति बीभत्सुरनुजस्यानुजस्तव ॥१५॥

'इस प्रकार अस्त्रविद्यामें निपुणता प्राप्त करके कुन्तीकुमारने गान्धर्ववेद (संगीतविद्या) को भी प्राप्त कर लिया है । अब तुम्हारे छोटे भाई भीमसेनके छोटे भाई अर्जुन वहाँ बड़े सुखसे रह रहे हैं ॥ १५ ॥

यदर्थं मां सुरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
तच्च ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध मे ॥१६॥

'युधिष्ठिर ! देवश्रेष्ठ इन्द्रने मुझसे तुम्हारे लिये जो संदेश कहा था, उसे अब तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥ १६ ॥

भवान् मनुष्यलोकेऽपि गमिष्यति न संशयः ।
ब्रूयाद् युधिष्ठिरं तत्र वचनान्मे द्विजोत्तम ॥१७॥
आगमिष्यति ते भ्राता कृतास्त्रः क्षिप्रमर्जुनः ।
सुरकार्यं महत् कृत्वा यदशक्यं दिवौकसाम् ॥१८॥
तपसापि त्वमात्मानं योजय भ्रातृभिः सह ।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥१९॥

'उन्होंने मुझसे कहा—द्विजोत्तम ! इसमें संदेह नहीं कि आप घूमते-घामते मनुष्यलोकमें भी जायँगे; अतः मेरे अनुरोधसे आप राजा युधिष्ठिरके पास जाकर यह बात कह दीजियेगा—'राजन् ! तुम्हारे भाई अर्जुन अस्त्रविद्यामें निपुण हो चुके हैं । अब वे देवताओंका एक बहुत बड़ा कार्य, जिसे देवता स्वयं नहीं कर सकते, सिद्ध करके शीघ्र तुम्हारे पास आ जायँगे; तबतक तुम भी अपने भाइयोंके साथ स्वयंको तपस्यामें लगाओ; क्योंकि तपस्यासे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है । तपस्यासे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥ १७—१९ ॥

अहं च कर्णं जानामि यथावद् भरतर्षभ ।
सत्यसंधं महोत्साहं महावीर्यं महाबलम् ॥२०॥

''भरतश्रेष्ठ ! मैं कर्णको अच्छी तरह जानता हूँ । वह सत्यप्रतिज्ञ, अत्यन्त उत्साही, महापराक्रमी और महाबली है ॥

महाहवेष्वप्रतिमं महायुद्धविशारदम् ।
महाधनुर्धरं वीरं महास्त्रं वरवर्णिनम् ॥२१॥
महेश्वरसुतप्रख्यमादित्यतनयं प्रभुम् ।
तथार्जुनमतिस्कन्दं सहजोल्वणपौरुषम् ॥२२॥
न स पार्थस्य संग्रामे कलामर्हति षोडशीम् ।
यच्चापि ते भयं कर्णान्मनसिस्थमरिंदम ॥२३॥
तच्चाप्यपहरिष्यामि सव्यसाचिन्युपागते ।
यच्च ते मानसं वीर तीर्थयात्रामिमां प्रति ।
स महर्षिर्लोमशस्ते कथयिष्यत्यसंशयम् ॥२४॥

''बड़े-बड़े संग्रामोंमें उसकी समानता करनेवाला कोई नहीं है । वह महान् युद्धविशारद, महाधनुर्धर, अस्त्र-शस्त्रोंका महान् ज्ञाता, श्रेष्ठ, सुन्दर महेश्वरपुत्र कार्तिकेयके समान पराक्रमी, सूर्यदेवताका पुत्र और शक्तिशाली वीर है । इसी प्रकार मैं अर्जुनको भी जानता हूँ । वह कार्तिकेयसे भी बढ़कर है, उसमें स्वभावसे ही दुःसह पुरुषार्थ भरा हुआ है । युद्धमें कर्ण अर्जुनकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है । शत्रुदमन ! तुम्हारे मनमें जिस बातको लेकर कर्णसे भय बना रहता है, मैं अर्जुनके लौटनेपर तुम्हारे उस भयको भी दूर कर दूँगा । वीरवर ! तीर्थयात्राके विषयमें जो तुम्हारा मानसिक संकल्प है, उसके विषयमें महर्षि लोमश निश्चय ही तुमसे सब कुछ बतावेंगे ॥ २१—२४ ॥

यच्च किंचित् तपोयुक्तं फलं तीर्थेषु भारत ।
ब्रह्मर्षिरेष ब्रूयात् ते तच्छ्रद्धेयं न चान्यथा ॥२५॥

''भरतनन्दन ! तीर्थोंमें जो कुछ तपस्यायुक्त फल प्राप्त होता है, वह सब ये ब्रह्मर्षि लोमश तुम्हें बतायेंगे, तुम्हें उस-पर विश्वास करना चाहिये । उसमें अन्यथाबुद्धि नहीं करनी चाहिये'' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥९१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें युधिष्ठिरलोमश-संवादविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

महर्षि लोमशके मुखसे इन्द्र और अर्जुनका संदेश सुनकर युधिष्ठिरका प्रसन्न होना और तीर्थयात्राके लिये उद्यत हो अपने अधिक साथियोंको विदा करना

लोमश उवाच

धनंजयेन चाप्युक्तं यत् तच्छृणु युधिष्ठिर ।
युधिष्ठिरं भ्रातरं मे योजयेर्धर्म्यया श्रिया ॥ १ ॥
त्वं हि धर्मान् परान् वेत्थ तपांसि च तपोधन ।
श्रीमतां चापि जानासि धर्मं राज्ञां सनातनम् ॥ २ ॥

लोमश मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब मैं आने लगा, तब अर्जुनने भी मुझसे जो बात कही थी, वह सुनो । वे बोले—'तपोधन ! आप मेरे बड़े भैया युधिष्ठिरको धर्मानुकूल राजलक्ष्मीसे संयुक्त कीजिये । आप उत्कृष्ट धर्मों और तपस्याओंको जानते हैं । श्रीसम्पन्न राजाओंका जो सनातन धर्म है, उसका भी आपको पूर्ण ज्ञान है ॥ १-२ ॥

स भवान् परमं वेद पावनं पुरुषं प्रति ।
तेन संयोजयेथास्त्वं तीर्थपुण्येन पाण्डवान् ॥ ३ ॥

'पुरुषको पवित्र बनानेवाला जो उत्तम साधन है, उसे आप जानते हैं। अतः आप पाण्डवोंको तीर्थयात्राजनित पुण्यसे सम्पन्न कीजिये ॥ ३ ॥

यथा तीर्थानि गच्छेत गाश्च दद्यात् स पार्थिवः ।
तथा सर्वात्मना कार्यमिति मामर्जुनोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

'महाराज युधिष्ठिर जिस प्रकार तीर्थोंमें जायँ और वहाँ गोदान करें, वैसा सब प्रकारसे प्रयत्न कीजियेगा ।' यह बात अर्जुनने मुझसे कही थी ॥ ४ ॥

भवता चानुगुप्तोऽसौ चरेत् तीर्थानि सर्वशः ।
रक्षोभ्यो रक्षितव्यश्च दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ५ ॥

उन्होंने यह भी कहा—'महाराज युधिष्ठिर आपसे सुरक्षित रहकर सब तीर्थोंमें विचरण करें । दुर्गम स्थानों और विषम अवसरोंमें आप राक्षसोंसे उनकी रक्षा करें ॥ ५ ॥

दधीच इव देवेन्द्रं यथा चाप्यङ्गिरा रविम् ।
तथा रक्षस्व कौन्तेयान् राक्षसेभ्यो द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! जैसे दधीचने देवराज इन्द्रकी और महर्षि अङ्गिराने सूर्यकी रक्षा की है, उसी प्रकार आप राक्षसोंसे कुन्ती-कुमारोंकी रक्षा कीजिये ॥ ६ ॥

यातुधाना हि बहवो राक्षसाः पर्वतोपमाः ।
त्वयाभिगुप्तं कौन्तेयं न विवर्तेयुरन्तिकम् ॥ ७ ॥

'बहुत-से पिशाच तथा राक्षस, जो पर्वतोंके समान विशाल-काय हैं, आपसे सुरक्षित राजा युधिष्ठिरके पास नहीं आ सकेंगे' ॥

सोऽहमिन्द्रस्य वचनान्नियोगादर्जुनस्य च ।
रक्षमाणो भयेभ्यस्त्वां चरिष्यामि त्वया सह ॥ ८ ॥

राजन् ! इस प्रकार मैं इन्द्रके कथन और अर्जुनके अनुरोधसे सब प्रकारके भयसे तुम्हारी रक्षा करते हुए तुम्हारे साथ-साथ तीर्थोंमें विचरण करूँगा ॥ ८ ॥

द्विस्तीर्थानि मया पूर्वं दृष्टानि कुरुनन्दन ।
इदं तृतीयं द्रक्ष्यामि तान्येव भवता सह ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन ! पहले दो बार मैंने सब तीर्थोंके दर्शन कर लिये; अब तीसरी बार तुम्हारे साथ पुनः उनका दर्शन करूँगा ॥

इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर ।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा ॥ १० ॥

महाराज युधिष्ठिर ! यह तीर्थयात्रा सब प्रकारके भयका नाश करनेवाली है । मनु आदि पुण्यात्मा राजर्षियोंने इस तीर्थयात्रारूपी धर्मका पालन किया है ॥ १० ॥

नानृजुर्नाकृतात्मा च नाविद्यो न च पापकृत् ।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन ! जो सरल नहीं है, जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, जो विद्याहीन और पापात्मा है तथा जिसकी बुद्धि कुटिलतासे भरी हुई है, ऐसा मनुष्य (श्रद्धा न होनेके कारण) तीर्थोंमें स्नान नहीं करता ॥ ११ ॥

त्वं तु धर्ममतिर्नित्यं धर्मज्ञः सत्यसंगरः ।
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो भूय एव भविष्यसि ॥ १२ ॥

तुम तो सदा धर्ममें मन लगाये रखनेवाले, धर्मज्ञ, सत्य-प्रतिज्ञ और सब प्रकारकी आसक्तियोंसे शून्य हो और आगे भी तुममें अधिकाधिक इन गुणोंका विकास होगा ॥ १२ ॥

यथा भगीरथो राजा राजानश्च गयादयः ।
यथा ययातिः कौन्तेय तथा त्वमपि पाण्डव ॥ १३ ॥

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन ! जैसे राजा भगीरथ हो गये हैं, जैसे गय आदि राजर्षि हो चुके हैं तथा जैसे महाराज ययाति हुए हैं, वैसे ही तुम भी विख्यात हो ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न हर्षात् सम्प्रपश्यामि वाक्यस्यास्योत्तरं क्वचित् ।
स्मरेद्धि देवराजो यं को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१४॥

युधिष्ठिर बोले—महर्षे ! आपके दर्शन और आपकी बातोंके सुननेसे मुझे इतना अधिक हर्ष हुआ है कि मुझे इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं सूझता। देवराज इन्द्र जिसका स्मरण करते हों, उससे बढ़कर इस संसारमें कौन है ? ॥१४॥

भवता संगमो यस्य भ्राता चैव धनंजयः ।
वासवः स्मरते यस्य को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१५॥

जिसे आपका संग प्राप्त हो, जिसके अर्जुन-जैसा भाई हो और जिसे इन्द्र याद करते हों, उससे बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन है ? ॥ १५ ॥

यच्च मां भगवानाह तीर्थानां दर्शनं प्रति ।
धौम्यस्य वचनादेषा बुद्धिः पूर्वं कृतैव मे ॥१६॥

भगवन् ! आपने मुझे तीर्थोंके दर्शनके लिये जो उत्साह प्रदान किया है, वह ठीक है। मैंने पहलेसे ही धौम्यजीके आदेशसे तीर्थोंमें जानेका विचार कर रखा है ॥ १६ ॥

तद् यदा मन्यसे ब्रह्मन् गमनं तीर्थदर्शने ।
तदैव गन्तास्मि तीर्थान्येष मे निश्चयः परः ॥१७॥

अतः ब्रह्मन् ! आप जब ठीक समझें तभी मैं तीर्थोंके दर्शनके लिये चल दूँगा; यही मेरा अन्तिम निश्चय है ॥१७॥

वैशम्पायन उवाच

गमने कृतबुद्धिं तु पाण्डवं लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यसि ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तीर्थयात्राके लिये जिन्होंने निश्चित विचार कर लिया था, उन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे महर्षि लोमशने कहा—'महाराज ! लोकसमूहसे आप हल्के हो जाइये—थोड़े ही लोगोंको साथ रखिये; क्योंकि थोड़े संगी-साथी होनेपर आप इच्छानुसार सर्वत्र जा सकेंगे' ॥

युधिष्ठिर उवाच

भिक्षाभुजो निवर्तन्तां ब्राह्मणा यतयश्च ये ।
क्षुत्तृडध्वश्रमायासशीतार्तिमसहिष्णवः ॥१९॥

युधिष्ठिर बोले—जो भिक्षाभोजी ब्राह्मण और संन्यासी हैं तथा जो भूख-प्यास, परिश्रम-थकावट और सर्दीकी पीड़ा सहन न कर सकें, उन्हें लौट जाना चाहिये ॥ १९ ॥

ते सर्वे विनिवर्तन्तां ये च मिष्टभुजो द्विजाः ।
पक्वान्नलेह्यपानानां मांसानां च विकल्पकाः ॥२०॥

जो द्विज मिष्टान्नभोजी हैं, वे भी लौट जायँ। जो पक्वान्न, चटनी, पेय पदार्थ और मांस आदि खानेवाले मनुष्य हों, वे भी लौट जायँ ॥ २० ॥

तेऽपि सर्वे निवर्तन्तां ये च सूदानुयायिनः ।
मया यथोचिताजीव्यैः संविभक्ताश्च वृत्तिभिः ॥२१॥

जो लोग रसोइयोंकी अपेक्षा रखनेवाले हैं तथा जिन्हें मैंने अलग-अलग बाँटकर उचित-उचित आजीविकाकी व्यवस्था कर दी है, वे सब लोग घर लौट जायँ ॥ २१ ॥

ये चाप्यनुरताः पौरा राजभक्तिपुरःसराः ।
धृतराष्ट्रं महाराजमभिगच्छन्तु ते च वै ॥२२॥
स दास्यति यथाकालमुचिता यस्य या भृतिः ।
स चेद् यथोचितां वृत्तिं न दद्यान्मनुजेश्वरः ॥२३॥
अस्मत्प्रियहितार्थाय पाञ्चाल्यो वः प्रदास्यति ॥२४॥

जो पुरवासी राजभक्तिवश मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं, वे अब महाराज धृतराष्ट्रके पास चले जायँ। वे उनके लिये यथासमय समुचित आजीविका प्रदान करेंगे। यदि राजा धृतराष्ट्र उचित जीविकाकी व्यवस्था न करें तो पाञ्चालनरेश द्रुपद हमारा प्रिय और हित करनेके लिये अवश्य आपलोगोंको जीविका देंगे ॥ २२-२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो भूयिष्ठशः पौरा गुरुभारप्रपीडिताः ।
विप्राश्च यतयो मुख्या जग्मुर्नागपुरं प्रति ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब बहुत-से नागरिक, ब्राह्मण और यति मानसिक दुःखके भारी भारसे पीडित हो हस्तिनापुरको चले गये ॥ २५ ॥

तान् सर्वान् धर्मराजस्य प्रेम्णा राजाम्बिकासुतः ।
प्रतिजग्राह विधिवद् धनैश्च समतर्पयत् ॥२६॥

अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने धर्मराज युधिष्ठिरके स्नेहवश उन सबको विधिपूर्वक अपनाया और उन्हें धन देकर तृप्त किया ॥ २६ ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा लघुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
लोमशेन च सुप्रीतस्त्रिरात्रं काम्यकेऽवसत् ॥२७॥

तदनन्तर कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर थोड़े-से ब्राह्मणों और लोमशजीके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तीन राततक काम्यक वनमें टिके रहे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

ऋषियोंको नमस्कार करके पाण्डवोंका तीर्थयात्राके लिये विदा होना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयान्तं कौन्तेयं ब्राह्मणा वनवासिनः।
अभिगम्य तदा राजन्निदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको तीर्थयात्राके लिये उद्यत जान काम्यकवनके निवासी ब्राह्मण उनके निकट आकर इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

राजंस्तीर्थानि गन्तासि पुण्यानि भ्रातृभिः सह।
ऋषिणा चैव सहितो लोमशेन महात्मना ॥ २ ॥

'महाराज! आप अपने भाइयों तथा महात्मा लोमश मुनिके साथ पुण्यतीर्थोंमें जानेवाले हैं ॥ २ ॥

अस्मानपि महाराज नेतुमर्हसि पाण्डव।
अस्माभिर्हि न शक्यानि त्वदृते तानि कौरव ॥ ३ ॥

'कुरुकुलतिलक पाण्डुनन्दन! हमें भी अपने साथ ले चलें। महाराज! आपके बिना हमलोग उन तीर्थोंकी यात्रा नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

श्वापदैरुपसृष्टानि दुर्गाणि विषमाणि च।
अगम्यानि नरैरल्पैस्तीर्थानि मनुजेश्वर ॥ ४ ॥

'मनुजेश्वर! वे सभी तीर्थ हिंसक जन्तुओंसे भरे पड़े हैं। दुर्गम और विषम भी हैं। थोड़े-से मनुष्य वहाँकी यात्रा नहीं कर सकते ॥ ४ ॥



भवतो भ्रातरः शूरा धनुर्धरवराः सदा।
भवद्भिः पालिताः शूरैर्गच्छामो वयमप्युत ॥ ५ ॥

'आपके भाई शूरवीर हैं और सदा श्रेष्ठ धनुष धारण किये रहते हैं। आप-जैसे शूरवीरोंसे सुरक्षित होकर हम भी उन तीर्थोंकी यात्रा पूरी कर लेंगे ॥ ५ ॥

भवत्प्रसादाद्धि वयं प्राप्नुयाम सुखं फलम्।
तीर्थानां पृथिवीपाल वनानां च विशाम्पते ॥ ६ ॥

'भूपाल! प्रजानाथ! आपके प्रसादसे हमलोग भी उन तीर्थों और वनोंकी यात्राका फल अनायास ही पा लेंगे ॥६॥

तव वीर्यपरित्राताः शुद्धास्तीर्थपरिप्लुताः।
भवेम धूतपाप्मानस्तीर्थसंदर्शनान्नृप ॥ ७ ॥

'नरेश्वर! आपके बल-पराक्रमसे सुरक्षित हो हम भी तीर्थोंमें स्नान करके शुद्ध हो जायँगे और उन तीर्थोंके दर्शनसे हमारे सब पाप धुल जायँगे ॥ ७ ॥

भवानपि नरेन्द्रस्य कार्तवीर्यस्य भारत।
अष्टकस्य च राजर्षेर्लोमपादस्य चैव ह ॥ ८ ॥
भरतस्य च वीरस्य सार्वभौमस्य पार्थिव।
ध्रुवं प्राप्स्यसि दुष्प्रापाँल्लोकांस्तीर्थपरिप्लुतः ॥ ९ ॥

'भूपाल! भरतनन्दन! आप भी तीर्थोंमें नहाकर राजा कार्तवीर्य अर्जुन, राजर्षि अष्टक, लोमपाद और भूमण्डलमें सर्वत्र विदित सम्राट् वीरवर भरतको मिलनेवाले दुर्लभ लोकोंको अवश्य प्राप्त कर लेंगे ॥ ८-९ ॥

प्रभासादीनि तीर्थानि महेन्द्रादींश्च पर्वतान्।
गङ्गाद्याः सरितश्चैव प्लक्षादींश्च वनस्पतीन् ॥१०॥
त्वया सह महीपाल द्रष्टुमिच्छामहे वयम्।
यदि ते ब्राह्मणेष्वस्ति काचित् प्रीतिर्जनाधिप ॥११॥
कुरु क्षिप्रं वचोऽस्माकं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे।

'महीपाल! प्रभास आदि तीर्थों, महेन्द्र आदि पर्वतों, गङ्गा आदि नदियों तथा प्लक्ष आदि वृक्षोंका हम आपके साथ दर्शन करना चाहते हैं। जनेश्वर! यदि आपके मनमें ब्राह्मणोंके प्रति कुछ प्रेम है तो आप हमारी बात शीघ्र मान लीजिये; इससे आपका कल्याण होगा ॥ १०-११½ ॥

तीर्थानि हि महाबाहो तपोविघ्नकरैः सदा ॥१२॥
अनुकीर्णानि रक्षोभिस्तेभ्यो नस्त्रातुमर्हसि।

'महाबाहो! तपस्यामें विघ्न डालनेवाले बहुत-से राक्षस उन तीर्थोंमें भरे पड़े हैं, उनसे आप हमारी रक्षा करनेमें समर्थ हैं ॥ १२½ ॥

तीर्थान्युक्तानि धौम्येन नारदेन च धीमता ॥१३॥
यान्युवाच च देवर्षिर्लोमशः सुमहातपाः।
विधिवत् तानि सर्वाणि पर्यटस्व नराधिप ॥१४॥
धूतपाप्मा सहास्माभिर्लोमशेनाभिपालितः।

'नरेश्वर ! आप पापरहित हैं, धौम्य मुनि, परम बुद्धिमान् नारदजी तथा महातपस्वी देवर्षि लोमशने जिन-जिन तीर्थोंका वर्णन किया है, उन सबमें आप महर्षि लोमशजीसे सुरक्षित हो हमारे साथ विधिपूर्वक भ्रमण करें ॥ १३-१४½ ॥

स राजा पूज्यमानस्तैर्हर्षादश्रुपरिप्लुतः ॥१५॥
भीमसेनादिभिर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारितः।
बाढमित्यब्रवीत् सर्वांस्तानृषीन् पाण्डवर्षभः ॥१६॥
लोमशं समनुज्ञाप्य धौम्यं चैव पुरोहितम्।

पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपने वीर भ्राता भीमसेन आदिसे घिरकर खड़े थे। उन ब्राह्मणोंद्वारा इस प्रकार सम्मानित होनेपर उनके नेत्रोंमें हर्षके आँसू भर आये। उन्होंने देवर्षि लोमश तथा पुरोहित धौम्यजीकी आज्ञा लेकर उन सब ऋषियोंसे 'बहुत अच्छा' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ १५-१६½ ॥

ततः स पाण्डवश्रेष्ठो भ्रातृभिः सहितो वशी ॥१७॥
द्रौपद्या चानवद्याङ्ग्या गमनाय मनो दधे।

तदनन्तर मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयों तथा सुन्दर अङ्गोंवाली द्रौपदीके साथ यात्रा करनेका मन-ही-मन निश्चय किया ॥ १७½ ॥

अथ व्यासो महाभागस्तथा पर्वतनारदौ ॥१८॥
काम्यके पाण्डवं द्रष्टुं समाजग्मुर्मनीषिणः।
तेषां युधिष्ठिरो राजा पूजां चक्रे यथाविधि।
सत्कृतास्ते महाभागा युधिष्ठिरमथाब्रुवन् ॥१९॥

इतनेहीमें महाभाग व्यास, पर्वत और नारद आदि मनीषीजन काम्यकवनमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये आये। राजा युधिष्ठिरने उनकी विधिपूर्वक पूजा की। उनसे सत्कार पाकर वे महाभाग महर्षि महाराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले ॥१८-१९ ॥

ऋषय ऊचुः

युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुतार्जवम्।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि यास्यथ ॥२०॥

ऋषियोंने कहा—युधिष्ठिर ! भीमसेन ! नकुल ! और सहदेव ! तुमलोग तीर्थोंके प्रति मनसे श्रद्धापूर्वक सरलभाव रक्खो। मनसे शुद्धिका सम्पादन करके शुद्धचित्त होकर तीर्थोंमें जाओ ॥ २० ॥

शरीरनियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम्।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः ॥२१॥

ब्राह्मणलोग शरीर-शुद्धिके नियमको मानुषव्रत बताते हैं और मनके द्वारा शुद्ध की हुई बुद्धिको 'दैवव्रत' कहते हैं ॥

मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप।
मैत्रीं बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि द्रक्ष्यथ ॥२२॥

नरेश्वर ! यदि मन राग-द्वेषसे दूषित न हो तो वह शुद्धिके लिये पर्याप्त माना गया है। सब प्राणियोंके प्रति मैत्री-बुद्धिका आश्रय ले शुद्धभावसे तीर्थोंका दर्शन करो ॥ २२ ॥

ते यूयं मानसैः शुद्धाः शरीरनियमव्रतैः।
दैवं व्रतं समास्थाय यथोक्तं फलमाप्स्यथ ॥२३॥

तुम मानसिक और शारीरिक नियमव्रतोंसे शुद्ध हो। दैवव्रतका आश्रय ले यात्रा करोगे तो तीर्थोंका तुम्हें यथावत् फल प्राप्त होगा ॥ २३ ॥

ते तथेति प्रतिज्ञाय कृष्णया सह पाण्डवाः।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे मुनिभिर्दिव्यमानुषैः ॥२४॥

महर्षियोंके ऐसा कहनेपर द्रौपदीसहित पाण्डवोंने 'बहुत अच्छा' कहकर (उनकी आज्ञाएँ शिरोधार्य कीं और उनके बताये हुए नियमोंका पालन करनेकी) प्रतिज्ञा की। तत्पश्चात् उन दिव्य और मानव महर्षियोंने उन सबके लिये स्वस्तिवाचन किया ॥ २४ ॥

लोमशस्योपसंगृह्य पादौ द्वैपायनस्य च।
नारदस्य च राजेन्द्र देवर्षेः पर्वतस्य च ॥२५॥
धौम्येन सहिता वीरास्तथा तैर्वनवासिभिः।
मार्गशीर्ष्यामतीतायां पुष्येण प्रययुस्ततः ॥२६॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर महर्षि लोमश, द्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद और पर्वतके चरणोंका स्पर्श करके वनवासी ब्राह्मणों, पुरोहित धौम्य और लोमश आदिके साथ वीर पाण्डव तीर्थयात्राके लिये निकले। मार्गशीर्षकी पूर्णिमा व्यतीत होनेपर जब पुष्य नक्षत्र आया, तब उसी नक्षत्रमें उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की ॥ २५-२६ ॥

कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यन्वचरंस्ततः ॥२७॥

उन सबने शरीरपर फटे-पुराने वस्त्र या मृगचर्म धारण कर रखे थे। उनके मस्तकपर जटाएँ थीं। उनके अङ्ग अभेद्य कवचोंसे ढके हुए थे। वे सूर्यप्रदत्त बटलोई आदि पात्र लेकर वहाँ तीर्थोंमें विचरण करने लगे ॥ २७ ॥

इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः।
महानसव्यापृतैश्च तथान्यैः परिचारकैः ॥२८॥

उनके साथ इन्द्रसेन आदि चौदहसे अधिक सेवक रथ लिये पीछे-पीछे जा रहे थे। रसोईके काममें संलग्न रहनेवाले अन्यान्य सेवक भी उनके साथ थे ॥ २८ ॥

सायुधा बद्धनिस्त्रिंशास्तूणवन्तः समार्गणाः।
प्राङ्मुखाः प्रययुर्वीराः पाण्डवा जनमेजय ॥२९॥

जनमेजय ! वीर पाण्डव आवश्यक अस्त्र-शस्त्र ले कमरमें तलवार बाँधकर पीठपर तरकस कसे हुए हाथोंमें बाण लिये पूर्वदिशाकी ओर मुँह करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

देवताओं और धर्मात्मा राजाओंका उदाहरण देकर महर्षि लोमशका युधिष्ठिरको अधर्मसे हानि बताना और तीर्थयात्राजनित पुण्यकी महिमाका वर्णन करते हुए आश्वासन देना

युधिष्ठिर उवाच

न वै निर्गुणमात्मानं मन्ये देवर्षिसत्तम।
तथास्मि दुःखसंतप्तो यथा नान्यो महीपतिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—देवर्षिप्रवर लोमश ! मेरी समझसे मैं अपनेको सात्त्विक गुणोंसे हीन नहीं मानता तो भी दुःखोंसे इतना संतप्त होता रहता हूँ, जितना दूसरा कोई राजा नहीं हुआ होगा ॥ १ ॥

परांश्च निर्गुणान् मन्ये न च धर्मगतानपि।
ते च लोमश लोकेऽस्मिन्नृध्यन्ते केन हेतुना ॥ २ ॥

इसके सिवा, दुर्योधनादि शत्रुओंको सात्त्विक गुणोंसे रहित समझता हूँ। साथ ही यह भी जानता हूँ कि वे धर्म-परायण नहीं हैं तो भी वे इस लोकमें उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होते जा रहे हैं, इसका क्या कारण है ? ॥ २ ॥

लोमश उवाच

नात्र दुःखं त्वया राजन् कार्यं पार्थ कथंचन।
यदधर्मेण वर्धेयुरधर्मरुचयो जनाः ॥ ३ ॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! कुन्तीनन्दन ! अधर्ममें रुचि रखनेवाले लोग यदि उस अधर्मके द्वारा बढ़ रहे हों तो इसके लिये तुम्हें किसी प्रकार दुःख नहीं मानना चाहिये ॥ ३ ॥

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ४ ॥

पहले अधर्मद्वारा मनुष्य बढ़ सकता है, फिर अपने मनोऽनुकूल सुख-सम्पत्तिरूप अभ्युदयको देख सकता है, तत्पश्चात् वह शत्रुओंपर विजय पा सकता है और अन्तमें जड़-मूलसहित नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

मया हि दृष्टा दैतेया दानवाश्च महीपते।
वर्धमाना ह्यधर्मेण क्षयं चोपगताः पुनः ॥ ५ ॥

महीपाल ! मैंने दैत्यों और दानवोंको अधर्मके द्वारा बढ़ते और पुनः नष्ट होते भी देखा है ॥ ५ ॥

पुरा देवयुगे चैव दृष्टं सर्वं मया विभो।
अरोचयन् सुरा धर्मं धर्मं तत्यजिरेऽसुराः ॥ ६ ॥

प्रभो ! पहले देवयुगमें ही मैंने यह सब अपनी आँखों देखा है। देवताओंने धर्मके प्रति अनुराग किया और असुरोंने उसका परित्याग कर दिया ॥ ६ ॥

तीर्थानि देवा विविशुर्नाविशन् भारतासुराः।
तानधर्मकृतो दर्पः पूर्वमेव समाविशत् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! देवताओंने स्नानके लिये तीर्थोंमें प्रवेश किया, परंतु असुर उनमें नहीं गये। अधर्मजनित दर्प असुरोंमें पहलेसे ही समा गया था ॥ ७ ॥

दर्पान्मानः समभवन्मानात् क्रोधो व्यजायत।
क्रोधादह्रीस्ततोऽलज्जा वृत्तं तेषां ततोऽनशत् ॥ ८ ॥

दर्पसे मान हुआ और मानसे क्रोध उत्पन्न हुआ। क्रोधसे निर्लज्जता आयी और निर्लज्जताने उनके सदाचारको नष्ट कर दिया ॥

तानलज्जान् गतह्रीकान् हीनवृत्तान् वृथाव्रतान्।
क्षमा लक्ष्मीः स्वधर्मश्च न चिरात् प्रजहुस्ततः ॥ ९ ॥
लक्ष्मीस्तु देवानगमदलक्ष्मीरसुरान् नृप।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान् दर्पोपहतचेतसः ॥ १० ॥
दैतेयान् दानवांश्चैव कलिरप्याविशत् ततः।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान् दानवान् कलिना हतान् ॥ ११ ॥
दर्पाभिभूतान् कौन्तेय क्रियाहीनानचेतसः।
मानाभिभूतानचिराद् विनाशः समपद्यत ॥ १२ ॥

इस प्रकार लज्जा, संकोच और सदाचारसे हीन एवं निष्फल व्रतका आचरण करनेवाले उन असुरोंको क्षमा, लक्ष्मी और स्वधर्मने शीघ्र त्याग दिया। राजन् ! लक्ष्मी देवताओंके पास चली गयी और अलक्ष्मी असुरोंके यहाँ। अलक्ष्मीके आवेशसे युक्त होनेपर उनका चित्त दर्प और अभिमानसे दूषित हो

गया। उस दशामें उन दैत्यों और दानवोंमें कलिका भी प्रवेश हो गया। जब वे दानव अलक्ष्मीसे संयुक्त, कलिसे तिरस्कृत और अभिमानसे अभिभूत हो सत्कर्मोंसे शून्य, विवेकरहित और मानसे उन्मत्त हो गये, तब शीघ्र ही उनका विनाश हो गया ॥ ९—१२ ॥

निर्यशस्कास्तथा दैत्याः कृत्स्नशो विलयं गताः।
देवास्तु सागरांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ १३ ॥
अभ्यगच्छन् धर्मशीलाः पुण्यान्यायतनानि च।
तपोभिः क्रतुभिर्दानैराशीर्वादैश्च पाण्डव ॥ १४ ॥
प्रजहुः सर्वपापानि श्रेयश्च प्रतिपेदिरे।
एवमादानवन्तश्च निरादानाश्च सर्वशः ॥ १५ ॥
तीर्थान्यगच्छन् विबुधास्तेनापुर्भूतिमुत्तमाम्।
(यत्र धर्मेण वर्तन्ते राजानो राजसत्तम।
सर्वान् सपत्नान् बाधन्ते राज्यं चैषां विवर्धते ॥)
तथा त्वमपि राजेन्द्र स्नात्वा तीर्थेषु सानुजः ॥ १६ ॥
पुनर्वेत्स्यसि तां लक्ष्मीमेष पन्थाः सनातनः।

यशोहीन दैत्य पूर्णतः विनष्ट हो गये। किंतु धर्मशील देवताओंने पवित्र समुद्रों, सरिताओं, सरोवरों और पुण्यप्रद आश्रमोंकी यात्रा की। पाण्डुनन्दन ! वहाँ तपस्या, यज्ञ और दान आदि करके महात्माओंके आशीर्वादसे वे सब पापोंसे मुक्त हो कल्याणके भागी हुए। इस प्रकार उत्तम नियम ग्रहण करके किसीसे भी कोई प्रतिग्रह न लेकर देवताओंने तीर्थोंमें विचरण किया; इससे उन्हें उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्ति हुई। नृपश्रेष्ठ ! जहाँ राजा धर्मके अनुसार बर्ताव करते हैं, वहाँ वे सब शत्रुओंको नष्ट कर देते हैं और उनका राज्य भी बढ़ता रहता है। राजेन्द्र ! इसलिये तुम भी भाइयोंसहित तीर्थोंमें स्नान करके खोयी हुई राजलक्ष्मी प्राप्त कर लोगे। यही सनातन मार्ग है ॥ १३—१६½ ॥

यथैव हि नृगो राजा शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥
भगीरथो वसुमना गयः पूरुः पुरूरवाः।
चरमाणास्तपो नित्यं स्पर्शनादम्भसश्च ते ॥ १८ ॥
तीर्थाभिगमनात् पूता दर्शनाच्च महात्मनाम्।
अलभन्त यशः पुण्यं धनानि च विशाम्पते ॥ १९ ॥
तथा त्वमपि राजेन्द्र लब्धासि विपुलां श्रियम्।

जैसे राजा नृग, उशीनर पुत्र शिबि, भगीरथ, वसुमना, गय, पूरु तथा पुरूरवा आदि नरेशोंने सदा तपस्यापूर्वक तीर्थयात्रा करके वहाँके जलके स्पर्श और महात्माओंके दर्शनसे पावन यश और प्रचुर धन प्राप्त किये थे; उसी प्रकार तुम भी तीर्थ-यात्राके पुण्यसे विपुल सम्पत्ति प्राप्त कर लोगे ॥ १७—१९½ ॥

यथा चेक्ष्वाकुरभवत् सपुत्रजनबान्धवः ॥ २० ॥
मुचुकुन्दोऽथ मान्धाता मरुत्तश्च महीपतिः।
कीर्तिं पुण्यामविन्दन्त यथा देवास्तपोबलात् ॥ २१ ॥
देवर्षयश्च कात्स्न्र्येन तथा त्वमपि वेत्स्यसि।
धार्तराष्ट्रास्त्वधर्मेण मोहेन च वशीकृताः।
न चिराद् वै विनङ्क्ष्यन्ति दैत्या इव न संशयः ॥ २२ ॥

जैसे पुत्र, सेवक तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा इक्ष्वाकु, मुचुकुन्द, मान्धाता तथा महाराज मरुत्तने पुण्यकीर्ति प्राप्त की थी, जैसे देवताओं और देवर्षियोंने तपोबलसे यश और ऐश्वर्य प्राप्त किया था; उसी प्रकार तुम भी पूर्णरूपसे यश और धन-सम्पत्ति प्राप्त करोगे। धृतराष्ट्रके पुत्र पाप और मोहके वशीभूत हैं; अतः वे दैत्योंकी भाँति शीघ्र नष्ट हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है ॥ २०–२२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

पाण्डवोंका नैमिषारण्य आदि तीर्थोंमें जाकर प्रयाग तथा गयातीर्थमें जाना और गय राजाके महान् यज्ञोंकी महिमा सुनना

वैशम्पायन उवाच

ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्र तत्र ह।
क्रमेण पृथिवीपाल नैमिषारण्यमागताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार वे वीर पाण्डव विभिन्न स्थानोंमें निवास करते हुए क्रमशः नैमिषारण्य तीर्थमें आये ॥ १ ॥

ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गोमत्याः पाण्डवा नृप।
कृताभिषेकाः प्रददुर्गाश्च वित्तं च भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! नरेश्वर ! तदनन्तर गोमतीके पुण्यतीर्थोंमें स्नान करके पाण्डवोंने वहाँ गोदान और धनदान किया ॥*

* यहाँ पाण्डवोंके द्वारा गोदान और धनदान करनेके विषयमें यह शङ्का होती है कि इनके पास ये सब कहाँसे आये, पर ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वनपर्वके बारहवें अध्यायमें आता है कि काम्यकवनमें पाण्डवोंसे मिलनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण एवं भोजवंशी, वृष्णिवंशी और अन्धक कुलके राजागण तथा द्रुपद, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु एवं केकय राजकुमार आये थे। उनका पाण्डवोंसे मिलकर

तत्र देवान् पितॄन् विप्रांस्तर्पयित्वा पुनः पुनः ।
कन्यातीर्थेऽश्वतीर्थे च गवां तीर्थे च भारत ।
कालकोट्यां वृषप्रस्थे गिरावुष्य च पाण्डवाः ॥ ३ ॥
बाहुदायां महीपाल चक्रुः सर्वेऽभिषेचनम् ।
प्रयागे देवयजने देवानां पृथिवीपते ॥ ४ ॥
ऊषुराप्लुत्य गात्राणि तपश्चातस्थुरुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोश्चैव संगमे सत्यसंगराः ॥ ५ ॥

भारत ! भूपाल ! वहाँ देवताओं, पितरों तथा ब्राह्मणोंको बार-बार तृप्त करके कन्यातीर्थ, अश्वतीर्थ, गोतीर्थ, कालकोटि तथा वृषप्रस्थगिरिमें निवास करते हुए उन सब पाण्डवोंने बाहुदा नदीमें स्नान किया । पृथ्वीपते ! तदनन्तर उन्होंने देवताओंकी यज्ञभूमि प्रयागमें पहुँचकर वहाँ गङ्गा-यमुनाके संगममें स्नान किया । सत्यप्रतिज्ञ पाण्डव वहाँ स्नान करके कुछ दिनोंतक उत्तम तपस्यामें लगे रहे ॥ ३-५ ॥

विपाप्मानो महात्मानो विप्रेभ्यः प्रददुर्वसु ।
तपस्विजनजुष्टां च ततो वेदीं प्रजापतेः ॥ ६ ॥
जग्मुः पाण्डुसुता राजन् ब्राह्मणैः सह भारत ।
तत्र ते न्यवसन् वीरास्तपश्चातस्थुरुत्तमम् ॥ ७ ॥
संतर्पयन्तः सततं वन्येन हविषा द्विजान् ।

उन पापरहित महात्माओंने (त्रिवेणीतटपर) ब्राह्मणोंको धन दान किया ।* भरतनन्दन ! तत्पश्चात् पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ ब्रह्माजीकी वेदीपर गये, जो तपस्वीजनोंसे सेवित है । वहाँ उन वीरोंने उत्तम तपस्या करते हुए निवास किया । वे सदा कन्द-मूल-फल आदि वन्य हविष्यद्वारा ब्राह्मणोंको तृप्त करते रहते थे ॥ ६—७½ ॥

ततो महीधरं जग्मुर्धर्मज्ञेनाभिसंस्कृतम् ॥ ८ ॥
राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनानुपमद्युते ।

अनुपम तेजस्वी जनमेजय ! प्रयागसे चलकर पाण्डव पुण्यात्मा एवं धर्मज्ञ राजर्षि गयके द्वारा यज्ञ करके शुद्ध किये हुए उत्तम पर्वतसे उपलक्षित गयातीर्थमें गये ॥ ८½ ॥

नगो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी ॥ ९ ॥
वानीरमालिनी रम्या नदी पुलिनशोभिता ।

जहाँ गयशिर नामक पर्वत और बेंतकी पंक्तियोंसे घिरी हुई रमणीय महानदी है, जो अपने दोनों तटोंसे विशेष शोभा पाती है ॥ ९½ ॥

दिव्यं पवित्रकूटं च पवित्रं धरणीधरम् ॥ १० ॥
ऋषिजुष्टं सुपुण्यं तत् तीर्थं ब्रह्मसरोत्तमम् ।
अगस्त्यो भगवान् यत्र गतो वैवस्वतं प्रति ॥ ११ ॥

वहाँ महर्षियोंसे सेवित, पावन शिखरोंवाला, दिव्य एवं पवित्र दूसरा पर्वत भी है, जो अत्यन्त पुण्यदायक तीर्थ है । वहीं उत्तम ब्रह्मसरोवर है, जहाँ भगवान् अगस्त्यमुनि वैवस्वत यमसे मिलनेके लिये पधारे थे ॥ १०-११ ॥

उवास च स्वयं तत्र धर्मराजः सनातनः ।
सर्वासां सरितां चैव समुद्भेदो विशाम्पते ॥ १२ ॥

क्योंकि सनातन धर्मराज वहाँ स्वयं निवास करते हैं । राजन् ! वहाँ सम्पूर्ण नदियोंका प्राकट्य हुआ है ॥ १२ ॥

यत्र संनिहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक् ।
तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यैस्तदेजिरे ॥ १३ ॥
ऋषियज्ञेन महता यत्राक्षयवटो महान् ।

पिनाकपाणि भगवान् महादेव उस तीर्थमें नित्य निवास करते हैं । वहाँ वीर पाण्डवोंने उन दिनों चातुर्मास्यव्रत ग्रहण करके महान् ऋषियज्ञ अर्थात् वेदादि सत् शास्त्रोंके स्वाध्यायद्वारा भगवान्‌की आराधना की । वहीं महान् अक्षयवट है ॥ १३½ ॥

अक्षये देवयजने अक्षयं यत्र वै फलम् ॥ १४ ॥

देवताओंकी वह यज्ञभूमि अक्षय है और वहाँ किये हुए प्रत्येक सत्कर्मका फल अक्षय होता है ॥ १४ ॥

ते तु तत्रोपवासांस्तु चक्रुर्निश्चितमानसाः ।
ब्राह्मणास्तत्र शतशः समाजग्मुस्तपोधनाः ॥ १५ ॥

अविचल चित्तवाले पाण्डवोंने उस तीर्थमें कई उपवास किये । उस समय वहाँ सैकड़ों तपस्वी ब्राह्मण पधारे ॥ १५ ॥

चातुर्मास्येनायजन्त आर्षेण विधिना तदा ।
तत्र विद्यातपोवृद्धा ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
कथां प्रचक्रिरे पुण्यां सदसिस्था महात्मनाम् ॥ १६ ॥

उन्होंने शास्त्रोक्त विधिपूर्वक चातुर्मास्य यज्ञ किया । वहाँ आये हुए ब्राह्मण विद्या और तपस्यामें बढ़े-चढ़े तथा वेदोंके पारंगत विद्वान् थे । उन्होंने परस्पर मिलकर सभामें बैठकर महात्मा पुरुषोंकी पवित्र कथाएँ कहीं ॥ १६ ॥

तत्र विद्याव्रतस्नातः कौमारं व्रतमास्थितः ।
शमठोऽकथयद् राजन्नामूर्तरयसं गयम् ॥ १७ ॥

उनमें शमठ नामक एक विद्वान् ब्राह्मण थे, जो विद्याध्ययनका व्रत समाप्त करके स्नातक हो चुके थे । उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यपालनका व्रत ले रखा था । राजन् ! शमठने वहाँ अमूर्तरयाके पुत्र महाराज गयकी कथा इस प्रकार कही ॥ १७ ॥

शमठ उवाच

अमूर्तरयसः पुत्रो गयो राजर्षिसत्तमः ।
पुण्यानि यस्य कर्माणि तानि मे श्रृणु भारत ॥ १८ ॥

* अपने-अपने राज्यमें लौट जानेका भी वर्णन वनपर्वके बाईसवें अध्यायमें आया है । इससे अनुमान होता है कि इन राजाओंने पाण्डवोंको भेंटमें प्रचुर धन दिया होगा ।

शमठ बोले--भरतनन्दन युधिष्ठिर ! अमूर्तरयाके पुत्र गय राजर्षियोंमें श्रेष्ठ थे । उनके कर्म बड़े ही पवित्र एवं पावन थे । मैं उनका वर्णन करता हूँ, सुनो--॥ १८ ॥

यस्य यज्ञो बभूवेह बह्वन्नो बहुदक्षिणः ।
यत्रान्नपर्वता राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥
घृतकुल्याश्च दध्नश्च नद्यो बहुशतास्तथा ।
व्यञ्जनानां प्रवाहाश्च महार्हाणां सहस्रशः ॥ २० ॥

राजन् ! यहाँ राजा गयने बड़ा भारी यज्ञ किया था। उसमें बहुत अन्न खर्च हुआ था और असंख्य दक्षिणा बाँटी गयी थी। उस यज्ञमें अन्नके सैकड़ों और हजारों पर्वत लग गये थे। घीके कई सौ कुण्ड और दहीकी नदियाँ बहती थीं। सहस्रों प्रकारके उत्तमोत्तम व्यञ्जनोंकी बाढ़-सी आ गयी थी ॥ १९-२० ॥

अहन्यहनि चाप्येवं याचतां सम्प्रदीयते ।
अन्ये च ब्राह्मणा राजन् भुञ्जतेऽन्नं सुसंस्कृतम् ॥ २१ ॥

याचकोंको प्रतिदिन इसी प्रकार भोजन और दान दिया जाता था। राजन् ! अन्यान्य ब्राह्मण भी वहाँ उत्तम रीतिसे तैयारकी हुई रसोई जीमते थे ॥ २१ ॥

तत्र वै दक्षिणाकाले ब्रह्मघोषो दिवं गतः ।
न च प्रज्ञायते किंचिद् ब्रह्मशब्देन भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! उस यज्ञमें दक्षिणा देते समय जो वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि होती थी, वह स्वर्गलोकतक गूँज उठती थी। उस वेदध्वनिके सामने दूसरा कोई शब्द नहीं सुनायी पड़ता था ॥ २२ ॥

पुण्येन चरता राजन् भूर्दिशः खं नभस्तथा ।
आपूर्णमासीच्छब्देन तदप्यासीन्महाद्भुतम् ॥ २३ ॥
यत्र स्म गाथा गायन्ति मनुष्या भरतर्षभ ।
अन्नपानैः शुभैस्तृप्ता देशे देशे सुवर्चसः ॥ २४ ॥

राजन् ! वहाँ सब ओर फैले हुए पुण्यमय शब्दसे पृथ्वी, दिशाएँ, स्वर्ग और आकाश परिपूर्ण हो गये। यह बड़ी ही अद्भुत बात थी। भरतश्रेष्ठ ! उस यज्ञमें सब मनुष्य यह गाथा गाते रहते थे कि 'इस यज्ञमें देश-देशके अत्यन्त तेजस्वी पुरुष उत्तम अन्नपानसे तृप्त हो रहे हैं ॥ २३-२४ ॥

गयस्य यज्ञे के त्वद्य प्राणिनो भोक्तुमीप्सवः ।
तत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः ॥ २५ ॥

'गयके यज्ञमें लोग यही पूछते फिरते थे कि 'कौन-कौन ऐसे प्राणी रह गये हैं, जो अभी भोजन करना चाहते हैं ?' वहाँ खानेसे बचे हुए अन्नके पचीस पर्वत शेष रह गये थे ॥२५॥

न तत् पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
गयो यदकरोद् यज्ञे राजर्षिरमितद्युतिः ॥ २६ ॥

'अमिततेजस्वी राजर्षि गयने अपने यज्ञमें जो व्यय किया था, वह पहलेके राजाओंने भी नहीं किया था और भविष्यमें भी कोई दूसरे कर सकेंगे, ऐसा सम्भव नहीं है ॥ २६ ॥

कथं तु देवा हविषा गयेन परितर्पिताः ।
पुनः शक्ष्यन्त्युपादातुमन्यैर्दत्तानि कानिचित् ॥ २७ ॥

'गयने सम्पूर्ण देवताओंको हविष्यसे भलीभाँति तृप्त कर दिया है, अब वे दूसरोंके दिये हुए हविष्यको कैसे ग्रहण कर सकेंगे ? ॥ २७ ॥

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ।
तथा गणयितुं शक्या गययज्ञे न दक्षिणाः ॥ २८ ॥

'जैसे लोकमें बालूके कण, आकाशके तारे और बरसते हुए बादलोंकी जलधाराएँ किसीके द्वारा भी गिनी नहीं जा सकतीं, उसी प्रकार गयके यज्ञमें दी हुई दक्षिणाओंकी भी कोई गणना नहीं कर सकता था' ॥ २८ ॥

एवंविधाः सुबहवस्तस्य यज्ञा महीपतेः ।
बभूवुरस्य सरसः समीपे कुरुनन्दन ॥ २९ ॥

कुरुनन्दन ! महाराज गयके ऐसे ही बहुत-से यज्ञ इस ब्रह्मसरोवरके समीप सम्पन्न हुए हैं ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गययज्ञकथने पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें 'गयके यज्ञका वर्णन' विषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

इल्वल और वातापिका वर्णन, महर्षि अगस्त्यका पितरोंके उद्धारके लिये विवाह करनेका विचार तथा विदर्भराजका महर्षि अगस्त्यसे एक कन्या पाना

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्प्रस्थितो राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिणः ।
अगस्त्याश्रममासाद्य दुर्जयायामुवास ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने गयासे प्रस्थान किया और अगस्त्याश्रममें जाकर दुर्जय मणिमती नगरीमें निवास किया ॥ १ ॥

तत्रैव लोमशं राजा पप्रच्छ वदतां वरः।
अगस्त्येनेह वातापिः किमर्थमुपशामितः ॥ २ ॥

वहीं वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने महर्षि लोमशसे पूछा—'ब्रह्मन् ! अगस्त्यजीने यहाँ वातापिको किसलिये नष्ट किया ? ॥ २ ॥

आसीद् वा किं प्रभावश्च स दैत्यो मानवान्तकः।
किमर्थं चोदितो मन्युरगस्त्यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

'मनुष्योंका विनाश करनेवाले उस दैत्यका प्रभाव कैसा था ? और महात्मा अगस्त्यजीके मनमें क्रोधका उदय कैसे हुआ' ? ॥ ३ ॥

लोमश उवाच

इल्वलो नाम दैतेय आसीत् कौरवनन्दन।
मणिमत्यां पुरि पुरा वातापिस्तस्य चानुजः ॥ ४ ॥

लोमशजीने कहा—कौरवनन्दन ! पूर्वकालकी बात है, इस मणिमती नगरीमें इल्वल नामक दैत्य रहता था। वातापि उसीका छोटा भाई था ॥ ४ ॥

स ब्राह्मणं तपोयुक्तमुवाच दितिनन्दनः।
पुत्रं मे भगवानेकमिन्द्रतुल्यं प्रयच्छतु ॥ ५ ॥
तस्मै स ब्राह्मणो नादात् पुत्रं वासवसम्मितम्।
चुक्रोध सोऽसुरस्तस्य ब्राह्मणस्य ततो भृशम् ॥ ६ ॥
तदाप्रभृति राजेन्द्र इल्वलो ब्रह्महासुरः।
मन्युमान् भ्रातरं छागं मायावी ह्यकरोत् ततः ॥ ७ ॥
मेषरूपी च वातापिः कामरूप्यभवत् क्षणात्।
संस्कृत्य च भोजयति ततो विप्रं जिघांसति ॥ ८ ॥

एक दिन दितिनन्दन इल्वलने एक तपस्वी ब्राह्मणसे कहा—'भगवन् ! आप मुझे ऐसा पुत्र दें, जो इन्द्रके समान पराक्रमी हो।' उन ब्राह्मणदेवताने इल्वलको इन्द्रके समान पुत्र नहीं दिया। इससे वह असुर उन ब्राह्मणदेवतापर बहुत कुपित हो उठा। राजन् ! तभीसे इल्वल दैत्य क्रोधमें भरकर ब्राह्मणोंकी हत्या करने लगा। वह मायावी अपने भाई वातापिको मायासे बकरा बना देता था। वातापि भी इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ था ! अतः वह क्षणभरमें भेड़ा और बकरा बन जाता था। फिर इल्वल उस भेड़ या बकरेको पकाकर उसका मांस राँधता और किसी ब्राह्मणको खिला देता था। इसके बाद वह ब्राह्मणको मारनेकी इच्छा करता था॥

स चाह्वयति यं वाचा गतं वैवस्वतक्षयम्।
स पुनर्देहमास्थाय जीवन् स्म प्रत्यदृश्यत ॥ ९ ॥

इल्वलमें यह शक्ति थी कि वह जिस किसी भी यमलोकमें गये हुए प्राणीको उसका नाम लेकर बुलाता, वह पुनः शरीर धारण करके जीवित दिखायी देने लगता था ॥ ९ ॥

ततो वातापिमसुरं छागं कृत्वा सुसंस्कृतम्।
तं ब्राह्मणं भोजयित्वा पुनरेव समाह्वयत् ॥ १० ॥

उस दिन वातापि दैत्यको बकरा बनाकर इल्वल उसके मांसका संस्कार किया और उन ब्राह्मणदेवको वह मांस खिलाकर पुनः अपने भाईको पुकारा ॥ १० ॥

तामिल्वलेन महता स्वरेण वाचमीरिताम्।
श्रुत्वातिमायो बलवान् क्षिप्रं ब्राह्मणकण्टकः ॥ ११ ॥
तस्य पार्श्वं विनिर्भिद्य ब्राह्मणस्य महासुरः।
वातापिः प्रहसन् राजन् निश्चक्राम विशाम्पते ॥ १२ ॥

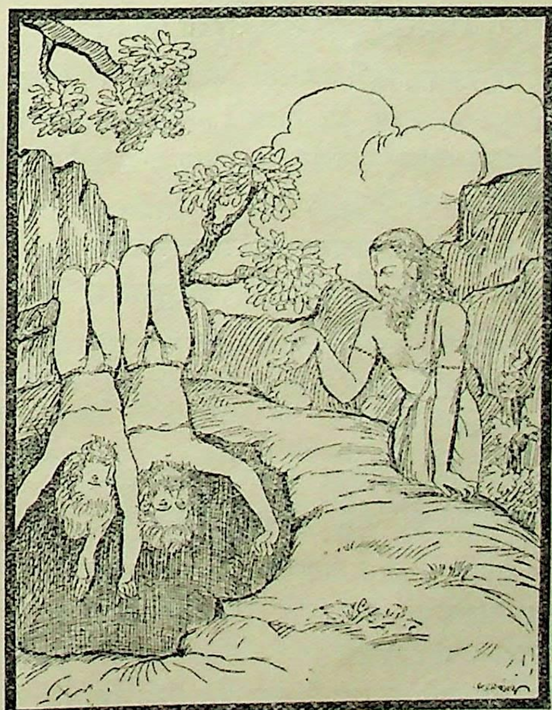
राजन् ! इल्वलके द्वारा उच्च स्वरसे बोली हुई वाणी सुनकर वह अत्यन्त मायावी ब्राह्मणशत्रु बलवान् महादैत्य वातापि उस ब्राह्मणकी पसलीको फाड़कर हँसता हुआ निकल आया ॥

एवं स ब्राह्मणान् राजन् भोजयित्वा पुनः पुनः।
हिंसयामास दैतेय इल्वलो दुष्टचेतनः ॥ १३ ॥

राजन् ! इस प्रकार दुष्टहृदय इल्वल दैत्य बार-बार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर अपने भाईद्वारा उनकी हिंसा करा देता था (इसीलिये अगस्त्यमुनिने वातापिको नष्ट किया था)॥

अगस्त्यश्चापि भगवानेतस्मिन् काल एव तु।
पितॄन् ददर्श गर्ते वै लम्बमानानधोमुखान् ॥ १४ ॥

इन्हीं दिनों भगवान् अगस्त्यमुनि कहीं चले जा रहे थे। उन्होंने एक जगह अपने पितरोंको देखा, जो एक गड्ढेमें नीचे मुँह किये लटक रहे थे ॥ १४ ॥



सोऽपृच्छल्लम्बमानांस्तान् भवन्त इव कम्पिताः ।
(किमर्थं वेह लम्बध्वं गर्ते यूयमधोमुखाः ।)
संतानहेतोरिति ते प्रत्यूचुर्ब्रह्मवादिनः ॥१५॥

तब उन लटकते हुए पितरोंसे अगस्त्यजीने पूछा—'आपलोग यहाँ किसलिये नीचे मुँह किये काँपते हुए-से लटक रहे हैं?' यह सुनकर उन वेदवादी पितरोंने उत्तर दिया—'संतानपरम्पराके लोपकी सम्भावनाके कारण हमारी यह दुर्दशा हो रही है' ॥ १५ ॥

ते तस्मै कथयामासुर्वयं ते पितरः स्वकाः ।
गर्तमेतमनुप्राप्ता लम्बामः प्रसवार्थिनः ॥१६॥

उन्होंने अगस्त्यके पूछनेपर बताया कि 'हम तुम्हारे ही पितर हैं। संतानके इच्छुक होकर इस गड्ढेमें लटक रहे हैं ॥

यदि नो जनयेथास्त्वमगस्त्यापत्यमुत्तमम् ।
स्यान्नोऽस्मान्निरयान्मोक्षस्त्वं च पुत्राप्नुया गतिम् ॥१७॥

'अगस्त्य! यदि तुम हमारे लिये उत्तम संतान उत्पन्न कर सको तो हम इस नरकसे छुटकारा पा सकते हैं और बेटा! तुम्हें भी सद्गति प्राप्त होगी' ॥ १७ ॥

स तानुवाच तेजस्वी सत्यधर्मपरायणः ।
करिष्ये पितरः कामं व्येतु वो मानसो ज्वरः ॥१८॥

तब सत्यधर्मपरायण तेजस्वी अगस्त्यने उनसे कहा—'पितरो! मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा। आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये' ॥ १८ ॥

ततः प्रसवसंतानं चिन्तयन् भगवानृषिः ।
आत्मनः प्रसवस्यार्थे नापश्यत् सदृशीं स्त्रियम् ॥१९॥

तब भगवान् महर्षि अगस्त्यने संतानोत्पादनकी चिन्ता करते हुए अपने अनुरूप संतानको गर्भमें धारण करनेके लिये योग्य पत्नीका अनुसंधान किया परंतु उन्हें कोई योग्य स्त्री दिखायी नहीं दी ॥ १९ ॥

स तस्य तस्य सत्त्वस्य तत् तदङ्गमनुत्तमम् ।
संगृह्य तत्समैरङ्गैर्निर्ममे स्त्रियमुत्तमाम् ॥२०॥

तब उन्होंने एक-एक जन्तुके उत्तमोत्तम अङ्गोंका भावना-द्वारा संग्रह करके उन सबके द्वारा एक परम सुन्दर स्त्रीका निर्माण किया ॥ २० ॥

स तां विदर्भराजस्य पुत्रार्थं तप्यतस्तपः ।
निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः ॥२१॥

उन दिनों विदर्भराज पुत्रके लिये तपस्या कर रहे थे। महातपस्वी अगस्त्यमुनिने अपने लिये निर्मित की हुई वह स्त्री राजाको दे दी ॥ २१ ॥

सा तत्र जज्ञे सुभगा विद्युत् सौदामनी यथा ।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्धत शुभानना ॥२२॥

उस सुन्दरी कन्याका उस राजभवनमें बिजलीके समान प्रादुर्भाव हुआ। वह शरीरसे प्रकाशमान हो रही थी। उसका मुख बहुत सुन्दर था, वह राजकन्या वहाँ दिनोंदिन बढ़ने लगी ॥२२॥

जातमात्रां च तां दृष्ट्वा वैदर्भः पृथिवीपतिः ।
प्रहर्षेण द्विजातिभ्यो न्यवेदयत भारत ॥२३॥

भरतनन्दन! राजा विदर्भने उस कन्याके उत्पन्न होते ही हर्षमें भरकर ब्राह्मणोंको यह शुभ संवाद सुनाया ॥ २३ ॥

अभ्यनन्दन्त तां सर्वे ब्राह्मणा वसुधाधिप ।
लोपामुद्रेति तस्याश्च चक्रिरे नाम ते द्विजाः ॥२४॥

राजन्! उस समय सब ब्राह्मणोंने राजाका अभिनन्दन किया और उस कन्याका नाम 'लोपामुद्रा' रख दिया ॥ २४ ॥

ववृधे सा महाराज बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
अप्स्विवोत्पलिनी शीघ्रमग्नेरिव शिखा शुभा ॥२५॥

महाराज! उत्तम रूप धारण करनेवाली वह राजकुमारी जलमें कमलिनी तथा यज्ञवेदीपर प्रज्वलित शुभ्र अग्निशिखाकी भाँति शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगी ॥ २५ ॥

तां यौवनस्थां राजेन्द्र शतं कन्याः स्वलंकृताः ।
दास्यः शतं च कल्याणीमुपातस्थुर्वशानुगाः ॥२६॥

राजेन्द्र! जब उसने युवावस्थामें पदार्पण किया, उस समय उस कल्याणी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सौ सुन्दरी कन्याएँ और सौ दासियाँ उसकी आज्ञाके अधीन होकर घेरे रहतीं और उसकी सेवा किया करती थीं ॥ २६ ॥

सा स्म दासीशतवृता मध्ये कन्याशतस्य च ।
आस्ते तेजस्विनी कन्या रोहिणीव दिवि प्रभा ॥२७॥

सौ दासियों और सौ कन्याओंके बीचमें वह तेजस्विनी कन्या आकाशमें सूर्यकी प्रभा तथा नक्षत्रोंमें रोहिणीके समान सुशोभित होती थी ॥ २७ ॥

यौवनस्थामपि च तां शीलाचारसमन्विताम् ।
न वव्रे पुरुषः कश्चिद् भयात् तस्य महात्मनः ॥२८॥

यद्यपि वह युवती और शील एवं सदाचारसे सम्पन्न थी तो भी महात्मा अगस्त्यके भयसे किसी राजकुमारने उसका वरण नहीं किया ॥ २८ ॥

सा तु सत्यवती कन्या रूपेणाप्सरसोऽप्यति ।
तोषयामास पितरं शीलेन स्वजनं तथा ॥२९॥

वह सत्यवती राजकुमारी रूपमें अप्सराओंसे भी बढ़कर थी। उसने अपने शील-स्वभावसे पिता तथा स्वजनोंको संतुष्ट कर दिया था ॥ २९ ॥

वैदर्भीं तु तथायुक्तां युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता ।

मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम् ॥ ३० ॥

पिता विदर्भराजकुमारीको युवावस्थामें प्रविष्ट हुई देख मन-ही-मन यह विचार करने लगे कि 'इस कन्याका किसके साथ विवाह करूँ' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां अगस्त्योपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

महर्षि अगस्त्यका लोपामुद्रासे विवाह, गङ्गाद्वारमें तपस्या एवं पत्नीकी इच्छासे धनसंग्रहके लिये प्रस्थान

लोमश उवाच

यदा त्वमन्यतागस्त्यो गार्हस्थ्ये तां क्षमामिति ।
तदाभिगम्य प्रोवाच वैदर्भं पृथिवीपतिम् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब मुनिवर अगस्त्यजीको यह मालूम हो गया कि विदर्भराजकुमारी मेरी गृहस्थी चलानेके योग्य हो गयी है, तब वे विदर्भनरेशके पास जाकर बोले— ॥

राजन् निवेशे बुद्धिर्मे वर्तते पुत्रकारणात् ।
वरये त्वां महीपाल लोपामुद्रां प्रयच्छ मे ॥ २ ॥

'राजन् ! पुत्रोत्पत्तिके लिये मेरा विवाह करनेका विचार है। अतः महीपाल ! मैं आपकी कन्याका वरण करता हूँ । आप लोपा-मुद्राको मुझे दे दीजिये' ॥ २ ॥

एवमुक्तः स मुनिना महीपालो विचेतनः ।
प्रत्याख्यानाय चाशक्तः प्रदातुं चैव नैच्छत ॥ ३ ॥

मुनिवर अगस्त्यके ऐसा कहनेपर विदर्भराजके होश उड़ गये । वे न तो अस्वीकार कर सके और न उन्होंने अपनी कन्या देनेकी इच्छा ही की ॥ ३ ॥

ततः स भार्यामभ्येत्य प्रोवाच पृथिवीपतिः ।
महर्षिर्वीर्यवानेष क्रुद्धः शापाग्निना दहेत् ॥ ४ ॥

तब विदर्भनरेश अपनी पत्नीके पास जाकर बोले—'प्रिये ! ये महर्षि अगस्त्य बड़े शक्तिशाली हैं। यदि कुपित हों तो हमें शापकी अग्निसे भस्म कर सकते हैं' ॥ ४ ॥

तं तथा दुःखितं दृष्ट्वा सभार्यं पृथिवीपतिम् ।
लोपामुद्राभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

रानीसहित महाराजको इस प्रकार दुखी देख लोपामुद्रा उनके पास गयी और समयके अनुसार इस प्रकार बोली— ॥

न मत्कृते महीपाल पीडामभ्येतुमर्हसि ।
प्रयच्छ मामगस्त्याय त्राह्यात्मानं मया पितः ॥ ६ ॥

'राजन् ! आपको मेरे लिये दुःख नहीं मानना चाहिये । पिताजी ! आप मुझे अगस्त्यजीकी सेवामें दे दें और मेरे द्वारा अपनी रक्षा करें' ॥ ६ ॥

दुहितुर्वचनाद् राजा सोऽगस्त्याय महात्मने ।
लोपामुद्रां ततः प्रादाद् विधिपूर्वं विशाम्पते ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! पुत्रीकी यह बात सुनकर राजाने महात्मा अगस्त्यमुनिको विधिपूर्वक अपनी कन्या लोपामुद्रा ब्याह दी ॥

प्राप्य भार्यामगस्त्यस्तु लोपामुद्रामभाषत ।
महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥

लोपामुद्राको पत्नीरूपमें पाकर महर्षि अगस्त्यने उससे कहा—'ये तुम्हारे वस्त्र और आभूषण बहुमूल्य हैं। इन्हें उतार दो' ॥ ८ ॥

ततः सा दर्शनीयानि महार्हाणि तनूनि च ।
समुत्ससर्ज रम्भोरुर्वसनान्यायतेक्षणा ॥ ९ ॥
ततश्चीराणि जग्राह वल्कलान्यजिनानि च ।
समानव्रतचर्या च बभूवायतलोचना ॥ १० ॥

तब कदलीके समान जाँघ तथा विशाल नेत्रोंवाली लोपामुद्राने अपने बहुमूल्य, महीन एवं दर्शनीय वस्त्र उतार दिये और फटे-पुराने वस्त्र तथा वल्कल और मृगचर्म धारण कर लिये । वह विशालनयनी बाला पतिके समान ही व्रत और आचारका पालन करनेवाली हो गयी ॥ ९-१० ॥

गङ्गाद्वारमथागम्य भगवानृषिसत्तमः ।
उग्रमातिष्ठत तपः सह पत्न्यानुकूलया ॥ ११ ॥

तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ भगवान् अगस्त्य अपनी अनुकूल पत्नीके साथ गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में आकर घोर तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ ११ ॥

सा प्रीता बहुमानाच्च पतिं पर्यचरत् तदा ।
अगस्त्यश्च परां प्रीतिं भार्यायामचरत् प्रभुः ॥ १२ ॥

लोपामुद्रा बड़ी ही प्रसन्नता और विशेष आदरके साथ पतिदेवकी सेवा करने लगी । शक्तिशाली महर्षि अगस्त्यजी भी अपनी पत्नीपर बड़ा प्रेम रखते थे ॥ १२ ॥

ततो बहुतिथे काले लोपामुद्रां विशाम्पते ।
तपसा द्योतितां स्नातां ददर्श भगवानृषिः ॥ १३ ॥
स तस्याः परिचारेण शौचेन च दमेन च ।
श्रिया रूपेण च प्रीतो मैथुनायाजुहाव ताम् ॥ १४ ॥

राजन् ! जब इसी प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया, तब एक दिन भगवान् अगस्त्यमुनिने ऋतुस्नानसे निवृत्त हुई पत्नी लोपामुद्राको देखा। वह तपस्याके तेजसे प्रकाशित हो रही थी। महर्षिने अपनी पत्नीकी सेवा, पवित्रता, इन्द्रिय-संयम, शोभा तथा रूप-सौन्दर्यसे प्रसन्न होकर उसे मैथुनके लिये पास बुलाया ॥ १३-१४ ॥

ततः सा प्राञ्जलिर्भूत्वा लज्जमानेव भाविनी।
तदा सप्रणयं वाक्यं भगवन्तमथाब्रवीत् ॥१५॥

तब अनुरागिणी लोपामुद्रा कुछ लज्जित-सी हो हाथ जोड़-कर बड़े प्रेमसे भगवान् अगस्त्यसे बोली—॥ १५ ॥

असंशयं प्रजाहेतोर्भार्यां पतिरविन्दत।
या तु त्वयि मम प्रीतिस्तामृषे कर्तुमर्हसि ॥१६॥

'महर्षे ! इसमें संदेह नहीं कि पतिदेवने अपनी इस पत्नीको संतानके लिये ही ग्रहण किया है, परंतु आपके प्रति मेरे हृदयमें जो प्रीति है, वह भी आपको सफल करनी चाहिये ॥ १६ ॥

यथा पितुर्गृहे विप्र प्रासादे शयनं मम।
तथाविधे त्वं शयने मामुपैतुमिहार्हसि ॥१७॥

'ब्रह्मन् ! मैं अपने पिताके घर उनके महलमें जैसी शय्यापर सोया करती थी, वैसी ही शय्यापर आप मेरे साथ समागम करें ॥



इच्छामि त्वां स्रग्विणं च भूषणैश्च विभूषितम्।
उपसर्तुं यथाकामं दिव्याभरणभूषिता ॥१८॥

'मैं चाहती हूँ कि आप सुन्दर हार और आभूषणों-से विभूषित हों और मैं भी दिव्य अलंकारोंसे अलंकृत हो इच्छानुसार आपके साथ समागम-सुखका अनुभव करूँ ॥

अन्यथा नोपतिष्ठेयं चीरकाषायवासिनी।
नैवापवित्रो विप्रर्षे भूषणोऽयं कथंचन ॥१९॥

'अन्यथा मैं यह जीर्ण-शीर्ण काषाय-वस्त्र पहनकर आपके साथ समागम नहीं करूँगी। ब्रह्मर्षे ! तपस्वीजनोंका यह पवित्र आभूषण किसी प्रकार सम्भोग आदिके द्वारा अपवित्र नहीं होना चाहिये' ॥ १९ ॥

अगस्त्य उवाच

न ते धनानि विद्यन्ते लोपामुद्रे तथा मम।
यथाविधानि कल्याणि पितुस्तव सुमध्यमे ॥२०॥

अगस्त्यजीने कहा—सुन्दर कटिप्रदेशवाली कल्याणी लोपामुद्रे ! तुम्हारे पिताके घरमें जैसे धन-वैभव हैं, वे न तो तुम्हारे पास हैं और न मेरे ही पास (फिर ऐसा कैसे हो सकता है ?) ॥ २० ॥

लोपामुद्रोवाच

ईशोऽसि तपसा सर्वं समाहर्तुं तपोधन।
क्षणेन जीवलोके यद् वसु किंचन विद्यते ॥२१॥

लोपामुद्रा बोली—तपोधन ! इस जीव-जगत्में जो कुछ भी धन है, वह सब क्षणभरमें आप अपनी तपस्याके प्रभावसे जुटा लेनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

अगस्त्य उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं तपोव्ययकरं तु तत्।
यथा तु मे न नश्येत तपस्तन्मां प्रचोदय ॥२२॥

अगस्त्यजीने कहा—प्रिये ! तुम्हारा कथन ठीक है। परंतु ऐसा करनेसे तपस्याका क्षय होगा। मुझे ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे मेरी तपस्या क्षीण न हो ॥ २२ ॥

लोपामुद्रोवाच

अल्पावशिष्टः कालोऽयमृतोर्मम तपोधन।
न चान्यथाहमिच्छामि त्वामुपैतुं कथंचन ॥२३॥

लोपामुद्रा बोली—तपोधन ! मेरे ऋतुकालका थोड़ा ही समय शेष रह गया है। मैं जैसा बता चुकी हूँ, उसके सिवा और किसी तरह आपसे समागम नहीं करना चाहती ॥२३॥

न चापि धर्ममिच्छामि विलोप्तुं ते कथंचन।
एवं तु मे यथाकामं सम्पादयितुमर्हसि ॥२४॥

साथ ही मेरी यह भी इच्छा नहीं है कि किसी प्रकार आपके धर्मका लोप हो। इस प्रकार अपने तप एवं धर्मकी रक्षा करते हुए जिस तरह सम्भव हो उसी तरह आप मेरी इच्छा पूर्ण करें ॥ २४ ॥

अगस्त्य उवाच

यद्येष कामः सुभगे तव बुद्ध्या विनिश्चितः।
हर्तुं गच्छाम्यहं भद्रे चर काममिह स्थिता ॥ २५ ॥

अगस्त्यजीने कहा—सुभगे! यदि तुमने अपनी बुद्धिसे यही मनोरथ पानेका निश्चय कर लिया है तो मैं धन लानेके लिये जाता हूँ, तुम यहीं रहकर इच्छानुसार धर्माचरण करो ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

धन प्राप्त करनेके लिये अगस्त्यका श्रुतर्वा, ब्रध्नश्व और त्रसदस्यु आदिके पास जाना

लोमश उवाच

ततो जगाम कौरव्य सोऽगस्त्यो भिक्षितुं वसु।
श्रुतर्वाणं महीपालं यं वेदाभ्यधिकं नृपैः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—कुरुनन्दन! तदनन्तर अगस्त्यजी धन माँगनेके लिये महाराज श्रुतर्वाके पास गये, जिन्हें वे सब राजाओंसे अधिक वैभवसम्पन्न समझते थे ॥ १ ॥

स विदित्वा तु नृपतिः कुम्भयोनिमुपागतम्।
विषयान्ते सहामात्यः प्रत्यगृह्णात् सुसत्कृतम् ॥ २ ॥

राजाको जब यह मालूम हुआ कि महर्षि अगस्त्य मेरे यहाँ आ रहे हैं, तब वे मन्त्रियोंके साथ अपने राज्यकी सीमापर चले आये और बड़े आदर-सत्कारसे उन्हें अपने साथ लिवा ले गये ॥ २ ॥

तस्मै चार्घ्यं यथान्यायमानीय पृथिवीपतिः।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥ ३ ॥

भूपाल श्रुतर्वाने उनके लिये यथायोग्य अर्घ्य निवेदन करके विनीतभावसे हाथ जोड़कर उनके पधारनेका प्रयोजन पूछा ॥ ३ ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां पृथिवीपते।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ मे ॥ ४ ॥

तब अगस्त्यजीने कहा—पृथ्वीपते! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं धन माँगनेके लिये आपके यहाँ आया हूँ। दूसरे प्राणियोंको कष्ट न देते हुए यथाशक्ति अपने धनका जितना अंश मुझे दे सकें, दे दें ॥ ४ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत्।
अतो विद्वन्नुपादत्स्व यदत्र वसु मन्यसे ॥ ५ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब राजा श्रुतर्वाने महर्षिके सामने अपने आय-व्ययका पूरा ब्योरा रख दिया और कहा—'ज्ञानी महर्षे! इस धनमेंसे जो आप ठीक समझें, वह ले लें' ॥ ५ ॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षि अगस्त्यकी बुद्धि सम थी। उन्होंने आय और व्यय दोनोंको बराबर देखकर यह विचार किया कि इसमेंसे थोड़ा-सा भी धन लेनेपर दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ॥ ६ ॥

स श्रुतर्वाणमादाय ब्रध्नश्वमगमत् ततः।
स च तौ विषयस्यान्ते प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ॥ ७ ॥

तब वे श्रुतर्वाको साथ लेकर राजा ब्रध्नश्वके पास गये। उन्होंने भी अपने राज्यकी सीमापर आकर उन दोनों सम्माननीय अतिथियोंकी अगवानी की और विधिपूर्वक उन्हें अपनाया ॥ ७ ॥

तयोरर्घ्यं च पाद्यं च ब्रध्नश्वः प्रत्यवेदयत्।
अनुज्ञाप्य च पप्रच्छ प्रयोजनमुपक्रमे ॥ ८ ॥

ब्रध्नश्वने उन दोनोंको अर्घ्य और पाद्य निवेदन किये, फिर उनकी आज्ञा ले अपने यहाँ पधारनेका प्रयोजन पूछा ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तकामाविह प्राप्तौ विद्ध्यावां पृथिवीपते।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नौ ॥ ९ ॥

अगस्त्यजीने कहा—पृथ्वीपते! आपको विदित हो कि हम दोनों आपके यहाँ धनकी इच्छासे आये हैं। दूसरे प्राणियोंको कष्ट न देते हुए जो धन आपके पास बचता हो, उसमेंसे यथाशक्ति कुछ भाग हमें भी दीजिये ॥ ९ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ ताभ्यां राजा न्यवेदयत्।
अतो ज्ञात्वा तु गृह्णीतं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १० ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब राजा ब्रध्नश्वने भी उन दोनोंके सामने आय और व्ययका पूरा विवरण रख दिया और कहा—'आप दोनोंको इसमें जो धन अधिक जान पड़ता हो, वह ले लें' ॥ १० ॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥११॥

तब समान बुद्धिवाले ब्रह्मर्षि अगस्त्यने उस विवरणमें आय और व्यय बराबर देखकर यह निश्चय किया कि इसमें-से यदि थोड़ा-सा भी धन लिया जाय तो दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ॥ ११ ॥

पौरुकुत्सं ततो जग्मुस्त्रसदस्युं महाधनम् ।
अगस्त्यश्च श्रुतर्वा च ब्रध्नश्वश्च महीपतिः ॥१२॥

तब अगस्त्य, श्रुतर्वा और ब्रध्नश्व—तीनों पुरुकुत्सनन्दन-महाधनी त्रसदस्युके पास गये ॥ १२ ॥

त्रसदस्युस्तु तान् दृष्ट्वा प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।
अभिगम्य महाराज विषयान्ते महामनाः ॥१३॥
अर्चयित्वा यथान्यायमिक्ष्वाकू राजसत्तमः ।
समस्तांश्च ततोऽपृच्छत् प्रयोजनमुपक्रमे ॥१४॥

महाराज ! भूपालोंमें श्रेष्ठ इक्ष्वाकुवंशी महामना त्रसदस्युने उन्हें आते देख राज्यकी सीमापर पहुँचकर विधिपूर्वक उन सबका स्वागत-सत्कार किया और उन सबसे अपने यहाँ पधारनेका प्रयोजन पूछा ॥ १३-१४ ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तकामानिह प्राप्तान् विद्धि नः पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः ।१५।

अगस्त्यने कहा—पृथ्वीपते ! आपको विदित हो कि हम धनकी कामनासे यहाँ आये हैं । आप दूसरे प्राणियोंको पीड़ा न देते हुए यथाशक्ति अपने धनका कुछ भाग हम सबको दीजिये ॥ १५ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तेषां राजा न्यवेदयत् ।
एतज्ज्ञात्वा ह्युपादध्वं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥१६॥
तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥१७॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजाने उन्हें अपने आय-व्ययका पूरा विवरण दे दिया और कहा—'इसे समझकर जो धन शेष बचता हो, वह आपलोग ले लें ।' समबुद्धिवाले महर्षि अगस्त्यने वहाँ भी आय-व्ययका लेखा बराबर देखकर यही माना कि इसमेंसे धन लिया जाय तो दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ॥ १६-१७ ॥

ततः सर्वे समेत्याथ ते नृपास्तं महामुनिम् ।
इदमूचुर्महाराज समवेक्ष्य परस्परम् ॥१८॥

महाराज ! तब वे सब राजा परस्पर मिलकर एक दूसरेकी ओर देखते हुए महामुनि अगस्त्यसे इस प्रकार बोले—।१८।

अयं वै दानवो ब्रह्मन्निल्वलो वसुमान् भुवि ।
तमतिक्रम्य सर्वेऽद्य वयं चार्थामहे वसु ॥१९॥

'ब्रह्मन् ! यह इल्वल दानव इस पृथ्वीपर सबसे अधिक धनी है । हम सब लोग उसीके पास चलकर आज धन माँगें' ॥ १९ ॥

लोमश उवाच

तेषां तदासीदुचितमिल्वलस्यैव भिक्षणम् ।
ततस्ते सहिता राजन्निल्वलं समुपाद्रवन् ॥२०॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस समय उन सबको इल्वलके यहाँ याचना करना ही ठीक जान पड़ा; अतः वे एक साथ होकर इल्वलके यहाँ शीघ्रतापूर्वक गये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥९८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यान-विषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

एकोनशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इल्वलके यहाँ धनके लिये जाना, वातापि तथा इल्वलका वध, लोपामुद्राको पुत्रकी प्राप्ति तथा श्रीरामके द्वारा हरे हुए तेजकी परशुरामको तीर्थस्नानद्वारा पुनः प्राप्ति

लोमश उवाच

इल्वलस्तान् विदित्वा तु महर्षिसहितान् नृपान् ।
उपस्थितान् सहामात्यो विषयान्ते ह्यपूजयत् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! इल्वलने महर्षिसहित उन राजाओंको आता जान मन्त्रियोंके साथ अपने राज्यकी सीमापर उपस्थित होकर उन सबका पूजन किया ॥ १ ॥

तेषां ततोऽसुरश्रेष्ठस्त्वातिथ्यमकरोत् तदा ।
सुसंस्कृतेन कौरव्य भ्रात्रा वातापिना यदा ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! उस समय असुरश्रेष्ठ इल्वलने अपने भाई वातापिका मांस राँधकर उसके द्वारा उन सबका आतिथ्य किया ॥ २ ॥

ततो राजर्षयः सर्वे विषण्णा गतचेतसः ।
वातापिं संस्कृतं दृष्ट्वा मेषभूतं महासुरम् ॥ ३ ॥

भेड़के रूपमें महान् दैत्य वातापिको ही राँधा गया देख उन सभी राजर्षियोंका मन खिन्न हो गया और वे अचेत-से हो गये ॥ ३ ॥

अथाब्रवीदगस्त्यस्तान् राजर्षीन्नृषिसत्तमः ।
विषादो वो न कर्तव्यो ह्यहं भोक्ष्ये महासुरम् ॥ ४ ॥
धुर्यासनमथासाद्य निषसाद महानृषिः ।
तं पर्यवेषद् दैत्येन्द्र इल्वलः प्रहसन्निव ॥५॥

तब ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्यने उन राजर्षियोंसे (आश्वासन देते हुए) कहा—'तुमलोगोंको चिन्ता नहीं करनी चाहिये । मैं ही इस महादैत्यको खा जाऊँगा ।' ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्य प्रधान आसनपर जा बैठे और दैत्यराज इल्वलने हँसते हुए-से उन्हें वह मांस परोस दिया ॥ ४-५ ॥

अगस्त्य एव कृत्स्नं तु वातापिं बुभुजे ततः ।
भुक्तवत्यसुरोऽऽह्वानमकरोत् तस्य चेल्वलः ॥ ६ ॥

अगस्त्यजी ही वातापिका सारा मांस खा गये ; जब वे भोजन कर चुके, तब असुर इल्वलने वातापिका नाम लेकर पुकारा ॥ ६ ॥

ततो वायुः प्रादुरभूदधस्तस्य महात्मनः ।
शब्देन महता तात गर्जन्निव यथा घनः ॥ ७ ॥

तात ! उस समय महात्मा अगस्त्यकी गुदासे गर्जते हुए मेघकी भाँति भारी आवाजके साथ अधोवायु निकली ॥ ७ ॥

वातापे निष्क्रमस्वेति पुनः पुनरुवाच ह ।
तं प्रहस्याब्रवीद् राजन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ८ ॥

इल्वल बार-बार कहने लगा—'वातापे ! निकलो निकलो ।' राजन् ! तब मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने उससे हँसकर कहा—॥ ८ ॥

कुतो निष्क्रमितुं शक्तो मया जीर्णस्तु सोऽसुरः ।
इल्वलस्तु विषण्णोऽभूद् दृष्ट्वा जीर्णं महासुरम् ॥ ९ ॥

'अब वह कैसे निकल सकता है, मैंने (लोकहितके लिये) उस असुरको पचा लिया है ।' महादैत्य वातापिको पच गया देख इल्वलको बड़ा खेद हुआ ॥ ९ ॥

प्राञ्जलिश्च सहामात्यैरिदं वचनमब्रवीत् ।
किमर्थमुपयाताः स्थ ब्रूत किं करवाणि वः ॥१०॥

उसने मन्त्रियोंसहित हाथ जोड़कर उन अतिथियोंसे यह बात पूछी—'आपलोग किस प्रयोजनसे यहाँ पधारे हैं, बताइये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ १० ॥

प्रत्युवाच ततोऽगस्त्यः प्रहसन्निल्वलं तदा ।
ईशं ह्यसुर विद्मस्त्वां वयं सर्वे धनेश्वरम् ॥११॥

तब महर्षि अगस्त्यने हँसकर इल्वलसे कहा—'असुर! हम सब लोग तुम्हें शक्तिशाली शासक एवं धनका स्वामी समझते हैं ॥ ११ ॥

एते च नातिधनिनो धनार्थश्च महान् मम ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः ॥१२॥

'ये नरेश अधिक धनवान् नहीं हैं और मुझे बहुत धनकी आवश्यकता आ पड़ी है । अतः दूसरे जीवोंको कष्ट न देते हुए अपने धनमेंसे यथाशक्ति कुछ भाग हमें दो' ॥१२॥

ततोऽभिवाद्य तमृषिमिल्वलो वाक्यमब्रवीत् ।
दित्सितं यदि वेत्सि त्वं ततो दास्यामि ते वसु ॥१३॥

तब इल्वलने महर्षिको प्रणाम करके कहा—'मैं कितना धन देना चाहता हूँ ? यह बात यदि आप जान लें तो मैं आपको धन दूँगा' ॥ १३ ॥

अगस्त्य उवाच

गवां दशसहस्राणि राज्ञामेकैकशोऽसुर ।
तावदेव सुवर्णस्य दित्सितं ते महासुर ॥१४॥

अगस्त्यजीने कहा—महान् असुर ! तुम इनमेंसे एक-एक राजाको दस-दस हजार गौएँ तथा इतनी ही (दस-दस हजार) सुवर्णमुद्राएँ देना चाहते हो ॥ १४ ॥

मह्यं ततो वै द्विगुणं रथश्चैव हिरण्मयः ।
मनोजवौ वाजिनौ च दित्सितं ते महासुर ॥१५॥

इन राजाओंकी अपेक्षा दूनी गौएँ और सुवर्णमुद्राएँ तुमने मेरे लिये देनेका विचार किया है । महादैत्य ! इसके सिवा एक स्वर्णमय रथ, जिसमें मनके समान तीव्रगामी दो घोड़े जुते हों, तुम मुझे और देना चाहते हो ॥ १५ ॥

(लोमश उवाच

इल्वलस्तु मुनिं प्राह सर्वमस्ति यथाऽऽत्थ माम् ।
रथं तु यमवोचो मां नैनं विद्मो हिरण्मयम् ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! इसपर इल्वलने अगस्त्य मुनिसे कहा कि 'आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है; किंतु आपने जो मुझसे रथकी बात कही है, उस रथको हमलोग सुवर्णमय नहीं समझते हैं' ॥

अगस्त्य उवाच

न मे वागनृता काचिदुक्तपूर्वा महासुर ।)
जिज्ञास्यतां रथः सद्यो व्यक्त एष हिरण्मयः ।

अगस्त्यजीने कहा—महादैत्य ! मेरे मुँहसे पहले कभी कोई बात झूठी नहीं निकली है, अतः शीघ्र पता लगाओ, यह रथ निश्चय ही सोनेका है ॥

लोमश उवाच

जिज्ञास्यमानः स रथः कौन्तेयासीद्धिरण्मयः ।
ततः प्रव्यथितो दैत्यो ददावभ्यधिकं वसु ॥१६॥

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! पता लगानेपर वह रथ सोनेका ही निकला, तब मनमें (भाई-की मृत्युसे) व्यथित हुए उस दैत्यने महर्षिको बहुत अधिक धन दिया ॥ १६ ॥

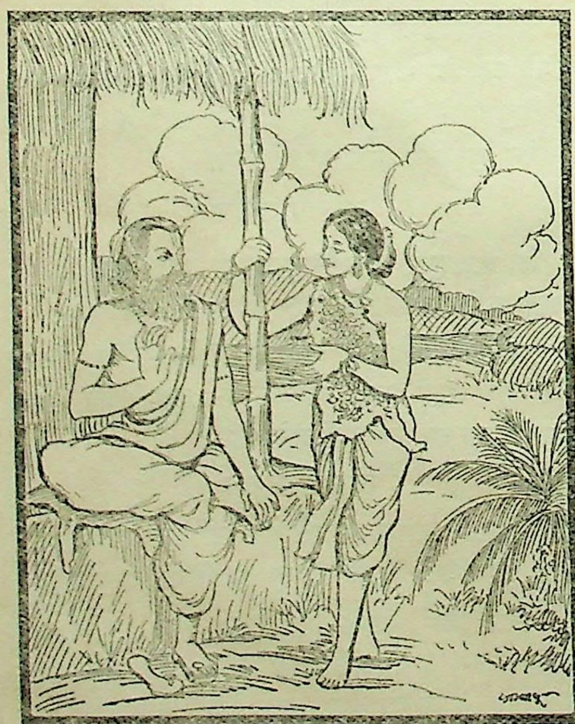
विरावश्च सुरावश्च तस्मिन् युक्तौ रथे हयौ।
ऊहतुः सवसूनाशु तावगस्त्याश्रमं प्रति ॥१७॥
सर्वान् राज्ञः सहागस्त्यान् निमेषादिव भारत।
(इल्वलस्त्वनुगम्यैनमगस्त्यं हन्तुमैच्छत।
भस्म चक्रे महातेजा हुंकारेण महासुरम्॥
मुनेराश्रममश्वौ तौ निन्यतुर्वातरंहसौ।)
अगस्त्येनाभ्यनुज्ञाता जग्मू राजर्षयस्तदा।
कृतवांश्च मुनिः सर्वं लोपामुद्राचिकीर्षितम् ॥१८॥

उस रथमें विराव और सुराव नामक दो घोड़े जुते हुए थे। वे धनसहित राजाओं तथा अगस्त्य मुनिको शीघ्र ही मानो पलक मारते ही अगस्त्याश्रमकी ओर ले भागे। उस समय इल्वल असुरने अगस्त्य मुनिके पीछे जाकर उनको मारनेकी इच्छा की; परंतु महातेजस्वी अगस्त्यमुनिने उस महादैत्य इल्वलको हुंकारसे ही भस्म कर दिया। तदनन्तर उन वायुके समान वेगवाले घोड़ोंने उन सबको मुनिके आश्रमपर पहुँचा दिया। भरतनन्दन! फिर अगस्त्यजीकी आज्ञा ले वे राजर्षिगण अपनी-अपनी राजधानीको चले गये और महर्षिने लोपामुद्राकी सभी इच्छाएँ पूर्ण कीं ॥ १७-१८ ॥

लोपामुद्रोवाच

कृतवानसि तत् सर्वं भगवन् मम काङ्क्षितम्।
उत्पादय सकृन्मह्यमपत्यं वीर्यवत्तरम् ॥१९॥

लोपामुद्रा बोली—भगवन्! मेरी जो-जो अभिलाषा थी, वह सब आपने पूर्ण कर दी। अब मुझसे एक अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न कीजिये ॥ १९ ॥



अगस्त्य उवाच

तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने।
विचारणामपत्ये तु तव वक्ष्यामि तां शृणु ॥२०॥

अगस्त्यजीने कहा—शोभामयी कल्याणी! तुम्हारे सद्व्यवहारसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ। पुत्रके सम्बन्धमें तुम्हारे सामने एक विचार उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ २० ॥

सहस्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसम्मितम्।
दश वा शततुल्याः स्युरेको वापि सहस्रजित् ॥२१॥

क्या तुम्हारे गर्भसे एक हजार या एक सौ पुत्र उत्पन्न हों, जो दसके ही समान हों? अथवा दस ही पुत्र हों, जो सौ पुत्रोंकी समानता करनेवाले हों? अथवा एक ही पुत्र हो, जो हजारोंको जीतनेवाला हो? ॥ २१ ॥

लोपामुद्रोवाच

सहस्रसम्मितः पुत्र एकोऽप्यस्तु तपोधन।
एको हि बहुभिः श्रेयान् विद्वान् साधुरसाधुभिः ॥२२॥

लोपामुद्रा बोली—तपोधन! मुझे सहस्रोंकी समानता करनेवाला एक ही श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हो; क्योंकि बहुत-से दुष्ट पुत्रोंकी अपेक्षा एक ही विद्वान् एवं श्रेष्ठ पुत्र उत्तम माना गया है ॥ २२ ॥

लोमश उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय तया समभवन्मुनिः।
समये समशीलिन्या श्रद्धावाञ्छ्रद्दधानया ॥२३॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तब 'तथास्तु' कहकर श्रद्धालु महात्मा अगस्त्यने समान शील-स्वभाववाली श्रद्धालु पत्नी लोपामुद्राके साथ यथासमय समागम किया ॥ २३ ॥

तत आधाय गर्भं तमगमद् वनमेव सः।
तस्मिन् वनगते गर्भो ववृधे सप्त शारदान् ॥२४॥

गर्भाधान करके अगस्त्यजी फिर वनमें ही चले गये। उनके वनमें चले जानेपर वह गर्भ सात वर्षोंतक माताके पेटमें ही पलता और बढ़ता रहा ॥ २४ ॥

सप्तमेऽब्दे गते चापि प्राच्यवत् स महाकविः।
ज्वलन्निव प्रभावेण दृढस्युर्नाम भारत ॥२५॥

भारत! सात वर्ष बीतनेपर अपने तेज और प्रभावसे प्रज्वलित होता हुआ वह गर्भ उदरसे बाहर निकला। वही महाविद्वान् दृढस्युके नामसे विख्यात हुआ ॥ २५ ॥

साङ्गोपनिषदान् वेदाञ्जपन्निव महातपाः।
तस्य पुत्रोऽभवदृषेः स तेजस्वी महाद्विजः ॥२६॥

महर्षिका वह महातपस्वी और तेजस्वी पुत्र जन्मकालसे ही अङ्ग और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका स्वाध्याय-सा करता जान पड़ा। दृढस्यु ब्राह्मणोंमें महान् माने गये ॥२६॥

स बाल एव तेजस्वी पितुस्तस्य निवेशने।
इध्मानां भारमाजह्रे इध्मवाहस्ततोऽभवत् ॥२७॥

पिताके घरमें रहते हुए तेजस्वी दृढस्यु बाल्यकालसे ही इध्म (समिधा) का भार वहन करके लाने लगे; अतः 'इध्मवाह' नामसे विख्यात हो गये ॥ २७ ॥

तथायुक्तं तु तं दृष्ट्वा मुमुदे स मुनिस्तदा।
एवं स जनयामास भारतापत्यमुत्तमम् ॥२८॥

अपने पुत्रको स्वाध्याय और समिधानयनके कार्यमें संलग्न देख महर्षि अगस्त्य उस समय बहुत प्रसन्न हुए। भारत! इस प्रकार अगस्त्यजीने उत्तम संतान उत्पन्न की ॥ २८ ॥

लेभिरे पितरश्चास्य लोकान् राजन् यथेप्सितान्।
तत ऊर्ध्वमयं ख्यातस्त्वगस्त्यस्याश्रमो भुवि ॥२९॥

राजन्! तदनन्तर उनके पितरोंने मनोवाञ्छित लोक प्राप्त कर लिये। उसके बादसे यह स्थान इस पृथ्वीपर अगस्त्याश्रमके नामसे विख्यात हो गया ॥ २९ ॥

प्राह्लादिरेवं वातापिरगस्त्येनोपशामितः।
तस्यायमाश्रमो राजन् रमणीयैर्गुणैर्युतः ॥३०॥

वातापि प्रह्लादके गोत्रमें उत्पन्न हुआ था, जिसे अगस्त्यजीने इस प्रकार शान्त कर दिया। राजन्! यह उन्हींका रमणीय गुणोंसे युक्त आश्रम है ॥ ३० ॥

एषा भागीरथी पुण्या देवगन्धर्वसेविता।
वातेरिता पताकेव विराजति नभस्तले ॥ ३१ ॥

इसके समीप यह वही देवगन्धर्वसेवित पुण्यसलिला भागीरथी है, जो आकाशमें वायुकी प्रेरणासे फहरानेवाली श्वेत पताकाके समान सुशोभित हो रही है ॥ ३१ ॥

प्रतार्यमाणा कूटेषु यथा निम्नेषु नित्यशः।
शिलातलेषु संत्रस्ता पन्नगेन्द्रवधूरिव ॥ ३२ ॥

यह क्रमशः नीचे-नीचेके शिखरोंपर गिरती हुई सदा तीव्रगतिसे बहती है और शिलाखण्डोंके नीचे इस प्रकार समायी जाती है, मानो भयभीत सर्पिणी बिलमें घुसी जा रही हो॥

दक्षिणां वै दिशं सर्वां प्लावयन्ती च मातृवत्।
पूर्वं शम्भोर्जटाभ्रष्टा समुद्रमहिषी प्रिया।
अस्यां नद्यां सुपुण्यायां यथेष्टमवगाह्यताम् ॥ ३३ ॥

पहले भगवान् शङ्करकी जटासे गिरकर प्रवाहित होनेवाली समुद्रकी प्रियतमा महारानी गङ्गा सम्पूर्ण दक्षिण दिशाको इस प्रकार आप्लावित कर रही है, मानो माता अपनी संतानको नहला रही हो। इस परम पवित्र नदीमें तुम इच्छानुसार स्नान करो ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर निबोधेदं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
भृगोस्तीर्थं महाराज महर्षिगणसेवितम् ॥ ३४ ॥

महाराज युधिष्ठिर! इधर ध्यान दो, यह महर्षिगणसेवित भृगुतीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ३४ ॥

यत्रोपस्पृष्टवान् रामो हृतं तेजस्तदाऽऽप्तवान्।
अत्र त्वं भ्रातृभिः सार्धं कृष्णया चैव पाण्डव ॥ ३५ ॥
दुर्योधनहृतं तेजः पुनरादातुमर्हसि।
कृतवैरेण रामेण यथा चोपहृतं पुनः ॥ ३६ ॥

जहाँ परशुरामजीने स्नान किया और उसी क्षण अपने खोये हुए तेजको पुनः प्राप्त कर लिया। पाण्डुनन्दन! तुम अपने भाइयों और द्रौपदीके साथ इसमें स्नान करके दुर्योधनद्वारा छीने हुए अपने तेजको पुनः प्राप्त कर सकते हो। जैसे दशरथनन्दन श्रीरामसे वैर करनेपर उनके द्वारा अपहृत हुए तेजको परशुरामने यहाँ स्नानके प्रभावसे पुनः पा लिया था ॥

वैशम्पायन उवाच

स तत्र भ्रातृभिश्चैव कृष्णया चैव पाण्डवः।
स्नात्वा देवान् पितॄंश्चैव तर्पयामास भारत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा युधिष्ठिरने अपने भाइयों और द्रौपदीके साथ उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया ॥ ३७ ॥

तस्य तीर्थस्य रूपं वै दीप्ताद् दीप्ततरं बभौ।
अप्रधृष्यतरश्चासीच्छात्रवाणां नरर्षभ ॥ ३८ ॥

नरश्रेष्ठ! उस तीर्थमें स्नान कर लेनेपर राजा युधिष्ठिरका रूप अत्यन्त तेजोयुक्त हो प्रकाशमान हो गया। अब वे शत्रुओंके लिये परम दुर्धर्ष हो गये ॥ ३८ ॥

अपृच्छच्चैव राजेन्द्र लोमशं पाण्डुनन्दनः।
भगवन् किमर्थं रामस्य हृतमासीद् वपुः प्रभो।
कथं प्रत्याहृतं चैव एतदाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ३९ ॥

राजेन्द्र! उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने महर्षि लोमशसे पूछा—'भगवन्! परशुरामजीके तेजका अपहरण किसलिये किया गया था और प्रभो! वह इन्हें पुनः किस प्रकार प्राप्त हो गया? यह मैं जानना चाहता हूँ। आप कृपा करके इस प्रसंगका वर्णन करें' ॥ ३९ ॥

लोमश उवाच

शृणु रामस्य राजेन्द्र भार्गवस्य च धीमतः।
जातो दशरथस्यासीत् पुत्रो रामो महात्मनः ॥ ४० ॥
विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय वै।
पश्यामस्तमयोध्यायां जातं दाशरथिं ततः ॥ ४१ ॥

लोमशजीने कहा—राजेन्द्र! तुम दशरथनन्दन श्रीराम तथा परम बुद्धिमान् भृगुनन्दन परशुरामजीका चरित्र सुनो। पूर्वकालमें महात्मा राजा दशरथके यहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु अपने ही सच्चिदानन्दमय विग्रहसे श्रीरामरूपमें अवतीर्ण हुए थे। उनके अवतारका उद्देश्य था—पापी रावणका

विनाश । अयोध्यामें प्रकट हुए दशरथनन्दन श्रीरामका हम लोग प्रायः दर्शन करते रहते थे ॥ ४०-४१ ॥

ऋचीकनन्दनो रामो भार्गवो रेणुकासुतः ।
तस्य दाशरथेः श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ४२ ॥
कौतूहलान्वितो रामस्त्वयोध्यामगमत् पुनः ।
धनुरादाय तद् दिव्यं क्षत्रियाणां निबर्हणम् ॥ ४३ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले दशरथकुमार श्रीरामका भारी पराक्रम सुनकर भृगु तथा ऋचीकके वंशज रेणुकानन्दन परशुराम उन्हें देखनेके लिये उत्सुक हो क्षत्रियसंहारक दिव्य धनुष लिये अयोध्यामें आये ॥ ४२-४३ ॥

जिज्ञासमानो रामस्य वीर्यं दाशरथेस्तदा ।
तं वै दशरथः श्रुत्वा विषयान्तमुपागतम् ॥ ४४ ॥
प्रेषयामास रामस्य रामं पुत्रं पुरस्कृतम् ।
स तमभ्यागतं दृष्ट्वा उद्यतास्त्रमवस्थितम् ॥ ४५ ॥
प्रहसन्निव कौन्तेय रामो वचनमब्रवीत् ।
कृतकालं हि राजेन्द्र धनुरेतन्मया विभो ॥ ४६ ॥
समारोपय यत्नेन यदि शक्नोषि पार्थिव ।

उनके शुभागमनका उद्देश्य था दशरथनन्दन श्रीरामके बल-पराक्रमकी परीक्षा करना । महाराज दशरथने जब सुना कि परशुरामजी हमारे राज्यकी सीमापर आ गये हैं, तब उन्होंने मुनिकी अगवानीके लिये अपने पुत्र श्रीरामको भेजा । कुन्तीनन्दन ! श्रीरामचन्द्रजी धनुष-बाण हाथमें लिये आकर खड़े हैं, यह देखकर परशुरामजीने हँसते हुए कहा—'राजेन्द्र ! प्रभो ! भूपाल ! यदि तुममें शक्ति हो तो यत्नपूर्वक इस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ । यह वह धनुष है, जिसके द्वारा मैंने क्षत्रियोंका संहार किया है ॥ ४४–४६½ ॥

इत्युक्तस्त्वाह भगवंस्त्वं नाधिक्षेप्तुमर्हसि ॥ ४७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'भगवन् ! आपको इस तरह आक्षेप नहीं करना चाहिये ॥ ४७ ॥

नाहमप्यधमो धर्मे क्षत्रियाणां द्विजातिषु ।
इक्ष्वाकूणां विशेषेण बाहुवीर्ये न कत्थनम् ॥ ४८ ॥

'मैं भी समस्त द्विजातियोंमें क्षत्रिय-धर्मका पालन करनेमें अधम नहीं हूँ । विशेषतः इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय अपने बाहुबलकी प्रशंसा नहीं करते' ॥ ४८ ॥

तमेवंवादिनं तत्र रामो वचनमब्रवीत् ।
अलं वै व्यपदेशेन धनुरायच्छ राघव ॥ ४९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर परशुरामजी बोले—'रघुनन्दन ! बातें बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं। यह धनुष लो और इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ' ॥ ४९ ॥

ततो जग्राह रोषेण क्षत्रियर्षभसूदनम् ।
रामो दाशरथिर्दिव्यं हस्ताद् रामस्य कार्मुकम् ॥ ५० ॥
धनुरारोपयामास सलील इव भारत ।
ज्याशब्दमकरोच्चैव स्मयमानः स वीर्यवान् ॥ ५१ ॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामजीने रोषपूर्वक परशुरामका वह वीर क्षत्रियोंका संहारक दिव्य धनुष उनके हाथसे ले लिया । भारत ! उन्होंने लीलापूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ा दी । तत्पश्चात् पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराते हुए धनुषकी टंकार फैलायी ॥ ५०-५१ ॥

तस्य शब्दस्य भूतानि वित्रसन्त्यशनेरिव ।
अथाब्रवीत् तदा रामो रामं दाशरथिस्तदा ॥ ५२ ॥
इदमारोपितं ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते ।
तस्य रामो ददौ दिव्यं जामदग्न्यो महात्मनः ।
शरमाकर्णदेशान्तमयमाकृष्यतामिति ॥ ५३ ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान उस टंकार-ध्वनिको सुनकर सब प्राणी घबरा उठे । उस समय दशरथनन्दन श्रीरामने परशुरामजीसे कहा—'ब्रह्मन् ! यह धनुष तो मैंने चढ़ा दिया अब और आपका कौन-सा कार्य करूँ ?' तब जमदग्निनन्दन परशुरामने महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको एक दिव्य बाण दे दिया और कहा—'इसे धनुषपर रखकर अपने कानके पासतक खींचिये' ॥ ५२-५३ ॥

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वाब्रवीद् रामः प्रदीप्त इव मन्युना ।
श्रूयते क्षम्यते चैव दर्पपूर्णोऽसि भार्गव ॥ ५४ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! इतना सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी मानो क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे और बोले—'भृगुनन्दन ! तुम बड़े घमण्डी हो । मैं तुम्हारी कठोर बातें सुनता हूँ फिर क्षमा कर लेता हूँ ॥ ५४ ॥

त्वया ह्यधिगतं तेजः क्षत्रियेभ्यो विशेषतः ।
पितामहप्रसादेन तेन मां क्षिपसि ध्रुवम् ॥ ५५ ॥

'तुमने अपने पितामह ऋचीकके प्रभावसे क्षत्रियोंको जीतकर विशेष तेज प्राप्त किया है, निश्चय ही, इसीलिये मुझपर आक्षेप करते हो ॥ ५५ ॥

पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम् ।
ततो रामशरीरे वै रामः पश्यति भार्गवः ॥ ५६ ॥
आदित्यान् सवसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
पितरो हुताशनश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ ५७ ॥
गन्धर्वा राक्षसा यक्षा नद्यस्तीर्थानि यानि च ।
ऋषयो बालखिल्याश्च ब्रह्मभूताः सनातनाः ॥ ५८ ॥
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन समुद्राः पर्वतास्तथा ।
वेदाश्च सोपनिषदो वषट्कारैः सहाध्वरैः ॥ ५९ ॥
चेतोमन्ति च सामानि धनुर्वेदश्च भारत ।
मेघवृन्दानि वर्षाणि विद्युतश्च युधिष्ठिर ॥ ६० ॥

लो ! मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ। उसके द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूपका दर्शन करो।' तब भृगुवंशी परशुरामजीने श्रीरामचन्द्रजीके शरीरमें बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, साध्य देवता, उनचास मरुद्गण, पितृगण, अग्निदेव, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, नदियाँ, तीर्थ, सनातन ब्रह्मभूत बालखिल्य ऋषि, देवर्षि, सम्पूर्ण समुद्र, पर्वत, उपनिषदोंसहित वेद, वषट्कार, यज्ञ, साम और धनुर्वेद, इन सभीको चेतनरूप धारण किये हुए प्रत्यक्ष देखा। भरतनन्दन युधिष्ठिर ! मेघोंके समूह, वर्षा और विद्युत्का भी उनके भीतर दर्शन हो रहा था ॥ ५६—६० ॥

ततः स भगवान् विष्णुस्तं वै बाणं मुमोच ह।
शुष्काशनिसमाकीर्णं महोल्काभिश्च भारत ॥ ६१ ॥
पांसुवर्षेण महता मेघवर्षैश्च भूतलम्।
भूमिकम्पैश्च निर्घातैर्नादैश्च विपुलैरपि ॥ ६२ ॥

तदनन्तर भगवान् विष्णुरूप श्रीरामचन्द्रजीने उस बाणको छोड़ा। भारत ! उस समय सारी पृथ्वी बिना बादलकी बिजली और बड़ी-बड़ी उल्काओंसे व्याप्त-सी हो उठी। बड़े जोरकी आँधी उठी और सब ओर धूलकी वर्षा होने लगी। फिर मेघोंकी घटा घिर आयी और भूतलपर मूसलाधार वर्षा होने लगी। बारबार भूकम्प होने लगा। मेघगर्जन तथा अन्य भयानक उत्पातसूचक शब्द गूँजने लगे ॥ ६१-६२ ॥

स रामं विह्वलं कृत्वा तेजश्चाक्षिप्य केवलम्।
आगच्छज्ज्वलितो बाणो रामबाहुप्रचोदितः ॥ ६३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी भुजाओंसे प्रेरित हुआ वह प्रज्वलित बाण परशुरामजीको व्याकुल करके केवल उनके तेजको छीनकर पुनः लौट आया ॥ ६३ ॥

स तु विह्वलतां गत्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम्।
रामः प्रत्यागतप्राणः प्राणमद् विष्णुतेजसम् ॥ ६४ ॥
विष्णुना सोऽभ्यनुज्ञातो महेन्द्रमगमत् पुनः।
भीतस्तु तत्र न्यवसद् व्रीडितस्तु महातपाः ॥ ६५ ॥

परशुरामजी एक बार मूर्च्छित होकर जब पुनः होशमें आये, तब मरकर जी उठे हुए मनुष्यकी भाँति उन्होंने विष्णुतेज धारण करनेवाले भगवान् श्रीरामको नमस्कार किया। तत्पश्चात् भगवान् विष्णु श्रीरामकी आज्ञा लेकर वे पुनः महेन्द्र पर्वतपर चले गये। वहाँ भयभीत और लज्जित हो महान् तपस्यामें संलग्न होकर रहने लगे ॥ ६४-६५ ॥

ततः संवत्सरेऽतीते हृतौजसमवस्थितम्।
निर्मदं दुःखितं दृष्ट्वा पितरो राममब्रुवन् ॥ ६६ ॥

तदनन्तर एक वर्ष व्यतीत होनेपर तेजोहीन और अभिमानशून्य होकर रहनेवाले परशुरामको दुखी देखकर उनके पितरोंने कहा ॥ ६६ ॥

पितर ऊचुः

न वै सम्यगिदं पुत्र विष्णुमासाद्य वै कृतम्।
स हि पूज्यश्च मान्यश्च त्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥ ६७ ॥

पितर बोले—तुमने भगवान् विष्णुके पास जाकर जो बर्ताव किया है वह ठीक नहीं था। वे तीनों लोकोंमें सर्वदा पूजनीय और माननीय हैं ॥ ६७ ॥

गच्छ पुत्र नदीं पुण्यां वधूसरकृताह्वयाम्।
तत्रोपस्पृश्य तीर्थेषु पुनर्वपुरवाप्स्यसि ॥ ६८ ॥

बेटा ! अब तुम वधूसर नामक पुण्यमयी नदीके तटपर जाओ। वहाँ तीर्थोंमें स्नान करके पूर्ववत् अपना तेजोमय शरीर पुनः प्राप्त कर लोगे ॥ ६८ ॥

दीप्तोदं नाम तत् तीर्थं यत्र ते प्रपितामहः।
भृगुर्देवयुगे राम तप्तवानुत्तमं तपः ॥ ६९ ॥

राम ! वह दीप्तोदक नामक तीर्थ है, जहाँ देवयुगमें तुम्हारे प्रपितामह भृगुने उत्तम तपस्या की थी ॥ ६९ ॥

तत् तथा कृतवान् रामः कौन्तेय वचनात् पितुः।
प्राप्तवांश्च पुनस्तेजस्तीर्थेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ॥ ७० ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! पितरोंके कहनेसे परशुरामजीने वैसा ही किया। पाण्डुनन्दन ! इस तीर्थमें नहाकर पुनः उन्होंने अपना तेज प्राप्त कर लिया ॥ ७० ॥

एतदीदृशकं तात रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
प्राप्तमासीन्महाराज विष्णुमासाद्य वै पुरा ॥ ७१ ॥

तात महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार पूर्वकालमें अनायास ही महान् कर्म करनेवाले परशुराम विष्णुस्वरूप श्रीरामचन्द्र-जीसे भिड़कर इस दशाको प्राप्त हुए थे ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जामदग्न्यतेजोहानिकथने एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें परशुरामके तेजकी हानिविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७४ श्लोक हैं)

शततमोऽध्यायः

वृत्रासुरसे त्रस्त देवताओंको महर्षि दधीचका अस्थिदान एवं वज्रका निर्माण

युधिष्ठिर उवाच

भूय एवाहमिच्छामि महर्षेस्तस्य धीमतः।
कर्मणां विस्तरं श्रोतुमगस्त्यस्य द्विजोत्तम॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—द्विजश्रेष्ठ! मैं पुनः बुद्धिमान् महर्षि अगस्त्यजीके चरित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ॥ १॥

लोमश उवाच

शृणु राजन् कथां दिव्यामद्भुतामतिमानुषीम्।
अगस्त्यस्य महाराज प्रभावममितौजसः॥ २॥

लोमशजीने कहा—महाराज! अमिततेजस्वी महर्षि अगस्त्यकी कथा दिव्य, अद्भुत और अलौकिक है। उनका प्रभाव महान् है। मैं उसका वर्णन करता हूँ, सुनो॥ २॥

आसन् कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्मदाः।
कालकेया इति ख्याता गणाः परमदारुणाः॥ ३॥

सत्ययुगकी बात है, दैत्योंके बहुत-से भयकर दल थे, जो कालकेय नामसे विख्यात थे। उनका स्वभाव अत्यन्त निर्दय था। वे युद्धमें उन्मत्त होकर लड़ते थे॥ ३॥

ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाप्रहरणोद्यताः।
समन्तात् पर्यधावन्त महेन्द्रप्रमुखान् सुरान्॥ ४॥

उन सबने एक दिन वृत्रासुरकी शरण ले उसकी अध्यक्षतामें नाना प्रकारके आयुधोंसे सुसज्जित हो महेन्द्र आदि देवताओंपर चारों ओरसे आक्रमण किया॥ ४॥

ततो वृत्रवधे यत्नमकुर्वंस्त्रिदशाः पुरा।
पुरंदरं पुरस्कृत्य ब्रह्माणमुपतस्थिरे॥ ५॥

तब समस्त देवता वृत्रासुरके वधके प्रयत्नमें लग गये। वे देवराज इन्द्रको आगे करके ब्रह्माजीके पास गये॥ ५॥

कृताञ्जलींस्तु तान् सर्वान् परमेष्ठीत्युवाच ह।
विदितं मे सुराः सर्वं यद् वः कार्यं चिकीर्षितम्॥ ६॥

वहाँ पहुँचकर सब देवता हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'देवताओ! तुम जो कार्य सिद्ध करना चाहते हो, वह सब मुझे मालूम है॥ ६॥

तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ।
दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः॥ ७॥
तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै सम्प्रयाचत।
स वो दास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना॥ ८॥

'मैं तुम्हें एक उपाय बता रहा हूँ, जिससे तुम वृत्रासुरका वध कर सकोगे। दधीच नामसे विख्यात जो उदारचेता महर्षि हैं, उनके पास जाकर तुम सब लोग एक साथ एक ही वर माँगो। वे बड़े धर्मात्मा हैं। अत्यन्त प्रसन्न मनसे तुम्हें मुँहमाँगी वस्तु देंगे॥ ७-८॥

स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकाङ्क्षिभिः।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै॥ ९॥

'जब वे वर देना स्वीकार कर लें, तब विजयकी अभिलाषा रखनेवाले तुम सब लोग उनसे एक साथ यों कहना—'महात्मन्! आप तीनों लोकोंके हितके लिये अपने शरीरकी हड्डियाँ प्रदान करें'॥ ९॥

स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति।
तस्यास्थिभिर्महाघोरं वज्रं संस्क्रियतां दृढम्॥ १०॥

'तुम्हारे माँगनेपर वे शरीर त्यागकर अपनी हड्डियाँ दे देंगे। उनकी उन हड्डियोंद्वारा तुमलोग सुदृढ़ एवं अत्यन्त भयकर वज्रका निर्माण करो॥ १०॥

महच्छत्रुहणं घोरं षडश्रं भीमनिःस्वनम्।
तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः॥ ११॥

'उसकी आकृति षट्कोणके समान होगी। वह महान् एवं घोर शत्रुनाशक अस्त्र भयकर गड़गड़ाहट पैदा करनेवाला होगा। उस वज्रके द्वारा इन्द्र निश्चय ही वृत्रासुरका वध कर डालेंगे॥ ११॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं तस्माच्छीघ्रं विधीयताम्।
एवमुक्तास्ततो देवा अनुज्ञाप्य पितामहम्॥ १२॥
नारायणं पुरस्कृत्य दधीचस्याश्रमं ययुः।
सरस्वत्याः परे पारे नानाद्रुमलतावृतम्॥ १३॥

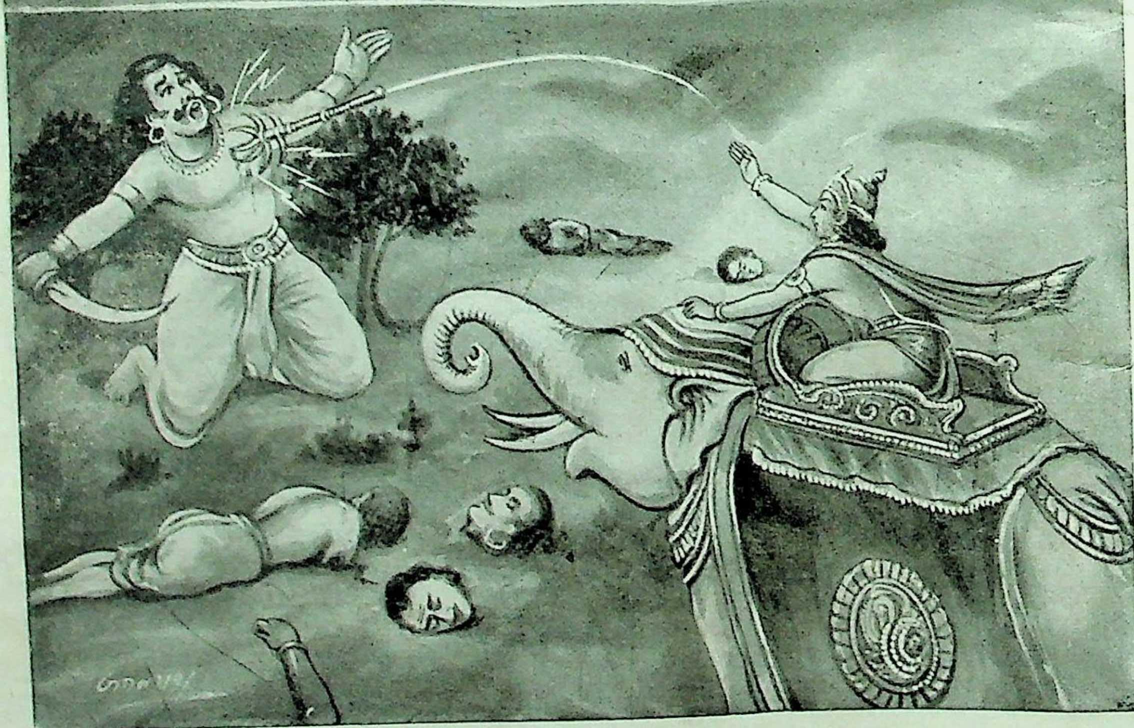
'ये सब बातें मैंने तुम्हें बता दी हैं। अतः अब शीघ्रता करो।' ब्रह्माजीके ऐसा करनेपर सब देवता उनकी आज्ञा ले भगवान् नारायणको आगे करके दधीचके आश्रमपर गये। वह आश्रम सरस्वती नदीके उस पार था। अनेक प्रकारके वृक्ष और लताएँ उसे घेरे हुए थीं॥ १२-१३॥

षट्पदोद्गीतनिनदैर्विघुष्टं सामगैरिव।
पुंस्कोकिलरवोन्मिश्रं जीवं जीवकनादितम्॥ १४॥

भ्रमरोंके गीतोंकी ध्वनिसे वह स्थान इस प्रकार गूँज रहा था, मानो सामगान करनेवाले ब्राह्मणोंद्वारा सामवेदका पाठ हो रहा हो। कोकिलके कलरवोंसे कूजित और दूसरे जन्तुओं (पशु-पक्षियों) के शब्दोंसे कोलाहलपूर्ण बना हुआ वह आश्रम सजीव-सा जान पड़ता था॥ १४॥

महिषैश्च वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि।
तत्र तत्रानुचरितं शार्दूलभयवर्जितैः॥ १५॥

देवताओंद्वारा वृत्रासुरके वधके लिये दधीचिसे उनकी अस्थियोंकी याचना



देवराज इन्द्रका वज्रके प्रहारसे वृत्रासुरका वध करना

भैंसे, सूअर, बाल मृग और चवँरी गायें बाघ-सिंहोंके भयसे रहित हो उस आश्रमके आस-पास विचर रही थीं ॥ १५ ॥

करेणुभिर्वारणैश्च प्रभिन्नकरटामुखैः ।
सरोऽवगाढैः क्रीडद्भिः समन्तादनुनादितम् ॥ १६ ॥

अपने कपोलोंसे मदकी धारा बहानेवाले हाथी और हथिनियाँ वहाँ सरोवरके जलमें गोते लगाकर क्रीड़ाएँ कर रहे थे, जिससे आश्रमके चारों ओर कोलाहल-सा हो रहा था ॥

सिंहव्याघ्रैर्महानादान्नदद्भिरनुनादितम् ।
अपरैश्चापि संलीनैर्गुहाकन्दरशायिभिः ॥ १७ ॥

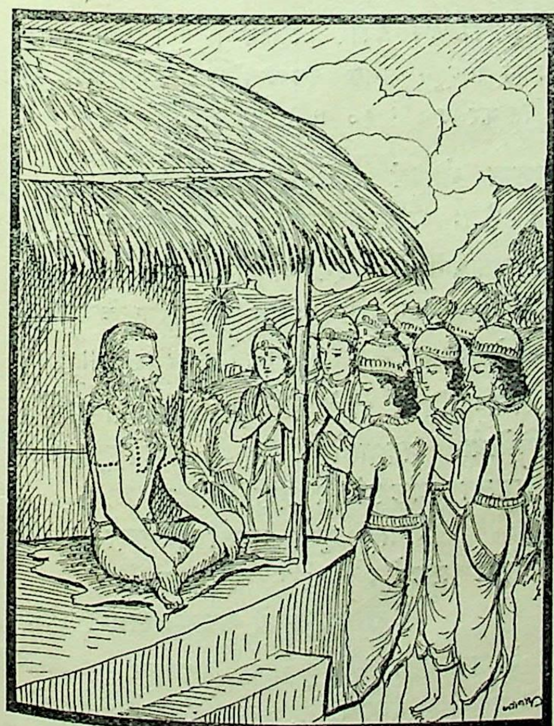
पर्वतोंकी गुफाओं तथा कन्दराओंमें लेटे, झाड़ियोंमें छिपे और वनमें विचरते हुए जोर-जोरसे दहाड़नेवाले सिंहों और व्याघ्रोंकी गर्जनासे वह स्थान गूँज रहा था ॥ १७ ॥

तेषु तेष्ववकाशेषु शोभितं सुमनोरमम् ।
त्रिविष्टपसमप्रख्यं दधीचाश्रममागमन् ॥ १८ ॥

विभिन्न स्थानोंमें अधिक शोभा पानेवाला महर्षि दधीचका वह मनोरम आश्रम स्वर्गके समान प्रतीत होता था । देवता लोग वहाँ आ पहुँचे ॥ १८ ॥

तत्रापश्यन् दधीचं ते दिवाकरसमद्युतिम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा यथा लक्ष्म्या पितामहम् ॥ १९ ॥

उन्होंने देखा, महर्षि दधीच भगवान् सूर्यके समान तेजसे प्रकाशित हो रहे हैं । अपने शरीरकी दिव्य कान्तिसे साक्षात् ब्रह्माजीके समान जान पड़ते हैं ॥ १९ ॥



तस्य पादौ सुरा राजन्नभिवाद्य प्रणम्य च ।
अयाचन्त वरं सर्वे यथोक्तं परमेष्ठिना ॥ २० ॥

राजन् ! उस समय सब देवताओंने महर्षिके चरणोंमें अभिवादन एवं प्रणाम करके ब्रह्माजीने जैसे कहा था, उसी प्रकार उनसे वर माँगा ॥ २० ॥

ततो दधीचः परमप्रतीतः
सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच ।
करोमि यद् वो हितमद्य देवाः
स्वं चापि देहं स्वयमुत्सृजामि ॥ २१ ॥

तब महर्षि दधीचने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन श्रेष्ठ देवताओंसे इस प्रकार कहा—'देवगण ! आज मैं वही करूँगा, जिससे आपलोगोंका हित हो । अपने इस शरीरको मैं स्वयं ही त्याग देता हूँ' ॥ २१ ॥

स एवमुक्त्वा द्विपदां वरिष्ठः
प्राणान् वशी स्वान् सहसोत्ससर्ज ।
ततः सुरास्ते जगृहुः परासो-
रस्थीनि तस्याथ यथोपदेशम् ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय महर्षि दधीचने सहसा अपने प्राणोंका त्याग कर दिया । तब देवताओंने ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार महर्षिके निर्जीव शरीरसे हड्डियाँ ले लीं ॥ २२ ॥

प्रहृष्टरूपाश्च जयाय देवा-
स्त्वष्टारमागम्य तमर्थमूचुः ।
त्वष्टा तु तेषां वचनं निशम्य
प्रहृष्टरूपः प्रयतः प्रयत्नात् ॥ २३ ॥
चकार वज्रं भृशमुग्ररूपं
कृत्वा च शक्रं स उवाच हृष्टः ।
अनेन वज्रप्रवरेण देव
भस्मीकुरुष्वाद्य सुरारिमुग्रम् ॥ २४ ॥

इसके बाद वे हर्षोल्लाससे भरकर विजयकी आशा लिये त्वष्टा प्रजापतिके पास आये और उनसे अपना प्रयोजन बताया । देवताओंकी बात सुनकर त्वष्टा प्रजापति बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने एकाग्रचित्त हो प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त भयंकर वज्रका निर्माण किया । तत्पश्चात् वे हर्षमें भरकर इन्द्रसे बोले—'देव ! इस उत्तम वज्रसे आप आज ही भयंकर देवद्रोही वृत्रासुरको भस्म कर डालिये ॥ २३-२४ ॥

ततो हतारिः सगणः सुखं वै
प्रशाधि कृत्स्नं त्रिदिवं दिविष्ठः ।
त्वष्ट्रा तथोक्तस्तु पुरंदरस्तद्
वज्रं प्रहृष्टः प्रयतो ह्यगृह्णात् ॥ २५ ॥

'इस प्रकार शत्रुके मारे जानेपर आप देवगणोंके साथ

स्वर्गमें रहकर सुखपूर्वक सम्पूर्ण स्वर्गका शासन एवं पालन कीजिये ।' त्वष्टा प्रजापतिके ऐसा कहनेपर इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने शुद्धचित्त होकर उनके हाथसे वह वज्र ले लिया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वज्रनिर्माणकथने शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें वज्रनिर्माणकथनविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध और असुरोंकी भयंकर मन्त्रणा

लोमश उवाच

ततः स वज्री बलिभिर्दैवतैरभिरक्षितः ।
आससाद ततो वृत्रं स्थितमावृत्य रोदसी ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं--राजन् ! तदनन्तर वज्रधारी इन्द्र बलवान् देवताओंसे सुरक्षित हो वृत्रासुरके पास गये । वह असुर भूलोक और आकाशको घेरकर खड़ा था ॥ १ ॥

कालकेयैर्महाकायैः समन्तादभिरक्षितम् ।
समुद्यतप्रहरणैः सशृङ्गैरिव पर्वतैः ॥ २ ॥

कालकेय नामवाले विशालकाय दैत्य, जो हाथोंमें हथियार लिये होनेके कारण शृङ्गयुक्त पर्वतोंके समान जान पड़ते थे, चारों ओरसे उसकी रक्षा कर रहे थे ॥ २ ॥

ततो युद्धं समभवद् देवानां दानवैः सह ।
मुहूर्तं भरतश्रेष्ठ लोकत्रासकरं महत् ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन्द्रके आते ही देवताओंका दानवोंके साथ दो घड़ीतक बड़ा भीषण युद्ध हुआ, जो तीनों लोकोंको त्रस्त करनेवाला था ॥ ३ ॥

उद्यतप्रतिपिष्टानां खड्गानां वीरबाहुभिः ।
आसीत् सुतुमुलः शब्दः शरीरेष्वभिपात्यताम् ॥ ४ ॥

वीरोंकी भुजाओंके साथ उठे हुए खड्ग शत्रुके शरीरोंपर पड़ते और विपक्षी योद्धाओंके घातक प्रहारोंसे टूटकर चूर-चूर हो जाते थे, उस समय उनका अत्यन्त भयंकर शब्द सुन पड़ता था ॥ ४ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्चाप्यन्तरिक्षान्महीतलम् ।
तालैरिव महाराज वृन्ताद् भ्रष्टैरदृश्यत ॥ ५ ॥

महाराज ! अपने मूल-स्थानसे टूटकर गिरे हुए तालफलोंके समान आकाशसे गिरते हुए योद्धाओंके मस्तकोंद्वारा वहाँकी भूमि आच्छादित दिखायी देती थी ॥५॥

ते हेमकवचा भूत्वा कालेयाः परिघायुधाः ।
त्रिदशानभ्यवर्तन्त दावदग्धा इवाद्रयः ॥ ६ ॥

कालकेयोंने सोनेके कवच धारण करके हाथोंमें परिघ लिये देवताओंपर धावा किया । उस समय वे दानव दावानलसे दग्ध हुए पर्वतोंकी भाँति दिखायी देते थे ॥ ६ ॥

तेषां वेगवतां वेगं साभिमानं प्रधावताम् ।
न शेकुस्त्रिदशाः सोढुं ते भग्नाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ७ ॥

अभिमानपूर्वक आक्रमण करनेवाले उन वेगशाली दैत्योंका वेग देवताओंके लिये असह्य हो गया । वे अपने दलसे बिछुड़कर भयसे भागने लगे ॥ ७ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतो भीतान् सहस्राक्षः पुरंदरः ।
वृत्रे विवर्धमाने च कश्मलं महदाविशत् ॥ ८ ॥

देवताओंको डरकर भागते देख वृत्रासुरकी प्रगतिका अनुमान करके सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रपर महान् मोह छा गया॥

कालेयभयसंत्रस्तो देवः साक्षात् पुरंदरः ।
जगाम शरणं शीघ्रं तं तु नारायणं प्रभुम् ॥ ९ ॥

कालेयोंके भयसे त्रस्त हुए साक्षात् इन्द्रदेवने सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणकी शीघ्रतापूर्वक शरण ली ॥ ९ ॥

तं शक्रं कश्मलाविष्टं दृष्ट्वा विष्णुः सनातनः ।
स्वतेजो व्यदधाच्छक्रे बलमस्य विवर्धयन् ॥१०॥

इन्द्रको इस प्रकार मोहाच्छन्न होते देख सनातन भगवान् विष्णुने उनका बल बढ़ाते हुए उनमें अपना तेज स्थापित कर दिया ॥ १० ॥

विष्णुना गोपितं शक्रं दृष्ट्वा देवगणास्ततः ।
सर्वे तेजः समादध्युस्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥११॥

देवताओंने देखा इन्द्र भगवान् विष्णुके द्वारा सुरक्षित हो गये हैं, तब उन सबने तथा शुद्ध अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षियोंने भी देवराज इन्द्रमें अपना-अपना तेज भर दिया ॥ ११ ॥

स समाप्यायितः शक्रो विष्णुना दैवतैः सह ।
ऋषिभिश्च महाभागैर्बलवान् समपद्यत ॥१२॥

ज्ञात्वा बलस्थं त्रिदशाधिपं तु
ननाद वृत्रो महतो निनादान् ।
तस्य प्रणादेन धरा दिशश्च
खं द्यौर्नगाश्चापि चचाल सर्वम् ॥१३॥

देवताओंसहित श्रीविष्णु तथा महाभाग महर्षियोंके तेजसे परिपूर्ण हो देवराज इन्द्र अत्यन्त बलशाली हो गये । देवेश्वर इन्द्रको बलसे सम्पन्न जान वृत्रासुरने बड़ी विकट

गर्जना की । उसके सिंहनादसे भूलोक, सम्पूर्ण दिशाएँ, आकाश, स्वर्गलोक तथा पर्वत सब-के-सब काँप उठे॥ १२-१३ ॥

ततो महेन्द्रः परमाभितप्तः
श्रुत्वा रवं घोररूपं महान्तम् ।
भये निमग्नस्त्वरितो मुमोच
वज्रं महत् तस्य वधाय राजन् ॥१४॥

राजन् ! उस समय उस अत्यन्त भयानक गर्जनाको सुनकर देवराज इन्द्र बहुत संतप्त हो उठे और भयभीत होकर उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ वृत्रासुरके वधके लिये अपने महान् वज्रका प्रहार किया ॥ १४ ॥

स शक्रवज्राभिहतः पपात
महासुरः काञ्चनमाल्यधारी ।
यथा महाशैलवरः पुरस्तात्
स मन्दरो विष्णुकराद् विमुक्तः ॥१५॥

इन्द्रके वज्रसे आहत होकर सुवर्णमालाधारी वह महान् असुर पूर्वकालमें भगवान् विष्णुके हाथसे छूटे हुए महान् पर्वत मन्दरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १५ ॥

तस्मिन् हते दैत्यवरे भयार्तः
शक्रः प्रदुद्राव सरः प्रवेष्टुम् ।
वज्रं स मेने न कराद् विमुक्तं
वृत्रं भयाच्चापि हतं न मेने ॥१६॥

महादैत्य वृत्रके मारे जानेपर भी इन्द्र भयसे पीड़ित हो (छिपनेकी इच्छासे) तालाबमें प्रवेश करने दौड़े । उन्हें भयके कारण यह विश्वास नहीं होता था कि वज्र मेरे हाथसे छूट चुका है और वृत्रासुर भी अवश्य मारा गया है ॥ १६ ॥

सर्वे च देवा मुदिताः प्रहृष्टा
महर्षयश्चेन्द्रमभिष्टुवन्तः ।
सर्वांश्च दैत्यांस्त्वरिताः समेत्य
जघ्नुः सुरा वृत्रवधाभितप्तान् ॥१७॥

उस समय सब देवता बड़े प्रसन्न हुए । महर्षिगण भी हर्षोल्लासमें भरकर इन्द्रदेवकी स्तुति करने लगे । तत्पश्चात् सब देवताओंने मिलकर वृत्रासुरके वधसे संतप्त हुए समस्त दैत्योंको तुरंत मार भगाया ॥ १७ ॥

तैस्त्रास्यमानास्त्रिदशैः समेतैः
समुद्रमेवाविविशुर्भयार्ताः ।
प्रविश्य चैवोदधिमप्रमेयं
झषाकुलं नक्रसमाकुलं च ॥१८॥

तदा स मन्त्रं सहिताः प्रचक्रु-
स्त्रैलोक्यनाशार्थमभिस्मयन्तः ।
तत्र स्म केचिन्मतिनिश्चयज्ञा-
स्तांस्तानुपायाननुवर्णयन्ति ॥१९॥

संगठित देवताओंद्वारा त्रास दिये जानेपर वे सब दैत्य भयसे आतुर हो समुद्रमें ही प्रवेश कर गये । मत्स्यों और मगरोंसे भरे हुए उस अपार महासागरमें प्रविष्ट हो वे सम्पूर्ण दानव तीनों लोकोंका नाश करनेके लिये बड़े गर्वसे एक साथ मन्त्रणा करने लगे । उनमेंसे कुछ दैत्य जो अपनी बुद्धिके निश्चयको स्पष्टरूपसे जाननेवाले थे । (जगत्के विनाशके लिये) उपयोगी विभिन्न उपायोंका वर्णन करने लगे ॥

तेषां तु तत्र क्रमकालयोगाद्
घोरा मतिश्चिन्तयतां बभूव ।
ये सन्ति विद्यातपसोपपन्ना-
स्तेषां विनाशः प्रथमं तु कार्यः ॥२०॥
लोका हि सर्वे तपसा ध्रियन्ते
तस्मात् त्वरध्वं तपसः क्षयाय ।
ये सन्ति केचिच्च वसुंधरायां
तपस्विनो धर्मविदश्च तज्ज्ञाः ॥२१॥
तेषां वधः क्रियतां क्षिप्रमेव
तेषु प्रणष्टेषु जगत् प्रणष्टम् ।
एवं हि सर्वे गतबुद्धिभावा
जगद्विनाशे परमप्रहृष्टाः ॥२२॥
दुर्गं समाश्रित्य महोर्मिमन्तं
रत्नाकरं वरुणस्यालयं स्म ॥२३॥

वहाँ क्रमशः दीर्घकालतक उपायचिन्तनमें लगे हुए उन असुरोंने यह घोर निश्चय किया कि जो लोग विद्वान् और तपस्वी हों, सबसे पहले उन्हींका विनाश करना चाहिये । सम्पूर्ण लोक तपसे ही टिके हुए हैं । अतः तुम सब लोग तपस्याके विनाशके लिये शीघ्रतापूर्वक कार्य करो । भूमण्डलमें जो कोई भी तपस्वी, धर्मज्ञ एवं उन्हें जानने-माननेवाले लोग हों, उन सबका तुरंत वध कर डालो । उनके नष्ट होनेपर सारा जगत् नष्ट हो जायगा । इस प्रकार बुद्धि और विचारसे हीन वे समस्त दैत्य संसारके विनाशकी बात सोचकर अत्यन्त हर्षका अनुभव करने लगे । उत्ताल तरंगोंसे भरे हुए वरुणके निवासस्थान रत्नाकर समुद्ररूप दुर्गका आश्रय लेकर वे उसमें निर्भय होकर रहने लगे ॥ २०-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वृत्रवधोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें वृत्रवधोपाख्यानविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

कालेयोंद्वारा तपस्वियों, मुनियों और ब्रह्मचारियों आदिका संहार तथा देवताओंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति

लोमश उवाच

समुद्रं ते समाश्रित्य वारुणं निधिमम्भसः ।
कालेयाः सम्प्रवर्तन्त त्रैलोक्यस्य विनाशने ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! वरुणके निवासस्थान जलनिधि समुद्रका आश्रय लेकर कालेय नामक दैत्य तीनों लोकोंके विनाश-कार्यमें लग गये ॥ १ ॥

ते रात्रौ समभिक्रुद्धा भक्षयन्ति सदा मुनीन् ।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च ॥ २ ॥

वे सदा रातमें कुपित होकर आते और आश्रमों तथा पुण्य-स्थानोंमें जो निवास करते थे, उन मुनियोंको खा जाते थे ॥ २ ॥

वसिष्ठस्याश्रमे विप्रा भक्षितास्तैर्दुरात्मभिः ।
अशीतिः शतमष्टौ च नव चान्ये तपस्विनः ॥ ३ ॥

उन दुरात्माओंने वसिष्ठके आश्रममें निवास करनेवाले एक सौ अट्ठासी ब्राह्मणों तथा नौ दूसरे तपस्वियोंको अपना आहार बना लिया ॥ ३ ॥

च्यवनस्याश्रमं गत्वा पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
फलमूलाशनानां हि मुनीनां भक्षितं शतम् ॥ ४ ॥

च्यवन मुनिके पवित्र आश्रममें, जहाँ बहुत-से द्विज निवास करते थे, जाकर उन दैत्योंने फल-मूलका आहार करनेवाले सौ मुनियोंको भक्षण कर लिया ॥ ४ ॥

एवं रात्रौ स्म कुर्वन्ति विविशुश्चार्णवं दिवा ।
भरद्वाजाश्रमे चैव नियता ब्रह्मचारिणः ॥ ५ ॥
वाय्वाहाराम्बुभक्षाश्च विंशतिः संनिषूदिताः ।
एवं क्रमेण सर्वांस्तानाश्रमान् दानवास्तदा ॥ ६ ॥
निशायां परिबाधन्ते मत्ता भुजबलाश्रयात् ।
कालोपसृष्टाः कालेया घ्नन्तो द्विजगणान् बहून् ॥ ७ ॥
न चैनानन्वबुध्यन्त मनुजा मनुजोत्तम ।
एवं प्रवृत्तान् दैत्यांस्तांस्तापसेषु तपस्विषु ॥ ८ ॥

इस प्रकार वे रातमें तपस्वी मुनियोंका संहार करते और दिनमें समुद्रके जलमें प्रवेश कर जाते थे । भरद्वाज मुनिके आश्रममें वायु और जल पीकर संयम-नियमके साथ रहनेवाले बीस ब्रह्मचारियोंको कालेयोंने कालके गालमें डाल दिया । इस तरह क्रमशः सभी आश्रमोंमें जाकर अपने बाहुबलके भरोसे उन्मत्त रहनेवाले दानव रातमें वहाँके निवासियोंको सर्वथा कष्ट पहुँचाया करते थे । नरश्रेष्ठ ! कालेय दानव कालके अधीन हो रहे थे; इसीलिये वे असंख्य ब्राह्मणोंकी हत्या करते चले जा रहे थे । मनुष्योंको उनके इस षड्यन्त्रका पता नहीं लगता था । इस प्रकार वे तपस्याके धनी तापसोंके संहारमें प्रवृत्त हो रहे थे ॥ ५–८ ॥

प्रभाते समदृश्यन्त नियताहारकर्शिताः ।
महीतलस्था मुनयः शरीरैर्गतजीवितैः ॥ ९ ॥

प्रातःकाल आनेपर नियमित आहारसे दुर्बल मुनिगण अपने अस्थिमात्रावशिष्ट निष्प्राण शरीरोंसे पृथ्वीपर पड़े दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

क्षीणमांसैर्विरुधिरैर्विमज्जान्त्रैर्विसंधिभिः ।
आकीर्णैराबभौ भूमिः शङ्खानामिव राशिभिः ॥ १० ॥

राक्षसोंके द्वारा भक्षण करनेके कारण उनके शरीरोंका मांस तथा रक्त क्षीण हो चुका था । वे मज्जा, आँतें और संधि-स्थानों (घुटने आदि) से रहित हो गये थे । इस तरह सब ओर फैली हुई सफेद हड्डियोंके कारण वहाँकी भूमि शंखराशिसे आच्छादित-सी प्रतीत होती थी ॥ १० ॥

कलशैर्विप्रविद्धैश्च स्रुवैर्भग्नैस्तथैव च ।
विकीर्णैरग्निहोत्रैश्च भूर्बभूव समावृता ॥ ११ ॥

उलटे-पुलटे पड़े हुए कलशों, टूटे-फूटे स्रुवों तथा बिखरी पड़ी हुई अग्निहोत्रकी सामग्रियोंसे उन आश्रमोंकी भूमि आच्छादित हो रही थी ॥ ११ ॥

निःस्वाध्यायवषट्कारं नष्टयज्ञोत्सवक्रियम् ।
जगदासीन्निरुत्साहं कालेयभयपीडितम् ॥ १२ ॥

स्वाध्याय और वषट्कार बंद हो गये । यज्ञोत्सव आदि कार्य नष्ट हो गये । कालेयोंके भयसे पीड़ित हुए सम्पूर्ण जगत्में कहीं कोई उत्साह नहीं रह गया था ॥ १२ ॥

एवं संक्षीयमाणाश्च मानवा मनुजेश्वर ।
आत्मत्राणपराभीताः प्राद्रवन्त दिशो भयात् ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार दिन-दिन नष्ट होनेवाले मनुष्य भयभीत हो अपनी रक्षाके लिये चारों दिशाओंमें भाग गये ॥

केचिद् गुहाः प्रविविशुर्निर्झरांश्चापरे तथा ।
अपरे मरणोद्विग्ना भयात् प्राणान् समुत्सृजन् ॥ १४ ॥

कुछ लोग गुफाओंमें जा छिपे । कितने ही मानव झरनोंके आसपास रहने लगे और कितने ही मनुष्य मृत्युसे इतने घबरा गये कि भयसे ही उनके प्राण निकल गये ॥ १४ ॥

केचिदत्र महेष्वासाः शूराः परमहर्षिताः ।
मार्गमाणाः परं यत्नं दानवानां प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥

इस भूतलपर कुछ महान् धनुर्धर शूरवीर भी थे, जो अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे युक्त हो दानवोंके स्थानका पता लगाते हुए उनके दमनके लिये भारी प्रयत्न करने लगे ॥

न चैतानधिजग्मुस्ते समुद्रं समुपाश्रितान्।
श्रमं जग्मुश्च परममाजग्मुः क्षयमेव च ॥१६॥

परंतु समुद्रमें छिपे हुए दानवोंको वे पकड़ नहीं पाते। उन्होंने बहुत परिश्रम किया और अन्तमें थककर वे पुनः अपने घरको ही लौट आये ॥ १६ ॥

जगत्युपशमं याते नष्टयज्ञोत्सवक्रिये।
आजग्मुः परमामार्तिं त्रिदशा मनुजेश्वर ॥१७॥

मनुजेश्वर! यज्ञोत्सव आदि कार्योंके नष्ट हो जानेपर जब जगत्‌का विनाश होने लगा, तब देवताओंको बड़ी पीड़ा हुई ॥

समेत्य समहेन्द्राश्च भयान्मन्त्रं प्रचक्रिरे।
शरण्यं शरणं देवं नारायणमजं विभुम् ॥१८॥
तेऽभिगम्य नमस्कृत्य वैकुण्ठमपराजितम्।
ततो देवाः समस्तास्ते तदोचुर्मधुसूदनम् ॥१९॥

इन्द्र आदि सब देवताओंने मिलकर भयसे मुक्त होनेके लिये मन्त्रणा की। फिर वे समस्त देवता सबको शरण देनेवाले, शरणागतवत्सल, अजन्मा एवं सर्वव्यापी, अपराजित वैकुण्ठनाथ भगवान् नारायणदेवकी शरणमें गये और नमस्कार करके उन मधुसूदनसे बोले—॥ १८-१९ ॥

त्वं नः स्रष्टा च भर्ता च हर्ता च जगतः प्रभो।
त्वया सृष्टमिदं विश्वं यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥२०॥

'प्रभो! आप ही हमारे स्रष्टा और पालक हैं। आप ही सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करनेवाले हैं। इस स्थावर और जङ्गम सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि आपने ही की है ॥ २० ॥

त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात् पुष्करेक्षण।
वाराहं वपुराश्रित्य जगदर्थे समुद्धृता ॥२१॥

'कमलनयन! पूर्वकालमें आपने वराहरूप धारण करके सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये समुद्रके जलसे इस खोयी हुई पृथ्वीका उद्धार किया था ॥ २१ ॥

आदिदैत्यो महावीर्यो हिरण्यकशिपुः पुरा।
नारसिंहं वपुः कृत्वा सूदितः पुरुषोत्तम ॥२२॥

'पुरुषोत्तम! प्राचीनकालमें आपने ही नृसिंह-शरीर धारण करके महापराक्रमी आदिदैत्य हिरण्यकशिपुका वध किया था ॥ २२ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां बलिश्चापि महासुरः।
वामनं वपुराश्रित्य त्रैलोक्याद् भ्रंशितस्त्वया ॥२३॥

'सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अवध्य महादैत्य बलिको भी आपने ही वामनरूप धारण करके त्रिलोकीके राज्यसे वञ्चित किया ॥ २३ ॥

असुरश्च महेष्वासो जम्भ इत्यभिविश्रुतः।
यज्ञक्षोभकरः क्रूरस्त्वयैव विनिपातितः ॥२४॥

'यज्ञोंका नाश करनेवाले क्रूरकर्मा महाधनुर्धर जम्भ नामसे विख्यात असुरको भी आपने ही मार गिराया था ॥

एवमादीनि कर्माणि येषां संख्या न विद्यते।
अस्माकं भयभीतानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥२५॥

'ऐसे-ऐसे आपके अनेक कर्म हैं, जिनकी कोई संख्या नहीं है। मधुसूदन! हम भयभीत देवताओंके एकमात्र आश्रय आप ही हैं ॥ २५ ॥

तस्मात् त्वां देवदेवेश लोकार्थं ज्ञापयामहे।
रक्ष लोकांश्च देवांश्च शक्रं च महतो भयात् ॥२६॥

'देवदेवेश्वर! इसीलिये लोकहितके उद्देश्यसे हम यह निवेदन कर रहे हैं कि आप सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणियों, देवताओं और इन्द्रकी भी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥'

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां विष्णुस्तवे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें विष्णुस्तुतिविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०२॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके आदेशसे देवताओंका महर्षि अगस्त्यके आश्रमपर जाकर उनकी स्तुति करना

देवा ऊचुः

तव प्रसादाद् वर्धन्ते प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः।
ता भाविता भावयन्ति हव्यकव्यैर्दिवौकसः ॥ १ ॥

देवता कहते हैं—प्रभो! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—इन चार भेदोंवाली सम्पूर्ण प्रजा आपकी कृपासे ही वृद्धिको प्राप्त होती है। अभ्युदयशील होनेपर वे (मानव) प्रजाएँ ही हव्य और कव्योंद्वारा देवताओंका भरण-पोषण करती हैं ॥ १ ॥

लोका ह्येवं विवर्धन्ते ह्यन्योन्यं समुपाश्रिताः।
त्वत्प्रसादान्निरुद्विग्नास्त्वयैव परिरक्षिताः ॥ २ ॥
इदं च समनुप्राप्तं लोकानां भयमुत्तमम्।
न च जानीम केनेमे रात्रौ वध्यन्ति ब्राह्मणाः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार सब लोग एक-दूसरेके सहारे उन्नति करते हैं। आपकी ही कृपासे सब प्राणी उद्वेगरहित जीवन बिताते और आपके द्वारा ही सर्वथा सुरक्षित रहते हैं। भगवन्! मनुष्योंके समक्ष यह बड़ा भारी भय उपस्थित हुआ है। न जाने कौन रातमें आकर इन ब्राह्मणोंका वध कर रहा है ॥ २-३ ॥

क्षीणेषु च ब्राह्मणेषु पृथिवी क्षयमेष्यति।
ततः पृथिव्यां क्षीणायां त्रिदिवं क्षयमेष्यति ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंके नष्ट होनेपर सारी पृथ्वी नष्ट हो जायगी और पृथ्वीका नाश होनेपर स्वर्ग भी नष्ट हो जायगा ॥ ४ ॥

त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकाः सर्वे जगत्पते।
विनाशं नाधिगच्छेयुस्त्वया वै परिरक्षिताः ॥ ५ ॥

महाबाहो! जगत्पते! आप ऐसी कृपा करें, जिससे आपके द्वारा सुरक्षित होकर सब लोग विनाशको न प्राप्त हों ॥

विष्णुरुवाच

विदितं मे सुराः सर्वं प्रजानां क्षयकारणम्।
भवतां चापि वक्ष्यामि शृणुध्वं विगतज्वराः ॥ ६ ॥

भगवान् विष्णु बोले—देवताओं! प्रजाके विनाशका जो कारण उपस्थित हुआ है, वह सब मुझे ज्ञात है। मैं तुमलोगोंको भी बता रहा हूँ; निश्चिन्त होकर सुनो ॥ ६ ॥



कालेय इति विख्यातो गणः परमदारुणः।
तैश्च वृत्रं समाश्रित्य जगत् सर्वं प्रमाथितम् ॥ ७ ॥

दैत्योंका एक अत्यन्त भयंकर दल है, जो कालेय नामसे विख्यात है। उन दैत्योंने वृत्रासुरका सहारा लेकर सारे संसारमें तहलका मचा दिया था ॥ ७ ॥

ते वृत्रं निहतं दृष्ट्वा सहस्राक्षेण धीमता।
जीवितं परिरक्षन्तः प्रविष्टा वरुणालयम् ॥ ८ ॥

परम बुद्धिमान् इन्द्रके द्वारा वृत्रासुरको मारा गया देख वे अपने प्राण बचानेके लिये समुद्रमें जाकर छिप गये हैं ॥ ८ ॥

ते प्रविश्योदधिं घोरं नक्रग्राहसमाकुलम्।
उत्सादनार्थं लोकानां रात्रौ घ्नन्ति ऋषीनिह ॥ ९ ॥

नाक और ग्राहोंसे भरे हुए भयंकर समुद्रमें घुसकर वे सम्पूर्ण जगत्का संहार करनेके लिये रातमें निकलते तथा यहाँ ऋषियोंकी हत्या करते हैं ॥ ९ ॥

न तु शक्याः क्षयं नेतुं समुद्राश्रयगा हि ते।
समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः सम्प्रधार्यताम् ॥ १० ॥

उन दानवोंका संहार नहीं किया जा सकता; क्योंकि वे दुर्गम समुद्रके आश्रयमें रहते हैं। अतः तुमलोगोंको समुद्रको सुखानेका विचार करना चाहिये ॥ १० ॥

अगस्त्येन विना को हि शक्तोऽन्योऽर्णवशोषणे।
अन्यथा हि न शक्यास्ते विना सागरशोषणम् ॥ ११ ॥

महर्षि अगस्त्यके सिवा दूसरा कौन है, जो समुद्रका शोषण करनेमें समर्थ हो। समुद्रको सुखाये बिना वे दानव काबूमें नहीं आ सकते ॥ ११ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा देवा विष्णुना समुदाहृतम्।
परमेष्ठिनमाज्ञाप्य अगस्त्यस्याश्रमं ययुः ॥ १२ ॥

भगवान् विष्णुकी कही हुई यह बात सुनकर देवता ब्रह्माजीकी आज्ञा ले अगस्त्यके आश्रमपर गये ॥ १२ ॥

तत्रापश्यन् महात्मानं वारुणिं दीप्ततेजसम्।
उपास्यमानमृषिभिर्देवैरिव पितामहम् ॥ १३ ॥

वहाँ उन्होंने मित्रावरुणके पुत्र महात्मा अगस्त्यजीको देखा। उनका तेज उद्भासित हो रहा था। जैसे देवतालोग ब्रह्माजीके पास बैठते हैं, उसी प्रकार बहुत-से ऋषि-मुनि उनके निकट बैठे थे ॥ १३ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानं मैत्रावरुणिमच्युतम्।
आश्रमस्थं तपोराशिं कर्मभिः स्वैरभिष्टुवन् ॥ १४ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले मित्रावरुण-नन्दन तपोराशि महात्मा अगस्त्य आश्रममें ही विराजमान थे। देवताओंने समीप जाकर उनके अद्भुत कर्मोंका वर्णन करते हुए स्तुति प्रारम्भ की ॥ १४ ॥

देवा ऊचुः

नहुषेणाभितप्तानां त्वं लोकानां गतिः पुरा।
भ्रंशितश्च सुरैश्वर्यात् स्वर्लोकाल्लोककण्टकः ॥ १५ ॥

देवता बोले—भगवन्! पूर्वकालमें राजा नहुषके अन्यायसे संतप्त हुए लोकोंकी आपने ही रक्षा की थी। आपने ही उस लोककण्टक नरेशको देवेन्द्रपद तथा स्वर्गसे नीचे गिरा दिया था ॥ १५ ॥

क्रोधात् प्रवृद्धः सहसा भास्करस्य नगोत्तमः ।
वचस्त्वानतिक्रामन् विन्ध्यः शैलो न वर्धते ॥१६॥

पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्य सूर्यदेवपर क्रोध करके जब सहसा बढ़ने लगा, तब आपने ही उसे रोका था। आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए विन्ध्यगिरि आज भी बढ़ नहीं रहा है ॥ १६ ॥

तमसा चावृते लोके मृत्युनाभ्यर्दिताः प्रजाः ।
त्वामेव नाथमासाद्य निर्वृत्तिं परमां गताः ॥१७॥

विन्ध्यगिरिके बढ़नेसे जब सारे जगत्में अन्धकार छा गया और सारी प्रजा मृत्युसे पीड़ित होने लगी। उस समय आपको ही अपना रक्षक पाकर सबने अत्यन्त हर्षका अनुभव किया था ॥ १७ ॥

अस्माकं भयभीतानां नित्यशो भगवान् गतिः ।
ततस्त्वार्ताः प्रयाचामो वरं त्वां वरदो ह्यसि ॥१८॥

सदा आप ही हम भयभीत देवताओंके लिये आश्रय होते आये हैं। अतः इस समय भी संकटमें पड़कर हम आपसे वर माँग रहे हैं; क्योंकि आप ही वर देनेके योग्य हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने त्र्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्य-वर्णनविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीका विन्ध्यपर्वतको बढ़नेसे रोकना और देवताओंके साथ सागर-तटपर जाना

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं सहसा विन्ध्यः प्रवृद्धः क्रोधमूर्च्छितः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामुने ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने! विन्ध्यपर्वत किस लिये क्रोधसे मूर्छित हो सहसा बढ़ने लगा था? मैं इस प्रसंगको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

लोमश उवाच

अद्रिराजं महाशैलं मेरुं कनकपर्वतम् ।
उदयास्तमने भानुः प्रदक्षिणमवर्तत ॥ २ ॥

लोमशजीने कहा—राजन्! सूर्यदेव सुवर्णमय महान् पर्वत गिरिराज मेरुकी उदय और अस्तके समय परिक्रमा किया करते हैं ॥ २ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथा विन्ध्यः शैलः सूर्यमथाब्रवीत् ।
यथा हि मेरुर्भवता नित्यशः परिगम्यते ॥ ३ ॥
प्रदक्षिणश्च क्रियते मामेवं कुरु भास्कर ।
एवमुक्तस्ततः सूर्यः शैलेन्द्रं प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥
नाहमात्मेच्छया शैलं करोम्येनं प्रदक्षिणम् ।
एष मार्गः प्रदिष्टो मे यैरिदं निर्मितं जगत् ॥ ५ ॥

उन्हें ऐसा करते देख विन्ध्यगिरिने उनसे कहा—'भास्कर! जैसे आप मेरुकी प्रतिदिन परिक्रमा करते हैं, उसी तरह मेरी भी कीजिये।' यह सुनकर भगवान् सूर्यने गिरिराज विन्ध्यसे कहा—'गिरिश्रेष्ठ! मैं अपनी इच्छासे मेरुगिरिकी परिक्रमा नहीं करता हूँ। जिन्होंने इस संसारकी सृष्टि की है, उन विधाताने मेरे लिये यही मार्ग निश्चित किया है' ॥ ३–५ ॥

एवमुक्तस्ततः क्रोधात् प्रवृद्धः सहसाचलः ।
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धुमिच्छन् परंतप ॥ ६ ॥

परंतप युधिष्ठिर! सूर्यदेवके ऐसा कहनेपर विन्ध्य-पर्वत सहसा कुपित हो सूर्य और चन्द्रमाका मार्ग रोक लेनेकी इच्छासे बढ़ने लगा ॥ ६ ॥

ततो देवाः सहिताः सर्व एव
विन्ध्यं समागम्य महाद्रिराजम् ।
निवारयामासुरुपायतस्तं
न च स्म तेषां वचनं चकार ॥ ७ ॥

यह देख सब देवता एक साथ मिलकर महान् पर्वत-राज विन्ध्यके पास गये और अनेक उपायोंद्वारा उसके क्रोधका निवारण करने लगे; परंतु उसने उनकी बात नहीं मानी ॥ ७ ॥

अथाभिजग्मुर्मुनिमाश्रमस्थं
तपस्विनं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
अगस्त्यमत्यद्भुतवीर्यवन्तं
तं चार्थमूचुः सहिताः सुरास्ते ॥ ८ ॥

तब वे सब देवता मिलकर अपने आश्रमपर विराजमान धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तपस्वी अगस्त्य मुनिके पास गये, जो अद्भुत प्रभावशाली थे। वहाँ जाकर उन्होंने अपना प्रयोजन कह सुनाया ॥ ८ ॥

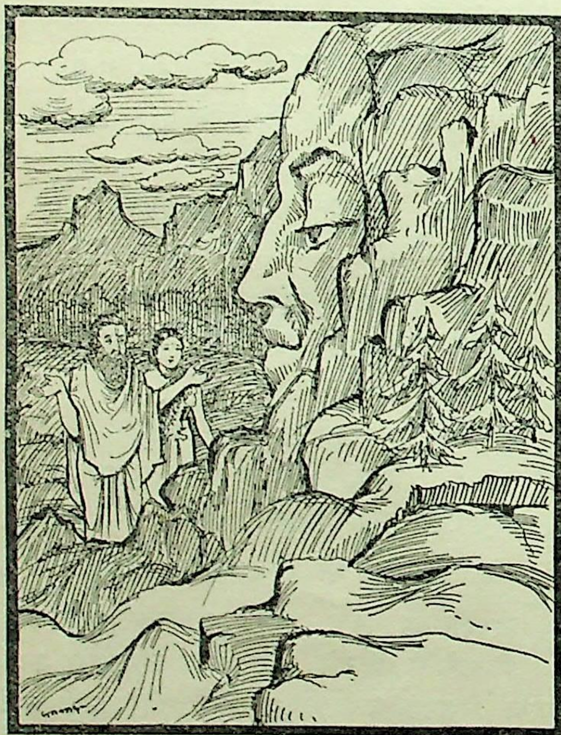
देवा ऊचुः

सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं नक्षत्राणां गतिं तथा ।
शैलराजो वृणोत्येष विन्ध्यः क्रोधवशानुगः ॥ ९ ॥
तं निवारयितुं शक्तो नान्यः कश्चिद् द्विजोत्तम ।
ऋते त्वां हि महाभाग तस्मादेनं निवारय ॥ १० ॥

देवता बोले—द्विजश्रेष्ठ ! यह पर्वतराज विन्ध्य क्रोधके वशीभूत होकर सूर्य और चन्द्रमाके मार्ग तथा नक्षत्रोंकी गतिको रोक रहा है । महाभाग ! आपके सिवा दूसरा कोई इसका निवारण नहीं कर सकता । अतः आप चलकर इसे रोकिये ॥ ९-१० ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं विप्रः सुराणां शैलमभ्यगात् ।
सोऽभिगम्याब्रवीद् विन्ध्यं सदारः समुपस्थितः ॥ ११ ॥

देवताओंकी यह बात सुनकर विप्रवर अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्राके साथ विन्ध्यपर्वतके समीप गये और वहाँ उपस्थित हो उससे इस प्रकार बोले—॥ ११ ॥



मार्गमिच्छाम्यहं दत्तं भवता पर्वतोत्तम ।
दक्षिणामभिगन्तास्मि दिशं कार्येण केनचित् ॥ १२ ॥

'पर्वतश्रेष्ठ ! मैं किसी कार्यसे दक्षिण दिशाको जा रहा हूँ, मेरी इच्छा है, तुम मुझे मार्ग प्रदान करो ॥ १२ ॥

यावदागमनं मह्यं तावत् त्वं प्रतिपालय ।
निवृत्ते मयि शैलेन्द्र ततो वर्धस्व कामतः ॥ १३ ॥

'जबतक मैं पुनः लौटकर न आऊँ, तबतक मेरी प्रतीक्षा करते रहो । शैलराज ! मेरे लौट आनेपर तुम पुनः इच्छानुसार बढ़ते रहना' ॥ १३ ॥

एवं स समयं कृत्वा विन्ध्येनामित्रकर्शन ।
अद्यापि दक्षिणाद् देशाद् वारुणिर्न निवर्तते ॥ १४ ॥

शत्रुसूदन ! विन्ध्यके साथ ऐसा नियम करके मित्रावरुणनन्दन अगस्त्यजी चले गये और आजतक दक्षिण प्रदेशसे नहीं लौटे ॥ १४ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा विन्ध्यो न वर्धते ।
अगस्त्यस्य प्रभावेण यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १५ ॥

राजन् ! तुम मुझसे जो बात पूछ रहे थे, वह सब प्रसंग मैंने कह दिया । महर्षि अगस्त्यके ही प्रभावसे विन्ध्यपर्वत बढ़ नहीं रहा है ॥ १५ ॥

कालेयास्तु यथा राजन् सुरैः सर्वैर्निषूदिताः ।
अगस्त्याद् वरमासाद्य तन्मे निगदतः शृणु ॥ १६ ॥

राजन् ! सब देवताओंने अगस्त्यसे वर पाकर जिस प्रकार कालेय नामक दैत्योंका संहार किया, वह बता रहा हूँ, सुनो—॥ १६ ॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा मैत्रावरुणिरब्रवीत् ।
किमर्थमभियाताः स्थ वरं मत्तः कमिच्छथ ।
एवमुक्तास्ततस्तेन देवता मुनिमब्रुवन् ॥ १७ ॥
(सर्वे प्राञ्जलयो भूत्वा पुरन्दरपुरोगमाः ।)

देवताओंकी बात सुनकर मित्रावरुणनन्दन अगस्त्यने पूछा—'देवताओ ! आपलोग किसलिये यहाँ पधारे हैं और मुझसे कौन-सा वर चाहते हैं ?' उनके इस प्रकार पूछनेपर इन्द्रको आगे करके सब देवताओंने हाथ जोड़कर मुनिसे कहा—॥

एवं त्वयेच्छाम कृतं हि कार्यं
महार्णवं पीयमानं महात्मन् ।
ततो वधिष्याम सहानुबन्धान्
कालेयसंज्ञान् सुरविद्विषस्तान् ॥ १८ ॥

'महात्मन् ! हम आपके द्वारा यह कार्य सम्पन्न कराना चाहते हैं कि आप सारे महासागरके जलको पी जायँ । तदनन्तर हमलोग देवद्रोही कालेय नामक दानवोंका उनके बन्धु-बान्धवोंसहित वध कर डालेंगे' ॥ १८ ॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा तथेति मुनिरब्रवीत् ।
करिष्ये भवतां कामं लोकानां च महत् सुखम् ॥ १९ ॥

देवताओंका यह कथन सुनकर महर्षि अगस्त्यने कहा—'बहुत अच्छा' मैं आपलोगोंका मनोरथ पूर्ण करूँगा । इससे सम्पूर्ण लोकोंको महान् सुख प्राप्त होगा' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा ततोऽगच्छत् समुद्रं सरितां पतिम् ।
ऋषिभिश्च तपःसिद्धैः सार्धं देवैश्च सुव्रत ॥ २० ॥

सुव्रत ! ऐसा कहकर अगस्त्यजी देवताओं तथा तपःसिद्ध ऋषियोंके साथ नदीपति समुद्रके तटपर गये ॥ २० ॥

मनुष्योरगगन्धर्वयक्षकिंपुरुषास्तथा ।
अनुजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ २१ ॥

उस समय मनुष्य, नाग, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर सभी उस अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये उन महात्माके पीछे चल दिये ॥ २१ ॥

ततोऽभ्यगच्छन् सहिताः समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।
नृत्यन्तमिव चोर्मीभिर्वल्गन्तमिव वायुना ॥ २२ ॥

फिर वे सब लोग एक साथ भयंकर गर्जना करनेवाले समुद्रके समीप गये, जो अपने उत्ताल तरङ्गोंद्वारा मानो नृत्य कर रहा था और वायुके द्वारा उछलता-कूदता-सा जान पड़ता था ॥ २२ ॥

हसन्तमिव फेनौघैः स्खलन्तं कन्दरेषु च ।
नानाग्राहसमाकीर्णं नानाद्विजगणान्वितम् ॥ २३ ॥

वह फेनोंके समुदायद्वारा मानो अपनी हास्यछटा बिखेर रहा था और कन्दराओंसे टकराता-सा जान पड़ता था। उसमें नाना प्रकारके ग्राह आदि जलजन्तु भरे हुए थे तथा बहुत-से पक्षी निवास करते थे ॥ २३ ॥

अगस्त्यसहिता देवाः सगन्धर्वमहोरगाः ।
ऋषयश्च महाभागाः समासेदुर्महोदधिम् ॥ २४ ॥

अगस्त्यजीके साथ देवता, गन्धर्व, बड़े-बड़े नाग और महाभाग ऋषिगण सभी महासागरके तटपर जा पहुँचे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योदधिगमने चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें अगस्त्यका समुद्रतटपर गमनविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

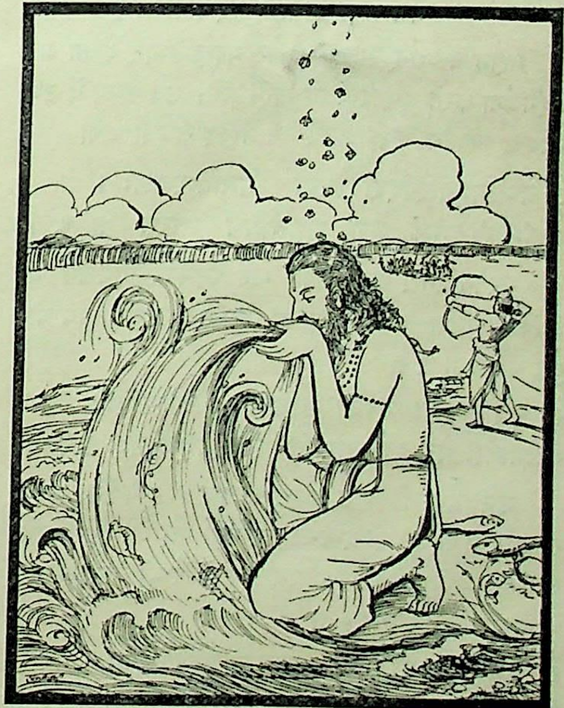
पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीके द्वारा समुद्रपान और देवताओंका कालेय दैत्योंका वध करके ब्रह्माजीसे समुद्रको पुनः भरनेका उपाय पूछना

लोमश उवाच

समुद्रं स समासाद्य वारुणिर्भगवानृषिः ।
उवाच सहितान् देवानृषींश्चैव समागतान् ॥ १ ॥
अहं लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ।
भवद्भिर्यदनुष्ठेयं तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! समुद्रके तटपर जाकर मित्रावरुण-नन्दन भगवान् अगस्त्यमुनि वहाँ एकत्र हुए देवताओं तथा समागत ऋषियोंसे बोले—'मैं लोकहितके लिये समुद्रका जल पी लेता हूँ। फिर आपलोगोंको जो कार्य करना हो, उसे शीघ्र पूरा कर लें' ॥ १-२ ॥



एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः ।
समुद्रमपिबत् क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ३ ॥

अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले मित्रा-वरुण-कुमार अगस्त्यजी कुपित हो सब लोगोंके देखते-देखते समुद्रको पीने लगे ॥ ३ ॥

पीयमानं समुद्रं तं दृष्ट्वा सेन्द्रास्तदामराः ।
विस्मयं परमं जग्मुः स्तुतिभिश्चाप्यपूजयन् ॥ ४ ॥

उन्हें समुद्र-पान करते देख इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बड़े विस्मित हुए और स्तुतियोंद्वारा उनका समादर करने लगे ॥

त्वं नस्त्राता विधाता च लोकानां लोकभावन ।
त्वत्प्रसादात् समुच्छेदं न गच्छेत् सामरं जगत् ॥ ५ ॥

'लोकभावन महर्षे ! आप हमारे रक्षक तथा सम्पूर्ण लोकोंके विधाता हैं । आपकी कृपासे अब देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत् विनाशको नहीं प्राप्त होगा' ॥ ५ ॥

स पूज्यमानस्त्रिदशैर्महात्मा
गन्धर्वतूर्येषु नदत्सु सर्वशः ।
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणो
महार्णवं निःसलिलं चकार ॥ ६ ॥

इस प्रकार जब देवता महात्मा अगस्त्यकी प्रशंसा कर रहे थे, सब ओर गन्धर्वोंके वाद्योंकी ध्वनि फैल रही थी और अगस्त्यजीपर दिव्य फूलोंकी बौछार हो रही थी, उसी समय अगस्त्यजीने सम्पूर्ण महासागरको जलशून्य कर दिया ॥

दृष्ट्वा कृतं निःसलिलं महार्णवं
सुराः समस्ताः परमप्रहृष्टाः ।
प्रगृह्य दिव्यानि वरायुधानि
तान् दानवाञ्जघ्नुरदीनसत्त्वाः ॥ ७ ॥

उस महासमुद्रको निर्जल हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने दिव्य एवं श्रेष्ठ आयुध लेकर अत्यन्त उत्साहसे सम्पन्न हो दानवोंपर आक्रमण किया ॥७॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्महात्मभि-
र्महाबलैर्वेगिभिरुन्नदद्भिः ।
न सेहिरे वेगवतां महात्मनां
वेगं तदा धारयितुं दिवौकसाम् ॥ ८ ॥

महान् बलवान् वेगशाली और महाबुद्धिमान् देवता जब सिंहगर्जना करते हुए दैत्योंको मारने लगे, उस समय वे उन वेगवान् महामना देवताओंका वेग न सह सके ॥ ८ ॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्दानवा भीमनिःस्वनाः ।
चक्रुः सुतुमुलं युद्धं मुहूर्तमिव भारत ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! देवताओंकी मार पड़नेपर दानवोंने भी भयंकर गर्जना करते हुए दो घड़ीतक उनके साथ घोर युद्ध किया ॥ ९ ॥

ते पूर्वं तपसा दग्धा मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
यतमानाः परं शक्त्या त्रिदशैर्विनिषूदिताः ॥ १० ॥

उन दैत्योंको शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंने अपनी तपस्याद्वारा पहलेसे ही दग्ध-सा कर रखा था, अतः पूरी शक्ति लगाकर अधिक-से-अधिक प्रयास करनेपर भी देवताओंद्वारा वे मार डाले गये ॥ १० ॥

ते हेमनिष्काभरणाः कुण्डलाङ्गदधारिणः ।
निहता बह्वशोभन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ११ ॥

सोनेकी मोहरोंकी मालाओंसे भूषित तथा कुण्डल एवं बाजूबंदधारी दैत्य वहाँ मारे जाकर खिले हुए पलाशके वृक्षोंकी भाँति अधिक शोभा पा रहे थे ॥ ११ ॥

हतशेषास्ततः केचित् कालेया मनुजोत्तम ।
विदार्य वसुधां देवीं पातालतलमाश्रिताः ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! मरनेसे बचे हुए कुछ कालेय दैत्य वसुन्धरा देवीको विदीर्ण करके पातालमें चले गये ॥ १२ ॥

निहतान् दानवान् दृष्ट्वा त्रिदशा मुनिपुङ्गवम् ।
तुष्टुवुर्विविधैर्वाक्यैरिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥

सब दानवोंको मारा गया देख देवताओंने नाना प्रकारके वचनोंद्वारा मुनिवर अगस्त्यजीका स्तवन किया और यह बात कही— ॥ १३ ॥

त्वत्प्रसादान्महाभाग लोकैः प्राप्तं महत् सुखम् ।
त्वत्तेजसा च निहताः कालेयाः क्रूरविक्रमाः ॥ १४ ॥

'महाभाग ! आपकी कृपासे समस्त लोकोंने महान् सुख प्राप्त किया है; क्योंकि क्रूरतापूर्ण पराक्रम दिखानेवाले कालेय दैत्य आपके तेजसे दग्ध हो गये ॥ १४ ॥

पूरयस्व महाबाहो समुद्रं लोकभावन ।
यत् त्वया सलिलं पीतं तदस्मिन् पुनरुत्सृज ॥ १५ ॥

'मुने ! आपकी बाँहें बड़ी हैं । आप नूतन संसारकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं । अब आप समुद्रको फिर भर दीजिये । आपने जो इसका जल पी लिया है, उसे फिर इसीमें छोड़ दीजिये' ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगवान् मुनिपुङ्गवः ।
(तांस्तदा सहितान् देवानगस्त्यः सपुरन्दरान् ।)
जीर्णं तद्धि मया तोयमुपायोऽन्यः प्रचिन्त्यताम् ॥ १६ ॥
पूरणार्थं समुद्रस्य भवद्भिर्यत्नमास्थितैः ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं महर्षेर्भावितात्मनः ॥ १७ ॥
विस्मिताश्च विषण्णाश्च बभूवुः सहिताः सुराः ।
परस्परमनुज्ञाप्य प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥ १८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मुनिप्रवर भगवान् अगस्त्यने वहाँ एकत्र हुए इन्द्र आदि समस्त देवताओंसे उस समय यों कहा—'देवगण ! वह जल तो मैंने पचा लिया, अतः समुद्रको भरनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहकर आपलोग कोई दूसरा ही उपाय सोचें ।' शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षिका यह वचन सुनकर सब देवता बड़े विस्मित हो गये; उनके मनमें विषाद छा गया । वे आपसमें सलाह करके मुनिवर अगस्त्यजीको प्रणाम कर वहाँसे चल दिये ॥ १६–१८ ॥

प्रजाः सर्वा महाराज विप्रजग्मुर्यथागतम् ।
त्रिदशा विष्णुना सार्धमुपजग्मुः पितामहम् ॥ १९ ॥

महाराज ! फिर सारी प्रजा जैसे आयी थी, वैसे ही लौट गयी । देवतालोग भगवान् विष्णुके साथ ब्रह्माजीके पास गये ॥

पूरणार्थं समुद्रस्य मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
(ते धातारमुपागम्य त्रिदशाः सह विष्णुना ।)
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सागरस्याभिपूरणम् ॥ २० ॥

समुद्रको भरनेके उद्देश्यसे बार-बार आपसमें सलाह करके श्रीविष्णुसहित सब देवता ब्रह्माजीके निकट जा हाथ जोड़कर यह पूछने लगे कि 'समुद्रको पुनः भरनेके लिये क्या उपाय किया जाय' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

षडधिकशततमोऽध्यायः

राजा सगरका संतानके लिये तपस्या करना और शिवजीके द्वारा वरदान पाना

लोमश उवाच

तानुवाच समेतांस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
गच्छध्वं विबुधाः सर्वे यथाकामं यथेप्सितम् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! तब लोकपितामह ब्रह्माजीने अपने पास आये हुए सब देवताओंसे कहा—'देवगण ! इस समय तुम सब लोग इच्छानुसार अभीष्ट स्थानको चले जाओ ॥ १ ॥

महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः ।
ज्ञातींश्च कारणं कृत्वा महाराजो भगीरथः ॥ २ ॥
पूरयिष्यति तोयौघैः समुद्रं निधिमम्भसाम् ।

'अब दीर्घकालके पश्चात् समुद्र फिर अपनी स्वाभाविक अवस्थामें आ जायगा । महाराज भगीरथ अपने कुटुम्बी जनों (प्रपितामहों)के उद्धारका उद्देश्य लेकर जलनिधि समुद्रको पुनः अगाध जल-राशिसे भर देंगे' ॥ २½ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे विबुधसत्तमाः ।
कालयोगं प्रतीक्षन्तो जग्मुश्चापि यथागतम् ॥ ३ ॥

ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै ज्ञातयो ब्रह्मन् कारणं चात्र किं मुने ।
कथं समुद्रः पूर्णश्च भगीरथप्रतिश्रयात् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन् ! भगीरथके कुटुम्बीजन समुद्रकी पूर्तिमें निमित्त क्योंकर बने ? मुने ! उनके निमित्त बननेका कारण क्या है ? और भगीरथके आश्रयसे किस प्रकार समुद्रकी पूर्ति हुई ? ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कथ्यमानं त्वया विप्र राज्ञां चरितमुत्तमम् ॥ ५ ॥

तपोधन ! विप्रवर ! मैं यह प्रसङ्ग, जिसमें राजाओंके उत्तम चरित्रका वर्णन है, आपके मुखसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेन्द्रो धर्मराज्ञा महात्मना ।
कथयामास माहात्म्यं सगरस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर विप्रवर लोमशने महात्मा राजा सगरका माहात्म्य बतलाया ॥ ६ ॥

लोमश उवाच

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सगरो नाम पार्थिवः ।
रूपसत्त्वबलोपेतः स चापुत्रः प्रतापवान् ॥ ७ ॥

लोमशजी बोले—राजन् ! इक्ष्वाकुवंशमें सगर नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं । वे रूप, धैर्य और बलसे सम्पन्न तथा बड़े प्रतापी थे, परंतु उनके कोई पुत्र न था ॥ ७ ॥

स हैहयान् समुत्साद्य तालजङ्घांश्च भारत ।
वशे च कृत्वा राजन्यान् स्वराज्यमन्वशासत ॥ ८ ॥

भारत ! उन्होंने हैहय तथा तालजङ्घनामक क्षत्रियोंका संहार करके सब राजाओंको अपने वशमें कर लिया और अपने राज्यका शासन करने लगे ॥ ८ ॥

तस्य भार्ये त्वभवतां रूपयौवनदर्पिते ।
वैदर्भी भरतश्रेष्ठ शैब्या च भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा सगरके दो पत्नियाँ थीं, वैदर्भी और शैब्या । उन दोनोंको ही अपने रूप और यौवनका बड़ा अभिमान था ॥ ९ ॥

स पुत्रकामो नृपतिस्तप्यते स महत्तपः ।
पत्नीभ्यां सह राजेन्द्र कैलासं गिरिमाश्रितः ॥ १० ॥
स तप्यमानः सुमहत् तपो योगसमन्वितः ।
आससाद महात्मानं त्र्यक्षं त्रिपुरमर्दनम् ॥ ११ ॥
शंकरं भवमीशानं शूलपाणिं पिनाकिनम् ।
त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! राजा सगर अपनी दोनों पत्नियोंके साथ कैलास पर्वतपर जाकर पुत्रकी इच्छासे बड़ी भारी तपस्या

करने लगे। योगयुक्त होकर महान् तपमें लगे हुए महाराज सगरको त्रिपुरनाशक, त्रिनेत्रधारी, शंकर, भव, ईशान, शूलपाणि, पिनाकी, त्र्यम्बक, उग्रेश, बहुरूप और उमापति आदि नामोंसे प्रसिद्ध महात्मा भगवान् शिवका दर्शन हुआ ॥

स तं दृष्ट्वैव वरदं पत्नीभ्यां सहितो नृपः ।
प्रणिपत्य महाबाहुः पुत्रार्थं समयाचत ॥ १३ ॥
तं प्रीतिमान् हरः प्राह सभार्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन् वृतो मुहूर्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ॥ १४ ॥

वरदायक भगवान् शिवको देखते ही महाबाहु राजा सगरने दोनों पत्नियोंसहित प्रणाम किया और पुत्रके लिये



याचना की। तब भगवान् शिवने प्रसन्न होकर पत्नीसहित नृपश्रेष्ठ सगरसे कहा—'राजन्! तुमने यहाँ जिस मुहूर्तमें वर माँगा है, उसका परिणाम यह होगा॥ १३-१४ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः परमदर्पिताः ।
एकस्यां सम्भविष्यन्ति पत्न्यां नरवरोत्तम ॥ १५ ॥
ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूर एकस्यां सम्भविष्यति ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ! तुम्हारी एक पत्नीके गर्भसे अत्यन्त अभिमानी साठ हजार शूरवीर पुत्र होंगे, परंतु वे सब-के-सब एक ही साथ नष्ट हो जायँगे। भूपाल! तुम्हारी जो दूसरी पत्नी है, उसके गर्भसे एक ही शूरवीर वंशधर पुत्र उत्पन्न होगा' ॥

एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवान्तरधीयत ।
स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १७ ॥
पत्नीभ्यां सहितस्तत्र सोऽतिहृष्टमनास्तदा ।
तस्य ते मनुजश्रेष्ठ भार्ये कमललोचने ॥ १८ ॥
वैदर्भी चैव शैब्या च गर्भिण्यौ सम्बभूवतुः ।
ततः कालेन वैदर्भी गर्भालाबुं व्यजायत ॥ १९ ॥
शैब्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ।
तदालाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिवः ॥ २० ॥

ऐसा कहकर भगवान् शङ्कर वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा सगर भी अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो पत्नियोंसहित अपने निवासस्थानको चले गये। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर उनकी वे दोनों कमलनयनी पत्नियाँ वैदर्भी और शैब्या गर्भवती हुईं। फिर समय आनेपर वैदर्भीने अपने गर्भसे एक तूँबी उत्पन्न की और शैब्याने देवताके समान सुन्दर रूपवाले एक पुत्रको जन्म दिया। राजा सगरने उस तूँबीको फेंक देनेका विचार किया ॥ १७—२० ॥

अथान्तरिक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिःस्वनाम् ।
राजन् मा साहसं कार्षीः पुत्रान् न त्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यताम् ।
सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः ॥ २२ ॥

इसी समय आकाशसे एक गम्भीर वाणी सुनायी दी—'राजन्! ऐसा दुःसाहस न करो। अपने इन पुत्रोंका त्याग करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। इस तूँबीमेंसे एक-एक बीजको निकालकर घीसे भरे हुए गरम घड़ोंमें अलग-अलग रक्खो और यत्नपूर्वक इन सबकी रक्षा करो ॥ २१-२२ ॥

ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि पार्थिव ।
महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ।
अनेन क्रमयोगेन मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ॥ २३ ॥

'पृथ्वीपते! ऐसा करनेसे तुम्हें साठ हजार पुत्र प्राप्त होंगे। नरश्रेष्ठ! महादेवजीने तुम्हारे लिये इसी क्रमसे पुत्रजन्म होनेका निर्देश किया है; अतः तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये' ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सगरसंततिकथने षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सगरसंततिवर्णनविषयक एक सौ छःवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

सगरके पुत्रोंकी उत्पत्ति, साठ हजार सगरपुत्रोंका कपिलकी क्रोधाग्निसे भस्म होना, असमञ्जसका परित्याग, अंशुमान्‌के प्रयत्नसे सगरके यज्ञकी पूर्ति, अंशुमान्‌से दिलीपको और दिलीपसे भगीरथको राज्यकी प्राप्ति

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वान्तरिक्षाच्च स राजा राजसत्तमः।
यथोक्तं तच्चकाराथ श्रद्दधद् भरतर्षभ ॥ १॥

लोमशजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! यह आकाशवाणी सुनकर भूपालशिरोमणि राजा सगरने उसपर विश्वास करके उसके कथनानुसार सब कार्य किया ॥ १ ॥

एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं बीजं नराधिपः।
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान् भागान् विदधे ततः ॥ २॥

नरेशने एक-एक बीजको अलग करके उन सबको घीसे भरे हुए घड़ोंमें रक्खा ॥ २ ॥

धात्रीश्चैकैकशः प्रादात् पुत्ररक्षणतत्परः।
ततः कालेन महता समुत्तस्थुर्महाबलाः ॥ ३॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याप्रतिमतेजसः।
रुद्रप्रसादाद् राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ॥ ४॥

फिर पुत्रोंकी रक्षाके लिये तत्पर हो सबके लिये पृथक्-पृथक् धायें नियुक्त कर दीं। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उस अनुपम तेजस्वी नरेशके साठ हजार महाबली पुत्र उन घड़ोंमेंसे निकल आये। युधिष्ठिर ! राजर्षि सगरके वे सभी पुत्र भगवान् शिवकी कृपासे ही उत्पन्न हुए थे ॥ ३-४ ॥

ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः।
बहुत्वाच्चावजानन्तः सर्वाँल्लोकान् सहामरान् ॥ ५॥

वे सब-के-सब भयंकर स्वभाववाले और क्रूरकर्मा थे। आकाशमें भी सब ओर घूम-फिर सकते थे। उनकी संख्या अधिक होनेके कारण वे देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंकी अवहेलना करते थे ॥ ५ ॥

त्रिदशांश्चाप्यबाधन्त तथा गन्धर्वराक्षसान्।
सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ॥ ६॥

समरभूमिमें शोभा पानेवाले वे शूरवीर राजकुमार देवताओं, गन्धर्वों, राक्षसों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको कष्ट दिया करते थे ॥ ६ ॥

वध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्वदैवतैः ॥ ७॥

मन्दबुद्धि सगरपुत्रोंद्वारा सताये हुए सब लोग सम्पूर्ण देवताओंके साथ ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ ७ ॥

तानुवाच महाभागः सर्वलोकपितामहः।
गच्छध्वं त्रिदशाः सर्वे लोकैः सार्धं यथागतम् ॥ ८॥

उस समय सर्वलोकपितामह महाभाग ब्रह्माने उनसे कहा—'देवताओ ! तुम सभी इन सब लोगोंके साथ जैसे आये हो, वैसे लौट जाओ ॥ ८ ॥

नातिदीर्घेण कालेन सागराणां क्षयो महान्।
भविष्यति महाघोरः स्वकृतैः कर्मभिः सुराः ॥ ९॥

'अब थोड़े ही दिनोंमें अपने ही किये हुए अपराधोंद्वारा इन सगरपुत्रोंका अत्यन्त घोर और महान् संहार होगा' ॥ ९ ॥

एवमुक्तास्तु ते देवा लोकाश्च मनुजेश्वर।
पितामहमनुज्ञाप्य विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ १०॥

नरेश्वर ! उनके ऐसा कहनेपर सब देवता तथा अन्य लोग ब्रह्माजीकी आज्ञा ले जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ १० ॥

ततः काले बहुतिथे व्यतीते भरतर्षभ।
दीक्षितः सगरो राजा हयमेधेन वीर्यवान् ॥ ११॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर बहुत समय बीत जानेपर पराक्रमी राजा सगरने अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ली ॥ ११ ॥

तस्याश्वो व्यचरद् भूमिं पुत्रैः स परिरक्षितः।
(सर्वैरेव महोत्साहैः स्वच्छन्दप्रचरो नृप।)
समुद्रं स समासाद्य निस्तोयं भीमदर्शनम् ॥ १२॥
रक्ष्यमाणः प्रयत्नेन तत्रैवान्तरधीयत।
ततस्ते सागरास्तात हृतं मत्वा हयोत्तमम् ॥ १३॥
आगम्य पितुराचख्युरदृश्यं तुरगं हृतम्।
तेनोक्ता दिक्षु सर्वासु सर्वे मार्गत वाजिनम् ॥ १४॥
(ससमुद्रवनद्वीपां विचरन्तो वसुन्धराम्।)

राजन् ! उनका यज्ञिय अश्व उनके अत्यन्त उत्साही सभी पुत्रोंद्वारा सुरक्षित हो स्वच्छन्दगतिसे पृथ्वीपर विचरने लगा। जब वह अश्व भयंकर दिखायी देनेवाले जलशून्य समुद्रके तटपर आया, तब प्रयत्नपूर्वक रक्षित होनेपर भी वहाँ सहसा अदृश्य हो गया। तात ! तब उस उत्तम अश्वको अपहृत जानकर सगरपुत्रोंने पिताके पास आकर कहा—'हमारे यज्ञिय अश्वको किसीने चुरा लिया, अब वह दिखायी नहीं देता।' यह सुनकर राजा सगरने कहा—'तुम सब लोग समुद्र, वन और द्वीपोंसहित सारी पृथ्वीपर विचरते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें जाकर उस अश्वका पता लगाओ' ॥ १२—१४ ॥

ततस्ते पितुराज्ञाय दिक्षु सर्वासु तं हयम्।
अमार्गन्त महाराज सर्वे च पृथिवीतलम् ॥ १५॥

ततस्ते सागराः सर्वे समुपेत्य परस्परम् ।
नाध्यगच्छन्त तुरगमश्वहर्तारमेव च ॥१६॥

महाराज ! तदनन्तर वे पिताकी आज्ञा ले इस सम्पूर्ण भूतलमें सभी दिशाओंमें अश्वकी खोज करने लगे । खोजते-खोजते सभी सगरपुत्र एक दूसरेसे मिले, परंतु वे अश्व तथा अश्वहर्ताका पता न लगा सके ॥ १५-१६ ॥

आगम्य पितरं चोचुस्ततः प्राञ्जलयोऽग्रतः ।
ससमुद्रवनद्वीपा सनदीनदकन्दरा ॥१७॥
सपर्वतवनोद्देशा निखिलेन मही नृप ।
अस्माभिर्विचिता राजञ्छासनात् तव पार्थिव ॥१८॥
न चाश्वमधिगच्छामो नाश्वहर्तारमेव च ।
श्रुत्वा तु वचनं तेषां स राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥१९॥
उवाच वचनं सर्वांस्तदा दैववशान्नृप ।
अनागमाय गच्छध्वं भूयो मार्गत वाजिनम् ॥२०॥
यज्ञियं तं विना ह्यश्वं नागन्तव्यं हि पुत्रकाः ।
प्रतिगृह्य तु संदेशं पितुस्ते सगरात्मजाः ॥२१॥
भूय एव महीं कृत्स्नां विचेतुमुपचक्रमुः ।
अथापश्यन्त ते वीराः पृथिवीमवदारिताम् ॥२२॥

तब वे पिताके पास आकर उनके आगे हाथ जोड़कर बोले—'महाराज ! हमने आपकी आज्ञासे समुद्र, वन, द्वीप, नदी, नद, कन्दरा, पर्वत और वन्य प्रदेशोंसहित सारी पृथ्वी खोज डाली, परंतु हमें न तो अश्व मिला न उसका चुरानेवाला ही ।' युधिष्ठिर ! उनकी यह बात सुनकर राजा सगर क्रोधसे मूर्च्छित हो उठे और उस समय दैववश उन सबसे इस प्रकार बोले—'जाओ, लौटकर न आना । पुनः घोड़ेका पता लगाओ । पुत्रो ! उस यज्ञके अश्वको लिये बिना वापस न आना ।' पिताका वह संदेश शिरोधार्य करके सगरपुत्रोंने फिर सारी पृथ्वीपर अश्वको ढूँढ़ना आरम्भ किया । तदनन्तर उन वीरोंने एक स्थानपर पृथ्वीमें दरार पड़ी हुई देखी ॥ १७—२२ ॥

समासाद्य बिलं तच्चाप्यखनन् सगरात्मजाः ।
कुद्दालैर्हेषुकैश्चैव समुद्रं यत्नमास्थिताः ॥२३॥

उस बिलके पास पहुँचकर सगरपुत्रोंने कुदालों और फावड़ोंसे समुद्रको प्रयत्नपूर्वक खोदना आरम्भ किया ॥ २३ ॥

स खन्यमानः सहितैः सागरैर्वरुणालयः ।
अगच्छत् परमामार्तिं दीर्यमाणः समन्ततः ॥२४॥
असुरोरगरक्षांसि सत्त्वानि विविधानि च ।
आर्तनादमकुर्वन्त वध्यमानानि सागरैः ॥२५॥

एक साथ लगे हुए सगरकुमारोंके खोदनेपर सब ओरसे विदीर्ण होनेवाले समुद्रको बड़ी पीड़ाका अनुभव होता था । सगरपुत्रोंके हाथों मारे जाते हुए असुर, नाग, राक्षस और नाना प्रकारके जन्तु बड़े जोरसे आर्तनाद करते थे ॥ २४-२५ ॥

छिन्नशीर्षा विदेहाश्च भिन्नत्वगस्थिसंधयः ।
प्राणिनः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥२६॥

सैकड़ों और हजारों ऐसे प्राणी दिखायी देने लगे, जिनके मस्तक कट गये थे, शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे, चमड़े छिल गये थे तथा हड्डियोंके जोड़ टूट गये थे ॥ २६ ॥

एवं हि खनतां तेषां समुद्रं वरुणालयम् ।
व्यतीतः सुमहान् कालो न चाश्वः समदृश्यत ॥२७॥

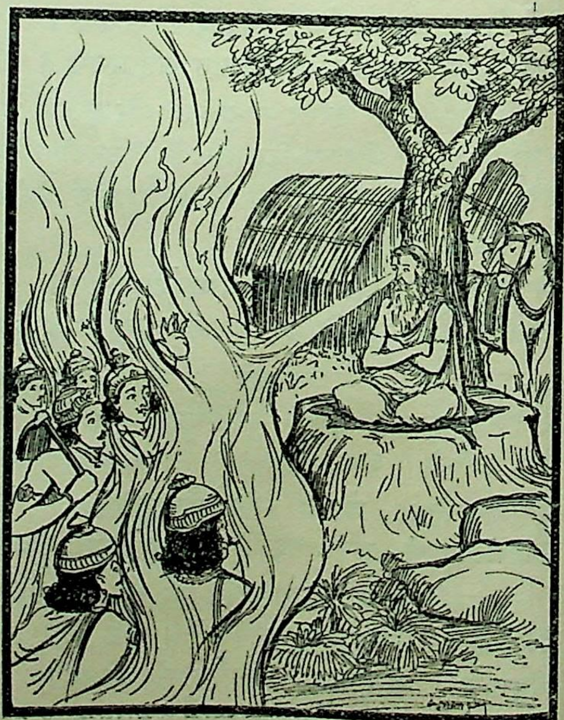
इस प्रकार वरुणके निवासभूत समुद्रकी खुदाई करते-करते उनका बहुत समय बीत गया, परंतु वह अश्व कहीं दिखायी नहीं दिया ॥ २७ ॥

ततः पूर्वोत्तरे देशे समुद्रस्य महीपते ।
विदार्य पातालमथ संक्रुद्धाः सगरात्मजाः ॥२८॥
अपश्यन्त हयं तत्र विचरन्तं महीतले ।
कपिलं च महात्मानं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
तेजसा दीप्यमानं तु ज्वालाभिरिव पावकम् ॥२९॥

राजन् ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए सगरपुत्रोंने समुद्रके पूर्वोत्तर प्रदेशमें पाताल फोड़कर प्रवेश किया और वहाँ उस यज्ञिय अश्वको पृथ्वीपर विचरते देखा । वहीं तेजकी परम उत्तम राशि महात्मा कपिल बैठे थे, जो अपने दिव्य तेजसे उसी प्रकार उद्भासित हो रहे थे, जैसे लपटोंसे अग्नि ॥

ते तं दृष्ट्वा हयं राजन् सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ।
अनादृत्य महात्मानं कपिलं कालचोदिताः ॥३०॥
संक्रुद्धाः सम्प्रधावन्त अश्वग्रहणकाङ्क्षिणः ।
ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः ॥३१॥

राजन् ! उस अश्वको देखकर उनके शरीरमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया । वे कालसे प्रेरित हो क्रोधमें भरकर महात्मा कपिलका अनादर करके उस अश्वको पकड़नेके लिये दौड़े ।



महर्षि च्यवनकी क्रोधाग्निमें सगरपुत्रोंका भस्म होना



महर्षि अगस्त्यका समुद्रपान

महाराज ! तब मुनिश्रेष्ठ कपिल कुपित हो उठे ॥ ३०-३१ ॥

वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुङ्गवम् ।
स चक्षुर्विकृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजन् ॥ ३२ ॥
ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन् स सागरान् ।

मुनिप्रवर कपिल वे ही भगवान् विष्णु हैं, जिन्हें वासुदेव कहते हैं। उन महातेजस्वीने विकराल आँखें करके अपना तेज उनपर छोड़ दिया और मन्दबुद्धि सगरपुत्रोंको जला दिया ॥ ३२½ ॥

तान् दृष्ट्वा भस्मसाद् भूतान् नारदः सुमहातपाः ॥ ३३ ॥
सगरान्तिकमागच्छत् तच्च तस्मै न्यवेदयत् ।
स तच्छ्रुत्वा वचो घोरं राजा मुनिमुखोद्गतम् ॥ ३४ ॥
मुहूर्तं विमना भूत्वा स्थाणोर्वाक्यमचिन्तयत् ।
(स पुत्रनिधनोद्भूतदुःखेन समभिप्लुतः ।
आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य हयमेवान्वचिन्तयत् ॥)
अंशुमन्तं समाहूय असमञ्जःसुतं तदा ॥ ३५ ॥
पौत्रं भरतशार्दूल इदं वचनमब्रवीत् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि पुत्राणाममितौजसाम् ॥ ३६ ॥
कापिलं तेज आसाद्य मत्कृते निधनं गताः ।
तव चापि पिता तात परित्यक्तो मयानघ ।
धर्मं संरक्षमाणेन पौराणां हितमिच्छता ॥ ३७ ॥

उन्हें भस्म हुआ देख महातपस्वी नारदजी राजा सगरके समीप आये और उनसे सब समाचार निवेदित किया। मुनिके मुखसे निकले हुए इस घोर वचनको सुनकर राजा सगर दो घड़ीतक अनमने हो महादेवजीके कथनपर विचार करते रहे। पुत्रकी मृत्युजनित वेदनासे अत्यन्त दुखी हो स्वयं ही अपने आपको सान्त्वना दे उन्होंने अश्वको ही ढूँढ़नेका विचार किया। भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर असमञ्जसके पुत्र अपने पौत्र अंशुमान्‌को बुलाकर यह बात कही—'तात ! मेरे अमिततेजस्वी साठ हजार पुत्र मेरे ही लिये महर्षि कपिलकी क्रोधाग्निमें पड़कर नष्ट हो गये। अनघ ! पुरवासियोंके हितकी रक्षा रखकर धर्मकी रक्षा करते हुए मैंने तुम्हारे पिताको भी त्याग दिया है' ॥ ३३—३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः सगरः पुत्रमात्मजम् ।
त्यक्तवान् दुस्त्यजं वीरं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तपोधन ! नृपश्रेष्ठ सगरने किसलिये अपने दुस्त्यज वीर पुत्रका त्याग किया था, यह मुझे बताइये ॥

लोमश उवाच

असमञ्जा इति ख्यातः सगरस्य सुतो ह्यभूत् ।
यं शैब्या जनयामास पौराणां स हि दारकान् ॥ ३९ ॥
(क्रीडतः सहसाऽऽसाद्य तत्र तत्र महीपते ।)
गलेषु क्रोशतो गृह्य नद्यां चिक्षेप दुर्बलान् ।
ततः पौराः समाजग्मुर्भयशोकपरिप्लुताः ॥ ४० ॥
सगरं चाभ्यभाषन्त सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
त्वं नस्त्राता महाराज परचक्रादिभिर्भयात् ॥ ४१ ॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! सगरका वह पुत्र जिसे रानी शैब्याने उत्पन्न किया था, असमञ्जसके नामसे विख्यात हुआ। वह जहाँ-तहाँ खेल-कूदमें लगे हुए पुरवासियोंके दुर्बल बालकोंके समीप सहसा पहुँच जाता और चीखते-चिल्लाते रहनेपर भी उनका गला पकड़कर उन्हें नदीमें फेंक देता था। तब समस्त पुरवासी भय और शोकमें मग्न हो राजा सगरके पास आये और हाथ जोड़े खड़े हो इस प्रकार कहने लगे—'महाराज ! आप शत्रुसेना आदिके भयसे हमारी रक्षा करनेवाले हैं ॥ ३९—४१ ॥

असमञ्जोभयाद् घोरात् ततो नस्त्रातुमर्हसि ।
पौराणां वचनं श्रुत्वा घोरं नृपतिसत्तमः ॥ ४२ ॥
मुहूर्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत् ।
असमञ्जाः पुराद्द्य सुतो मे विप्रवास्यताम् ॥ ४३ ॥

'अतः असमञ्जसके घोर भयसे आप हमारी रक्षा करें !' पुरवासियोंका यह भयंकर वचन सुनकर नृपश्रेष्ठ सगर दो घड़ीतक अनमने होकर बैठे रहे। फिर मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—'आज मेरे पुत्र असमञ्जसको मेरे घरसे बाहर निकाल दो ॥ ४२-४३ ॥

यदि वो मत्प्रियं कार्यमेतच्छीघ्रं विधीयताम् ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण सचिवास्ते नराधिप ॥ ४४ ॥
यथोक्तं त्वरिताश्चक्रुर्यथाऽऽज्ञापितवान् नृपः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा पुत्रो महात्मना ॥ ४५ ॥
पौराणां हितकामेन सगरेण विवासितः ।
अंशुमांस्तु महेष्वासो यदुक्तः सगरेण हि ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ ४६ ॥

'यदि तुम्हें मेरा प्रिय कार्य करना है तो मेरी इस आज्ञाका शीघ्र पालन होना चाहिये ।' राजन् ! महाराज सगरके ऐसा कहनेपर मन्त्रियोंने शीघ्र वैसा ही किया, जैसा उनका आदेश था। युधिष्ठिर ! पुरवासियोंके हित चाहनेवाले महात्मा सगरने जिस प्रकार अपने पुत्रको निर्वासित किया था, वह सब प्रसंग मैंने तुमसे कह सुनाया। अब महाधनुर्धर अंशुमान्‌से राजा सगरने जो कुछ कहा, वह सब तुम्हें बता रहा हूँ, मेरे मुखसे सुनो ॥ ४४—४६ ॥

सगर उवाच

पितुश्च तेऽहं त्यागेन पुत्राणां निधनेन च ।
अलाभेन तथाश्वस्य परितप्यामि पुत्रक ॥ ४७ ॥

सगर बोले—बेटा ! तुम्हारे पिताको त्याग देनेसे, अन्य पुत्रोंकी मृत्यु हो जानेसे तथा यज्ञसम्बन्धी अश्वके न मिलनेसे मैं सर्वथा संतप्त हो रहा हूँ ॥ ४७ ॥

तस्माद् दुःखाभिसंतप्तं यज्ञविघ्नाच्च मोहितम् ।
हयस्यानयनात् पौत्र नरकान्मां समुद्धर ॥४८॥

अतः पौत्र ! यज्ञमें विघ्न पड़ जानेसे मैं मोहित और दुःखसे संतप्त हूँ, तुम अश्वको ले आकर नरकसे मेरा उद्धार करो ॥ ४८ ॥

अंशुमानेवमुक्तस्तु सगरेण महात्मना ।
जगाम दुःखात् तं देशं यत्र वै दारिता मही ॥४९॥

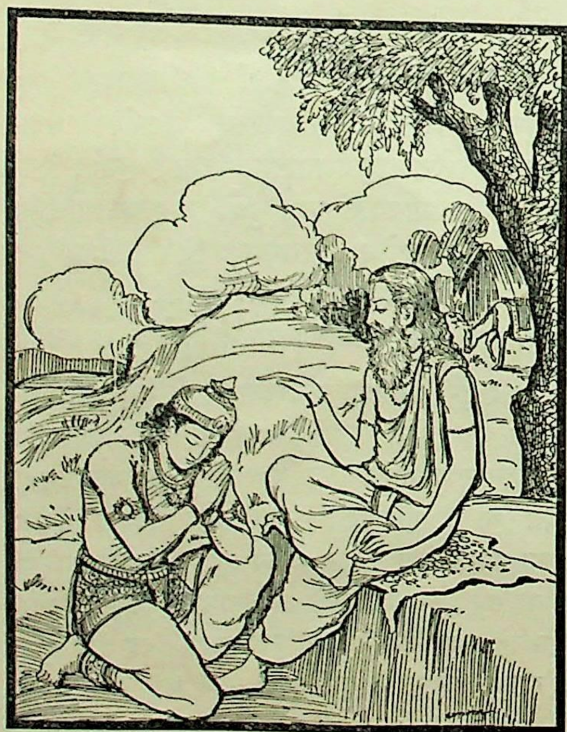
महात्मा सगरके ऐसा कहनेपर अंशुमान् बड़े दुःखसे उस स्थानपर गये, जहाँ पृथ्वी विदीर्ण की गयी थी ॥ ४९ ॥

स तु तेनैव मार्गेण समुद्रं प्रविवेश ह ।
अपश्यच्च महात्मानं कपिलं तुरगं च तम् ॥५०॥

उन्होंने उसी मार्गसे समुद्रमें प्रवेश किया और महात्मा कपिल तथा यज्ञिय अश्वको देखा ॥ ५० ॥

स दृष्ट्वा तेजसो राशिं पुराणमृषिसत्तमम् ।
प्रणम्य शिरसा भूमौ कार्यमस्मै न्यवेदयत् ॥५१॥

तेजोराशि मुनिप्रवर पुराणपुरुष कपिलजीका दर्शन करके अंशुमान्ने धरतीपर माथा टेककर प्रणाम किया और उनसे अपना कार्य बताया ॥ ५१ ॥



ततः प्रीतो महाराज कपिलोऽशुमतोऽभवत् ।
उवाच चैनं धर्मात्मा वरदोऽस्मीति भारत ॥५२॥

भरतवंशी महाराज ! इससे धर्मात्मा कपिलजी अंशुमान्पर प्रसन्न हो गये और बोले—'मैं तुम्हें वर देनेको उद्यत हूँ' ॥५२॥

स वव्रे तुरगं तत्र प्रथमं यज्ञकारणात् ।
द्वितीयं वरकं वव्रे पितॄणां पावनेच्छया ॥५३॥

अंशुमान्ने पहले तो यज्ञकार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ उस अश्वके लिये प्रार्थना की और दूसरा वर अपने पितरोंको पवित्र करनेकी इच्छासे माँगा ॥ ५३ ॥

तमुवाच महातेजाः कपिलो मुनिपुङ्गवः ।
ददानि तव भद्रं ते यद् यत् प्रार्थयसेऽनघ ॥५४॥
त्वयि क्षमा च धर्मश्च सत्यं चापि प्रतिष्ठितम् ।
त्वया कृतार्थः सगरः पुत्रवांश्च त्वया पिता ॥५५॥

तब मुनिश्रेष्ठ महातेजस्वी कपिलने अंशुमान्से कहा—'अनघ ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम जो कुछ माँगते हो वह सब तुम्हें दूँगा । तुममें क्षमा, धर्म और सत्य सब कुछ प्रतिष्ठित है । तुम-जैसे पौत्रको पाकर राजा सगर कृतार्थ हैं और तुम्हारे पिता तुम्हींसे वस्तुतः पुत्रवान् हैं ॥ ५४-५५ ॥

तव चैव प्रभावेण स्वर्गं यास्यन्ति सागराः ।
(शलभत्वं गता ह्येते मम क्रोधहुताशने ।)
पौत्रश्च ते त्रिपथगां त्रिदिवादानयिष्यति ॥५६॥
पावनार्थं सागराणां तोषयित्वा महेश्वरम् ।
हयं नयस्व भद्रं ते यज्ञियं नरपुङ्गव ॥५७॥

'तुम्हारे ही प्रभावसे सगरके सारे पुत्र जो मेरी क्रोधाग्निमें शलभकी भाँति भस्म हो गये हैं, स्वर्गलोकमें चले जायँगे । तुम्हारा पौत्र भगवान् शङ्करको संतुष्ट करके सगरपुत्रोंको पवित्र करनेके लिये स्वर्गलोकसे यहाँ गङ्गाजीको ले आयेगा । नरश्रेष्ठ ! तुम्हारा भला हो । तुम इस यज्ञिय अश्वको ले जाओ ॥ ५६-५७ ॥

यज्ञः समाप्यतां तात सगरस्य महात्मनः ।
अंशुमानेवमुक्तस्तु कपिलेन महात्मना ॥५८॥
आजगाम हयं गृह्य यज्ञवाटं महात्मनः ।
सोऽभिवाद्य ततः पादौ सगरस्य महात्मनः ॥५९॥
मूर्ध्नि तेनाप्युपाघ्रातस्तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ।
यथा दृष्टं श्रुतं चापि सागराणां क्षयं तथा ॥६०॥
तं चास्मै हयमाचष्ट यज्ञवाटमुपागतम् ।
तच्छ्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत् ॥६१॥

'तात ! महात्मा सगरका यज्ञ पूर्ण करो ।' महात्मा कपिलके ऐसा कहनेपर अंशुमान् उस अश्वको लेकर महामना सगरके यज्ञमण्डपमें आये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे सब समाचार निवेदन किया । सगरने भी स्नेहसे अंशुमान्का मस्तक सूँघा । अंशुमान्ने सगरपुत्रोंका विनाश जैसा देखा और सुना था, वह सब बताया, साथ

ही यह भी कहा कि 'यज्ञिय अश्व यज्ञमण्डपमें आ गया है।' यह सुनकर राजा सगरने पुत्रोंके मरनेका दुःख त्याग दिया ॥ ५८-६१ ॥

अंशुमन्तं च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम्।
समाप्तयज्ञः सगरो देवैः सर्वैः सभाजितः ॥ ६२ ॥

और अंशुमान्‌की प्रशंसा करते हुए अपने उस यज्ञको पूर्ण किया। यज्ञ पूर्ण हो जानेपर सब देवताओंने सगरका बड़ा सत्कार किया ॥ ६२ ॥

पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम् ।
प्रशास्य सुचिरं कालं राज्यं राजीवलोचनः ॥ ६३ ॥
पौत्रे भारं समावेश्य जगाम त्रिदिवं तदा ।
अंशुमानपि धर्मात्मा महीं सागरमेखलाम् ॥ ६४ ॥
प्रशशास महाराज यथैवास्य पितामहः ।
तस्य पुत्रः समभवद् दिलीपो नाम धर्मवित् ॥ ६५ ॥

कमलके समान नेत्रोंवाले सगरने वरुणालय समुद्रको अपना पुत्र माना और दीर्घकालतक राज्यशासन करके अन्तमें अपने पौत्र अंशुमान्‌पर राज्यका सारा भार रखकर वे स्वर्गलोकको चले गये। महाराज! धर्मात्मा अंशुमान् भी अपने पितामह सगरके समान ही समुद्रसे घिरी हुई इस वसुधाका पालन करते रहे। उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम दिलीप था। वह भी धर्मका ज्ञाता था ॥ ६३-६५ ॥

तस्मै राज्यं समाधाय अंशुमानपि संस्थितः ।
दिलीपस्तु ततः श्रुत्वा पितॄणां निधनं महत् ॥ ६६ ॥
पर्यतप्यत दुःखेन तेषां गतिमचिन्तयत् ।
गङ्गावतरणे यत्नं सुमहच्चाकरोन्नृपः ॥ ६७ ॥

दिलीपको राज्य देकर अंशुमान् भी परलोकवासी हुए। दिलीपने जब अपने पितरोंके महान् संहारका समाचार सुना, तब वे दुःखसे संतप्त हो उठे और उनकी सद्‌गतिका उपाय सोचने लगे। राजा दिलीपने गङ्गाजीको इस भूतलपर उतारनेके लिये महान् प्रयत्न किया ॥ ६६-६७ ॥

न चावतारयामास चेष्टमानो यथाबलम् ।
तस्य पुत्रः समभवच्छ्रीमान् धर्मपरायणः ॥ ६८ ॥
भगीरथ इति ख्यातः सत्यवागनसूयकः ।
अभिषिच्य तु तं राज्ये दिलीपो वनमाश्रितः ॥ ६९ ॥
(भगीरथं महात्मानं सत्यधर्मपरायणम्।)

यथाशक्ति चेष्टा करनेपर भी वे गङ्गाको पृथ्वीपर उतार न सके। दिलीपके भगीरथ नामसे विख्यात एक पुत्र हुआ, जो परम कान्तिमान्, धर्मपरायण, सत्यवादी और अदोषदर्शी था। सत्यधर्मपरायण महात्मा भगीरथका राज्याभिषेक करके दिलीप वनमें चले गये ॥ ६८-६९ ॥

तपःसिद्धिसमायोगात् स राजा भरतर्षभ ।
वनाज्जगाम त्रिदिवं कालयोगेन भारत ॥ ७० ॥

भरतश्रेष्ठ! राजा दिलीप तपस्याजनक सिद्धिसे संयुक्त हो अन्तकाल आनेपर वनसे स्वर्गलोकको चले गये ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥१०७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्यवर्णनविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके $3\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल $73\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

भगीरथका हिमालयपर तपस्याद्वारा गङ्गा और महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे वर प्राप्त करना

लोमश उवाच

स तु राजा महेष्वासश्चक्रवर्ती महारथः ।
बभूव सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! महान् धनुर्धर महारथी राजा भगीरथ चक्रवर्ती नरेश थे। वे सब लोगोंके मन और नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले थे ॥ १ ॥

स शुश्राव महाबाहुः कपिलेन महात्मना ।
पितॄणां निधनं घोरमप्राप्तिं त्रिदिवस्य च ॥ २ ॥
स राज्यं सचिवे न्यस्य हृदयेन विदूयता ।
जगाम हिमवत्पार्श्वं तपस्तप्तुं नरेश्वर ॥ ३ ॥

नरेश्वर! उन महाबाहुने जब यह सुना कि महात्मा कपिलद्वारा हमारे (साठ हजार) पितरोंकी भयंकर मृत्यु हुई है और वे स्वर्ग-प्राप्तिसे वञ्चित रह गये हैं, तब उन्होंने व्यथित हृदयसे अपना राज्य मन्त्रीको सौंप दिया और स्वयं हिमालयके शिखरपर तपस्या करनेके लिये प्रस्थान किया ॥ २-३ ॥

आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसा दग्धकिल्बिषः ।
सोऽपश्यत नरश्रेष्ठ हिमवन्तं नगोत्तमम् ॥ ४ ॥
शृङ्गैर्बहुविधाकारैर्धातुमद्भिरलंकृतम् ।
पवनालम्बिभिर्मेघैः परिषिक्तं समन्ततः ॥ ५ ॥

नरश्रेष्ठ! तपस्यासे सारा पाप नष्ट करके वे गङ्गाजीकी आराधना करना चाहते थे। उन्होंने देखा कि गिरिराज हिमालय विविध धातुओंसे विभूषित नाना प्रकारके शिखरों-

से अलंकृत है । वायुके आधारपर उड़नेवाले मेघ चारों ओरसे उसका अभिषेक कर रहे हैं ॥ ४-५ ॥

नदीकुञ्जनितम्बैश्च प्रासादैरुपशोभितम् ।
गुहाकन्दरसंलीनसिंहव्याघ्रनिषेवितम् ॥ ६ ॥

अनेकानेक नदियों, निकुञ्जों, घाटियों और प्रासादों (मन्दिरों) से इसकी बड़ी शोभा हो रही है । गुफाओं और कन्दराओंमें छिपे हुए सिंह तथा व्याघ्रोंसे यह पर्वत सदा सेवित होता है ॥ ६ ॥

शकुनैश्च विचित्राङ्गैः कूजद्भिर्विविधा गिरः ।
भृङ्गराजैस्तथा हंसैर्दात्यूहैर्जलकुक्कुटैः ॥ ७ ॥
मयूरैः शतपत्रैश्च जीवंजीवककोकिलैः ।
चकोरैरसितापाङ्गैस्तथा पुत्रप्रियैरपि ॥ ८ ॥

भाँति-भाँतिके कलरव करते हुए विचित्र अङ्गोंवाले पक्षी, भृङ्गराज, हंस, चातक, जलमुर्ग, मोर, शतपत्र नामक पक्षी, चक्रवाक, कोकिल, चकोर, असितापाङ्ग और पुत्रप्रिय आदि इस पर्वतकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ७-८ ॥

जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्च संकुलम् ।
सारसानां च मधुरैर्व्याहृतैः समलंकृतम् ॥ ९ ॥
किंनरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैः समन्ताद् घृष्टपादपम् ॥ १० ॥
विद्याधरानुचरितं नानारत्नसमाकुलम् ।
विषोल्बणभुजंगैश्च दीप्तजिह्वैर्निषेवितम् ॥ ११ ॥
क्वचित् कनकसंकाशं क्वचिद् रजतसंनिभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभं हिमवन्तमुपागमत् ॥ १२ ॥
स तु तत्र नरश्रेष्ठस्तपो घोरं समाश्रितः ।
फलमूलाम्बुसम्भक्षः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ १३ ॥
संवत्सरसहस्रे तु गते दिव्ये महानदी ।
दर्शयामास तं गङ्गा तदा मूर्तिमती स्वयम् ॥ १४ ॥

वहाँके रमणीय जलाशयोंमें पद्मसमूह भरे हुए हैं। सारसोंके मधुर कलरव उस पर्वतीय प्रदेशको सुशोभित कर रहे हैं। हिमालयकी शिलाओंपर किन्नर और अप्सराएँ बैठी हैं। वहाँके वृक्षोंपर चारों ओरसे दिग्गजोंके दाँतोंकी रगड़ दिखायी देती है। हिमालयके इन शिखरोंपर विद्याधर-गण विचर रहे हैं। नाना प्रकारके रत्न सब ओर व्याप्त हैं। प्रज्वलित जिह्वावाले भयंकर विषधर सर्प इस गिरिप्रदेशका सेवन करते हैं। यह शैलराज कहीं तो सुवर्णके समान उद्भासित होता है, कहीं चाँदीके समान चमकता है और कहीं कज्जलराशिके समान काला दिखायी देता है। नरश्रेष्ठ भगीरथ उस हिमवान् पर्वतपर गये और घोर तपस्यामें लग गये। उन्होंने सहस्र वर्षोंतक फल, मूल और जलका आहार किया। एक हजार दिव्य वर्ष बीत जानेपर महानदी गङ्गाने स्वयं साकार होकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ९–१४ ॥

गङ्गोवाच

किमिच्छसि महाराज मत्तः किं च ददानि ते ।
तद् ब्रवीहि नरश्रेष्ठ करिष्यामि वचस्तव ॥ १५ ॥

गङ्गाजीने कहा—महाराज ! तुम मुझसे क्या चाहते हो, मैं तुम्हें क्या दूँ ? नरश्रेष्ठ ! बताओ, मैं तुम्हारी याचना पूर्ण करूँगी ॥ १५ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच राजा हैमवतीं तदा ।
(नदीं भगीरथो राजन् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।)
पितामहा मे वरदे कपिलेन महानदि ॥ १६ ॥
अन्वेषमाणास्तुरगं नीता वैवस्वतक्षयम् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १७ ॥
कपिलं देवमासाद्य क्षणेन निधनं गताः ।
तेषामेवं विनष्टानां स्वर्गे वासो न विद्यते ॥ १८ ॥
यावत् तानि शरीराणि त्वं जलैर्नाभिषिञ्चसि ।
तावत् तेषां गतिर्नास्ति सागराणां महानदि ॥ १९ ॥
स्वर्गं नय महाभागे मत्पितॄन् सगरात्मजान् ।
तेषामर्थेन याचामि त्वामहं वै महानदि ॥ २० ॥

राजन् ! उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने हिमालय-नन्दिनी गङ्गाको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार



कहा—'वरदायिनी महानदी ! मेरे पितामह यज्ञसम्बन्धी अश्वका पता लगाते हुए कपिलके कोपसे यमलोकको जा पहुँचे हैं। वे सब महात्मा सगरके पुत्र थे और उनकी संख्या साठ हजार थी। भगवान् कपिलके निकट जाकर वे सब-के-सब क्षणभरमें भस्म हो गये। इस प्रकार दुर्मृत्युसे

मरनेके कारण उन्हें स्वर्गमें निवास नहीं प्राप्त हुआ है। महानदी! जबतक तुम अपने जलसे उनके भस्म हुए शरीरोंको सींच न दोगी, तबतक उन सगरपुत्रोंकी सद्गति नहीं हो सकती! महाभागे! मेरे पितामह सगरकुमारोंको स्वर्गमें पहुँचा दो। महानदी! मैं उन्हींके उद्धारके लिये तुमसे याचना करता हूँ' ॥ १६-२० ॥

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो गङ्गा लोकनमस्कृता।
भगीरथमिदं वाक्यं सुप्रीता समभाषत ॥ २१ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! राजा भगीरथकी यह बात सुनकर विश्ववन्दिता गङ्गा अत्यन्त प्रसन्न हुई और उनसे इस प्रकार बोलीं—॥ २१ ॥

करिष्यामि महाराज वचस्ते नात्र संशयः।
वेगं तु मम दुर्धार्यं पतन्त्या गगनाद् भुवम् ॥ २२ ॥

'महाराज! मैं तुम्हारी बात मानूँगी; इसमें संशय नहीं है; परंतु आकाशसे पृथ्वीपर गिरते समय मेरे वेगको रोकना बहुत कठिन है ॥ २२ ॥

न शक्तस्त्रिषु लोकेषु कश्चिद् धारयितुं नृप।
अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ॥ २३ ॥

'राजन्! देवश्रेष्ठ महेश्वर नीलकण्ठको छोड़कर तीनों लोकोंमें कोई भी मेरा वेग धारण नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

तं तोषय महाबाहो तपसा वरदं हरम्।
स तु मां प्रच्युतां देवः शिरसा धारयिष्यति ॥ २४ ॥

'महाबाहो! तुम तपस्याद्वारा उन्हीं वरदायक भगवान् शिवको संतुष्ट करो। स्वर्गसे गिरते समय वे ही मुझे अपने मस्तकपर धारण करेंगे ॥ २४ ॥

स करिष्यति ते कामं पितॄणां हितकाम्यया।
(तपसाऽऽराधितः शम्भुर्भगवाँल्लोकभावनः।)

'विश्वभावन भगवान् शंकर तपस्याद्वारा आराधना करनेपर तुम्हारे पितरोंके हितकी इच्छासे अवश्य तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे' ॥ २४½ ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् महाराजो भगीरथः ॥ २५ ॥
कैलासं पर्वतं गत्वा तोषयामास शंकरम्।
तपस्तीव्रमुपागम्य कालयोगेन केनचित् ॥ २६ ॥

राजन्! यह सुनकर महाराज भगीरथ कैलासपर्वतपर गये और वहाँ उन्होंने तीव्र तपस्या करके कुछ समयके बाद भगवान् शंकरको प्रसन्न किया ॥ २५-२६ ॥

अगृह्णाच्च वरं तस्माद् गङ्गाया धारणे नृप।
स्वर्गे वासं समुद्दिश्य पितॄणां स नरोत्तमः ॥ २७ ॥

नरेश्वर! तत्पश्चात् गङ्गाजीकी प्रेरणाके अनुसार नरश्रेष्ठ भगीरथने अपने पितरोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे महादेवजीसे गङ्गाजीके वेगको धारण करनेके लिये वरकी याचना की॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

पृथ्वीपर गङ्गाजीके उतरने और समुद्रको जलसे भरनेका विवरण तथा सगरपुत्रोंका उद्धार

लोमश उवाच

भगीरथवचः श्रुत्वा प्रियार्थं च दिवौकसाम्।
एवमस्त्विति राजानं भगवान् प्रत्यभाषत ॥ १ ॥
धारयिष्ये महाभाग गगनात् प्रच्युतां शिवाम्।
दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! राजा भगीरथकी बात सुनकर देवताओंका प्रिय करनेके लिये भगवान् शिवने कहा—'एवमस्तु' महाभाग! मैं तुम्हारे लिये आकाशसे गिरती हुई कल्याणमयी पुण्यस्वरूपा दिव्य देवनदी गङ्गाको अवश्य धारण करूँगा'॥

एवमुक्त्वा महाबाहो हिमवन्तमुपागमत्।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ३ ॥

महाबाहो! ऐसा कहकर भगवान् शिव भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित अपने भयंकर पार्षदोंसे घिरे हुए हिमालयपर आये ॥ ३ ॥

तत्र स्थित्वा नरश्रेष्ठं भगीरथमुवाच ह।
प्रयाचस्व महाबाहो शैलराजसुतां नदीम् ॥ ४ ॥
(पितॄणां पावनार्थं ते तामहं मनुजाधिप।)
पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात्।

वहाँ ठहरकर उन्होंने नरश्रेष्ठ भगीरथसे कहा—'महाबाहो! गिरिराजनन्दिनी महानदी गङ्गासे भूतलपर उतरनेके लिये प्रार्थना करो। नरेश्वर! मैं तुम्हारे पितरोंको पवित्र करनेके लिये स्वर्गसे उतरती हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाको सिरपर धारण करूँगा' ॥ ४½ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ॥ ५ ॥

प्रयतः प्रणतो भूत्वा गङ्गां समनुचिन्तयत्।
ततः पुण्यजला रम्या राज्ञा समनुचिन्तिता ॥ ६ ॥
ईशानं च स्थितं दृष्ट्वा गगनात् सहसा च्युता।
तां प्रच्युतामथो दृष्ट्वा देवाः सार्धं महर्षिभिः ॥ ७ ॥
गन्धर्वोरगयक्षाश्च समाजग्मुर्दिदृक्षवः ।
ततः पपात गगनाद् गङ्गा हिमवतः सुता ॥ ८ ॥

भगवान् शङ्करकी कही हुई यह बात सुनकर राजा भगीरथने एकाग्रचित्त हो प्रणाम करके गङ्गाजीका चिन्तन किया। राजाके चिन्तन करनेपर भगवान् शङ्करको खड़ा हुआ देख पुण्यसलिला रमणीय नदी गङ्गा सहसा आकाशसे नीचे गिरीं। उन्हें गिरती देख दर्शनके लिये उत्सुक हो महर्षियों-सहित देवता, गन्धर्व, नाग और यक्ष वहाँ आ गये। तदनन्तर हिमालयनन्दिनी गङ्गा आकाशसे वहाँ आ गिरीं ॥ ५-८ ॥

समुद्धृतमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला ।
तां दधार हरो राजन् गङ्गां गगनमेखलाम् ॥ ९ ॥
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ।

उस समय उनके जलमें बड़ी-बड़ी भँवरें और तरङ्गें उठ रही थीं। मत्स्य और ग्राह भरे हुए थे। राजन्! आकाशकी मेखलारूप गङ्गाको भगवान् शिवने अपने ललाटदेशमें पड़ी हुई मोतियोंकी मालाकी भाँति धारण कर लिया ॥ ९½ ॥

सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन् समुद्रगा ॥ १० ॥
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पङ्क्तयः ।
क्वचिदाभोगकुटिला प्रस्खलन्ती क्वचित् क्वचित् ॥ ११ ॥
सा फेनपटसंवीता मत्तेव प्रमदाव्रजत् ।
क्वचित् सा तोयनिनदैर्नदन्ती नादमुत्तमम् ॥ १२ ॥
एवंप्रकारान् सुबहून् कुर्वती गगनाच्च्युता ।
पृथिवीतलमासाद्य भगीरथमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महाराज! नीचे गिरती हुई फेनपुञ्जसे व्याप्त हुए जल-वाली समुद्रगामिनी गङ्गा तीन धाराओंमें बँटकर हंसोंकी पंक्तियोंके समान सुशोभित होने लगी। वह मतवाली स्त्रीकी भाँति इस प्रकार आयी कि कहीं तो सर्प-शरीरकी भाँति कुटिल गतिसे बहती थी और कहीं-कहीं ऊँचेसे नीचे गिरकर चट्टानों-से टकराती जाती थी एवं श्वेत वस्त्रोंके समान प्रतीत होनेवाले फेनपुञ्ज उसे आच्छादित किये हुए थे। कहीं-कहीं वह जलके कल-कल नादसे उत्तम संगीत-सा गा रही थी। इस प्रकार अनेक रूप धारण करनेवाली गङ्गा आकाशसे गिरी और भूतलपर पहुँचकर राजा भगीरथसे बोली—॥ १०-१३ ॥

दर्शयस्व महाराज मार्गं केन व्रजाम्यहम् ।
त्वदर्थमवतीर्णास्मि पृथिवीं पृथिवीपते ॥ १४ ॥

'महाराज! रास्ता दिखाओ मैं किस मार्गसे चलूँ? पृथ्वीपते! तुम्हारे लिये ही मैं इस भूतलपर उतरी हूँ' ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा प्रातिष्ठत भगीरथः ।
यत्र तानि शरीराणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १५ ॥
प्लावनार्थं नरश्रेष्ठ पुण्येन सलिलेन च ।

यह सुनकर राजा भगीरथ जहाँ महात्मा सगरपुत्रोंके शरीर पड़े थे, वहाँ गङ्गाजीके पावन जलसे उन शरीरोंको प्लावित करनेके लिये उस स्थानसे प्रस्थित हुए ॥ १५½ ॥

गङ्गाया धारणं कृत्वा हरो लोकनमस्कृतः ॥ १६ ॥
कैलासं पर्वतश्रेष्ठं जगाम त्रिदशैः सह ।
समासाद्य समुद्रं च गङ्गया सहितो नृपः ॥ १७ ॥
पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम् ।
दुहितृत्वे च नृपतिर्गङ्गां समनुकल्पयत् ॥ १८ ॥

विश्ववन्दित भगवान् शंकर गङ्गाजीको सिरपर धारण करके देवताओंके साथ पर्वतश्रेष्ठ कैलासको चले गये। राजा भगीरथने गङ्गाजीके साथ समुद्रतटपर जाकर वरुणालय समुद्रको बड़े वेगसे भर दिया और गङ्गाजीको अपनी पुत्री बना लिया ॥ १६-१८ ॥

पितॄणां चोदकं तत्र ददौ पूर्णमनोरथः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं गङ्गा त्रिपथगा यथा ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् वहाँ उन्होंने पितरोंके लिये जलदान किया और पितरोंका उद्धार होनेसे वे सफलमनोरथ हो गये। युधिष्ठिर! जिस प्रकार गङ्गा त्रिपथगा (स्वर्ग, पाताल और पृथ्वीपर गमन करनेवाली) हुई, वह सब प्रसंग मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ १९ ॥

पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता ।
(कालेयाश्च यथा राजंस्त्रिदशैर्विनिपातिताः।)
समुद्रश्च यथा पीतः कारणार्थे महात्मना ॥ २० ॥
वातापिश्च यथा नीतः क्षयं स ब्रह्महा प्रभो ।
अगस्त्येन महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥

महाराज! समुद्रको भरनेके लिये ही गङ्गा पृथ्वीपर उतारी गयी थी। राजन्! देवताओंने कालेयनामक दैत्योंको जिस प्रकार मार गिराया और कारणवश महात्मा अगस्त्यने जिस प्रकार समुद्र पी लिया तथा उन्होंने ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले वातापि नामक दैत्यको जिस प्रकार नष्ट किया, वह सब प्रसंग, जिसके विषयमें तुमने पूछा था, मैंने बता दिया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्यकथनविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २२ श्लोक हैं)

दशाधिकशततमोऽध्यायः

नन्दा तथा कौशिकीका माहात्म्य, ऋष्यशृङ्ग मुनिका उपाख्यान और उनको अपने राज्यमें लानेके लिये राजा लोमपादका प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातः कौन्तेयः क्रमेण भरतर्षभ।
नन्दामपरनन्दां च नद्यौ पापभयापहे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर क्रमशः आगे बढ़ने लगे। उन्होंने पाप और भयका निवारण करनेवाली नन्दा और अपरनन्दा—इन दो नदियोंकी यात्रा की ॥ १ ॥

पर्वतं स समासाद्य हेमकूटमनामयम्।
अचिन्त्यानद्भुतान् भावान् ददर्श सुबहून् नृपः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् रोग-शोकसे रहित हेमकूट पर्वतपर पहुँचकर राजा युधिष्ठिरने वहाँ बहुत-सी अचिन्त्य एवं अद्भुत बातें देखीं ॥ २ ॥

वाताबद्धा भवन्मेघा उपलाश्च सहस्रशः।
नाशक्नुवंस्तमारोढुं विषण्णमनसो जनाः ॥ ३ ॥

वहाँ वायुका सहारा लिये बिना ही बादल उत्पन्न हो जाते और अपने-आप हजारों पत्थर (ओले) पड़ने लगते थे। जिनके मनमें खेद भरा होता था ऐसे मनुष्य उस पर्वतपर चढ़ नहीं सकते थे ॥ ३ ॥

वायुर्नित्यं ववौ तत्र नित्यं देवश्च वर्षति।
स्वाध्यायघोषश्च तथा श्रूयते न च दृश्यते ॥ ४ ॥
सायं प्रातश्च भगवान् दृश्यते हव्यवाहनः।
मक्षिकाश्चादशंस्तत्र तपसः प्रतिघातिकाः ॥ ५ ॥
निर्वेदो जायते तत्र गृहाणि स्मरते जनः।
एवं बहुविधान् भावानद्भुतान् वीक्ष्य पाण्डवः।
लोमशं पुनरेवाथ पर्यपृच्छत् तदद्भुतम् ॥ ६ ॥

वहाँ प्रतिदिन हवा चलती और रोज-रोज मेघ वर्षा करता था। वेदोंके स्वाध्यायकी ध्वनि तो सुनायी पड़ती; परंतु स्वाध्याय करनेवालेका दर्शन नहीं होता था। सायंकाल और प्रातःकाल भगवान् अग्निदेव प्रज्वलित दिखायी देते थे। तपस्यामें विघ्न डालनेवाली मक्खियाँ वहाँ लोगोंको डंक मारती रहती थीं, अतः वहाँ विरक्ति होती और लोग घरोंकी याद करने लगते थे। इस प्रकार बहुत-सी अद्भुत बातें देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने लोमशजीसे पुनः इस अद्भुत अवस्थाके विषयमें पूछा ॥ ४–६ ॥

(युधिष्ठिर उवाच

यदेतद् भगवंश्चित्रं पर्वतेऽस्मिन् महौजसि।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण महाद्युते ॥)

युधिष्ठिरने कहा—महातेजस्वी भगवन् ! इस परम तेजोमय पर्वतपर जो ये आश्चर्यजनक बातें होती हैं, इसका क्या रहस्य है ? यह सब विस्तारपूर्वक मुझे बताइये ॥

लोमश उवाच

यथाश्रुतमिदं पूर्वमस्माभिररिकर्शन।
तदेकाग्रमना राजन् निबोध गदतो मम ॥ ७ ॥

तब लोमशजीने कहा—शत्रुसूदन ! हमने पूर्वकालमें जैसा सुन रखा है, वैसा बताया जाता है। तुम एकाग्रचित्त हो मेरे मुखसे इसका रहस्य सुनो ॥ ७ ॥

अस्मिन्नृषभकूटेऽभूदृषभो नाम तापसः।
अनेकशतवर्षायुस्तपस्वी कोपनो भृशम् ॥ ८ ॥

पहलेकी बात है, इस ऋषभकूटपर ऋषभनामसे प्रसिद्ध एक तपस्वी रहते थे। उनकी आयु कई सौ वर्षोंकी थी। वे तपस्वी होनेके साथ ही बड़े क्रोधी थे ॥ ८ ॥

स वै सम्भाष्यमाणोऽन्यैः कोपाद् गिरिमुवाच ह।
य इह व्याहरेत् कश्चिदुपलानुत्सृजेस्तथा ॥ ९ ॥
वातं चाहूय मा शब्दमित्युवाच स तापसः।
व्याहरंश्चेह पुरुषो मेघशब्देन वार्यते ॥ १० ॥
एवमेतानि कर्माणि राजंस्तेन महर्षिणा।
कृतानि कानिचित् क्रोधात् प्रतिषिद्धानि कानिचित् ११

उन्होंने दूसरोंके बुलानेपर कुपित होकर उस पर्वतसे कहा—'जो कोई यहाँपर बातचीत करे, उसपर तू ओले बरसा।' इसी प्रकार वायुको भी बुलाकर उन तपस्वी मुनिने कहा—'देखो, यहाँ किसी प्रकारका शब्द नहीं होना चाहिये।' तबसे जो कोई पुरुष यहाँ बोलता है, उसे मेघकी गर्जनाद्वारा रोका जाता है। राजन् ! इस प्रकार उन महर्षिने ही ये अद्भुत कार्य किये हैं। उन्होंने क्रोधवश कुछ कार्यों-का विधान और कुछ बातोंका निषेध कर दिया है ॥ ९–११ ॥

नन्दां त्वभिगता देवाः पुरा राजन्निति श्रुतिः।
अन्वपद्यन्त सहसा पुरुषा देवदर्शिनः ॥ १२ ॥

राजन् ! यह सुना जाता है कि प्राचीन कालमें देवतालोग नन्दाके तटपर आये थे, उस समय उनके दर्शनकी इच्छासे बहुतेरे मनुष्य सहसा वहाँ आ पहुँचे ॥ १२ ॥

ते दर्शनं त्वनिच्छन्तो देवाः शक्रपुरोगमाः।
दुर्गं चक्रुरिमं देशं गिरिं प्रत्यूहरूपकम् ॥ १३ ॥

इन्द्र आदि देवता उन्हें दर्शन देना नहीं चाहते थे, अतः विघ्नस्वरूप इस पर्वतीय प्रदेशको उन्होंने जनसाधारणके लिये दुर्गम बना दिया ॥ १३ ॥

तदाप्रभृति कौन्तेय नरा गिरिमिमं सदा।
नाशक्नुवन्नभिद्रष्टुं कुत एवाधिरोहितुम् ॥१४॥

कुन्तीनन्दन! तभीसे साधारण मनुष्य इस पर्वतको देख भी नहीं सकते, चढ़ना तो दूरकी बात है ॥ १४ ॥

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुमेष महागिरिः।
आरोढुं वापि कौन्तेय तस्मान्नियतवाग् भव ॥१५॥

कुन्तीकुमार! जिसने तपस्या नहीं की है, वह मनुष्य इस महान् पर्वतको न तो देख सकता है और न चढ़ ही सकता है; अतः तुम मौन व्रत धारण करो ॥ १५ ॥

इह देवास्तदा सर्वे यज्ञानाजह्रुरुत्तमान्।
तेषामेतानि लिङ्गानि दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥१६॥

उन दिनों सम्पूर्ण देवताओंने यहाँ आकर उत्तम यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। भारत! उनके ये चिह्न आज भी प्रत्यक्ष देखे जाते हैं ॥ १६ ॥

कुशाकारेव दूर्वेयं संस्तीर्णेव च भूरियम्।
यूपप्रकारा बहवो वृक्षाश्चेमे विशाम्पते ॥१७॥

यह दूर्वा कुशके आकारकी दिखायी देती है और यह भूमि ऐसी लगती है, मानो इसपर कुश बिछाये गये हों। महाराज! ये वृक्ष भी यज्ञ-यूपके समान जान पड़ते हैं ॥१७॥

देवाश्च ऋषयश्चैव वसन्त्यद्यापि भारत।
तेषां सायं तथा प्रातर्दृश्यते हव्यवाहनः ॥१८॥

भारत! आज भी यहाँ देवता तथा ऋषि निवास करते हैं। सायंकाल और प्रातःकाल यहाँ उनके द्वारा प्रज्वलित की हुई अग्निका दर्शन होता है ॥ १८ ॥

इहाप्लुतानां कौन्तेय सद्यः पाप्माभिहन्यते।
कुरुश्रेष्ठाभिषेकं वै तस्मात् कुरु सहानुजः ॥१९॥

कुन्तीनन्दन! इस तीर्थमें गोता लगानेवाले मानवोंका सारा पाप तत्काल नष्ट हो जाता है। अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम अपने भाइयोंके साथ यहाँ स्नान करो ॥ १९ ॥

ततो नन्दाप्लुताङ्गस्त्वं कौशिकीमभियास्यसि।
विश्वामित्रेण यत्रोग्रं तपस्तप्तमनुत्तमम् ॥२०॥

नन्दामें गोता लगानेके पश्चात् तुम्हें कौशिकीके तटपर चलना होगा, जहाँ महर्षि विश्वामित्रजीने उत्तम एवं उग्र तपस्या की थी ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र समाप्लुत्य गात्राणि सगणो नृपः।
जगाम कौशिकीं पुण्यां रम्यां शीतजलां शुभाम् ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर राजा युधिष्ठिर अपने दल-बलके साथ नन्दामें गोता लगाकर रमणीय एवं शीतल जलवाली शुभ पुण्यमयी कौशिकीके तटपर गये ॥२१॥

लोमश उवाच

एषा देवनदी पुण्या कौशिकी भरतर्षभ।
विश्वामित्राश्रमो रम्य एष चात्र प्रकाशते ॥२२॥

वहाँ लोमशजीने कहा—भरतश्रेष्ठ! यह देवताओंकी नदी पुण्यसलिला कौशिकी है और यह विश्वामित्रका रमणीय आश्रम है, जो यहाँ प्रकाशित हो रहा है ॥ २२ ॥

आश्रमश्चैव पुण्याख्यः काश्यपस्य महात्मनः।
ऋष्यश्रृङ्गः सुतो यस्य तपस्वी संयतेन्द्रियः ॥२३॥
तपसो यः प्रभावेण वर्षयामास वासवम्।
अनावृष्ट्यां भयाद् यस्य ववर्ष बलवृत्रहा ॥२४॥

यहीं कश्यपगोत्रीय महात्मा विभाण्डकका 'पुण्य' नामक आश्रम है। इन्हींके तपस्वी एवं जितेन्द्रिय पुत्र महात्मा ऋष्यश्रृङ्ग हैं, जिन्होंने अपनी तपस्याके प्रभावसे इन्द्रद्वारा वर्षा करवायी थी। उन दिनों देशमें घोर अनावृष्टि फैल रही थी, वैसे समयमें ऋष्यश्रृङ्ग मुनिके भयसे बल और वृत्रासुरके विनाशक देवराज इन्द्रने उस देशमें वर्षा की थी ॥२३-२४॥

मृग्यां जातः स तेजस्वी काश्यपस्य सुतः प्रभुः।
विषये लोमपादस्य यश्चकाराद्भुतं महत् ॥२५॥

वे तेजस्वी एवं शक्तिशाली मुनि मृगीके पेटसे पैदा हुए थे और कश्यपनन्दन विभाण्डकके पुत्र थे। उन्होंने राजा लोमपादके राज्यमें अत्यन्त अद्भुत कार्य किया था ॥ २५ ॥

निर्वर्तितेषु सस्येषु यस्मै शान्तां ददौ नृपः।
लोमपादो दुहितरं सावित्रीं सविता यथा ॥२६॥

जब वर्षासे खेती अच्छी तरह लहलहा उठी, तब राजा लोमपादने अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यश्रृङ्गको ब्याह दी; ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यदेवने अपनी बेटी सावित्रीका ब्रह्माजीके साथ ब्याह किया था ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ऋष्यश्रृङ्गः कथं मृग्यामुत्पन्नः काश्यपात्मजः।
विरुद्धे योनिसंसर्गे कथं च तपसा युतः ॥२७॥
किमर्थं च भयाच्छक्रस्तस्य बालस्य धीमतः।
अनावृष्ट्यां प्रवृत्तायां ववर्ष बलवृत्रहा ॥२८॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! कश्यपनन्दन विभाण्डकके पुत्र ऋष्यश्रृङ्ग मृगीके पेटसे कैसे उत्पन्न हुए? मनुष्यका पशुयोनिसे संसर्ग करना तो शास्त्र और व्यवहार दोनों ही दृष्टियोंसे विरुद्ध है। ऐसे विरुद्ध योनि-संसर्गसे उत्पन्न हुआ बालक तपस्वी कैसे हो सका? उस बुद्धिमान् बालकके भयसे बल और वृत्रासुरका विनाश करनेवाले देवराज इन्द्रने अनावृष्टिके समय वर्षा कैसे की? ॥ २७-२८ ॥

कथंरूपा च सा शान्ता राजपुत्री यतव्रता।
लोभयामास या चेतो मृगभूतस्य तस्य वै ॥२९॥

लोमपादश्च राजर्षिर्यदाश्रूयत धार्मिकः ।
कथं वै विषये तस्य नावर्षत् पाकशासनः ॥३०॥

नियम और व्रतका पालन करनेवाली राजकुमारी शान्ता भी कैसी थी, जिसने मृगस्वरूप मुनिका भी मन मोह लिया। राजर्षि लोमपाद तो बड़े धर्मात्मा सुने गये हैं, फिर उनके राज्यमें इन्द्र वर्षा क्यों नहीं करते थे ? ॥ २९-३० ॥

एतन्मे भगवन् सर्वं विस्तरेण यथातथम् ।
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोर्ऋष्यश्रृङ्गस्य चेष्टितम् ॥३१॥

भगवन् ! ये सब बातें आप विस्तारपूर्वक यथार्थरूपसे बताइये । मैं महर्षि ऋष्यश्रृङ्गके चरित्रको सुनना चाहता हूँ ॥

लोमश उवाच

विभाण्डकस्य विप्रर्षेस्तपसा भावितात्मनः ।
अमोघवीर्यस्य सतः प्रजापतिसमद्युतेः ॥३२॥
शृणु पुत्रो यथा जात ऋष्यश्रृङ्गः प्रतापवान् ।
महाह्रस्य महातेजा बालः स्थविरसम्मतः ॥३३॥

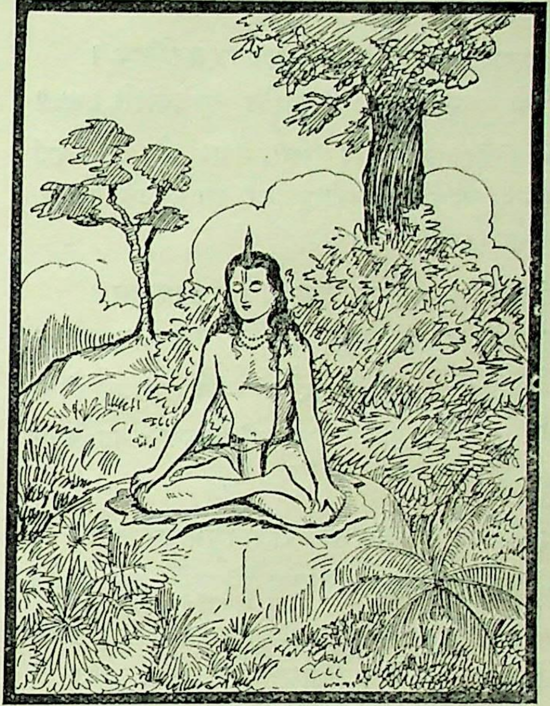
लोमशजीने कहा—राजन् ! ब्रह्मर्षि विभाण्डकका अन्तःकरण तपस्यासे पवित्र हो गया था। वे प्रजापतिके समान तेजस्वी और अमोघवीर्य महात्मा थे । उनके प्रतापी पुत्र ऋष्यश्रृङ्गका जन्म कैसे हुआ, यह बताता हूँ, सुनो । जैसे विभाण्डक मुनि परम पूजनीय थे, वैसे ही उनका पुत्र भी बड़ा तेजस्वी हुआ । वह बाल्यावस्थामें भी वृद्ध पुरुषोंद्वारा सम्मानित होता था ॥ ३२-३३ ॥

महाह्रदं समासाद्य काश्यपस्तपसि स्थितः ।
दीर्घकालं परिश्रान्त ऋषिः स देवसम्मितः ॥३४॥

कश्यपगोत्रीय विभाण्डक मुनि देवताओंके समान सुन्दर थे । वे एक बहुत बड़े कुण्डमें प्रविष्ट होकर तपस्या करने लगे । उन्होंने दीर्घकालतक महान् क्लेश सहन किया ॥३४॥

तस्य रेतः प्रचस्कन्द दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम् ।
अप्सूपस्पृशतो राजन् मृगी तच्चापिबत् तदा ॥३५॥
सह तोयेन तृषिता गर्भिणी चाभवत् ततः ।
सा पुरोक्ता भगवता ब्रह्मणा लोककर्तृणा ॥३६॥
देवकन्या मृगी भूत्वा मुनिं सूय विमोक्ष्यसे ।
अमोघत्वाद् विधेश्चैव भावित्वाद् दैवनिर्मितात् ॥३७॥
तस्यां मृग्यां समभवत् तस्य पुत्रो महानृषिः ।
ऋष्यश्रृङ्गस्तपोनित्यो वन एवाभ्यवर्तत ॥३८॥

राजन् ! एक दिन जब वे जलमें स्नान कर रहे थे, उर्वशी अप्सराको देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया । उसी समय प्याससे व्याकुल हुई एक मृगी वहाँ आयी और पानीके साथ उस वीर्यको भी पी गयी । इससे उसके गर्भ रह गया । वह पूर्वजन्ममें एक देवकन्या थी । लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने उसे यह वचन दिया था कि तू मृगी होकर एक मुनिको जन्म देनेके पश्चात् उस योनिसे मुक्त हो जायगी । ब्रह्माजीकी वाणी अमोघ है और दैवके विधानको कोई टाल नहीं सकता, इसलिये विभाण्डकके पुत्र महर्षि ऋष्यश्रृङ्गका जन्म मृगीके ही पेटसे हुआ । वे सदा तपस्यामें संलग्न रहकर वनमें ही निवास करते थे ॥ ३५-३८ ॥



तस्यर्षेः श्रृङ्गं शिरसि राजन्नासीन्महात्मनः ।
तेनर्ष्यश्रृङ्ग इत्येवं तदा स प्रथितोऽभवत् ॥३९॥

राजन् ! उन महात्मा मुनिके सिरपर एक सींग था, इसलिये उस समय उनका ऋष्यश्रृङ्ग नाम प्रसिद्ध हुआ ॥३९॥

न तेन दृष्टपूर्वोऽन्यः पितुरन्यत्र मानुषः ।
तस्मात् तस्य मनो नित्यं ब्रह्मचर्येऽभवन्नृप ॥४०॥

नरेश्वर ! उन्होंने अपने पिताके सिवा दूसरे किसी मनुष्यको पहले कभी नहीं देखा था, इसलिये उनका मन सदा स्वभावसे ही ब्रह्मचर्यमें संलग्न रहता था ॥ ४० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सखा दशरथस्य वै ।
लोमपाद इति ख्यातो ह्यङ्गानामीश्वरोऽभवत् ॥४१॥

इन्हीं दिनों राजा दशरथके मित्र लोमपाद अङ्गदेशके राजा हुए ॥ ४१ ॥

तेन कामात् कृतं मिथ्या ब्राह्मणस्येति नः श्रुतिः ।
स ब्राह्मणैः परित्यक्तस्ततो वै जगतः पतिः ॥४२॥
पुरोहितापचाराच्च तस्य राज्ञो यदृच्छया ।
न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः ॥४३॥

उन्होंने जान-बूझकर एक ब्राह्मणके साथ मिथ्या व्यवहार किया—यह बात हमारे सुननेमें आयी है। इसी अपराधके कारण ब्राह्मणोंने राजा लोमपादको त्याग दिया था। राजाने पुरोहितपर मनमाना दोषारोपण किया था, इसलिये इन्द्रने उनके राज्यमें वर्षा बंद कर दी। इस अनावृष्टिके कारण प्रजाको बड़ा कष्ट होने लगा ॥ ४२-४३ ॥

स ब्राह्मणान् पर्यपृच्छत् तपोयुक्तान् मनीषिणः ।
प्रवर्षणे सुरेन्द्रस्य समर्थान् पृथिवीपते ॥४४॥

युधिष्ठिर ! तब राजाने तपस्वी, मेधावी और इन्द्रसे वर्षा करवानेमें समर्थ ब्राह्मणोंको बुलाकर इस संकटके निवारणका उपाय पूछा ॥ ४४ ॥

कथं प्रवर्षेत् पर्जन्य उपायः परिदृश्यताम् ।
तमूचुश्चोदितास्ते तु स्वमतानि मनीषिणः ॥४५॥

'विप्रगण ! मेघ कैसे वर्षा करे—यह उपाय सोचिये।' उनके पूछनेपर मनीषी महात्माओंने अपना-अपना विचार बताया ॥ ४५ ॥

तत्र त्वेको मुनिवरस्तं राजानमुवाच ह ।
कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिं चर ॥४६॥

उन्हीं ब्राह्मणोंमें एक श्रेष्ठ महर्षि भी थे। उन्होंने राजासे कहा—'राजेन्द्र ! तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण कुपित हैं; इसके लिये तुम प्रायश्चित्त करो ॥ ४६ ॥

ऋष्यशृङ्गं मुनिसुतमानयस्व च पार्थिव ।
वानेयमनभिज्ञं च नारीणामार्जवे रतम् ॥४७॥
स चेदवतरेद् राजन् विषयं ते महातपाः ।
सद्यः प्रवर्षेत् पर्जन्य इति मे नात्र संशयः ॥४८॥

'भूपाल ! साथ ही हम तुम्हें यह सलाह देते हैं कि अपने राज्यमें महर्षि विभाण्डकके पुत्र वनवासी ऋष्यशृङ्गको बुलाओ। वे स्त्रियोंसे सर्वथा अपरिचित हैं और सदा सरल व्यवहारमें ही तत्पर रहते हैं। महाराज ! वे महातपस्वी ऋष्यशृङ्ग यदि आपके राज्यमें पदार्पण करें तो तत्काल ही मेघ वर्षा करेगा, इस विषयमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है' ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजन् कृत्वा निष्कृतिमात्मनः ।
स गत्वा पुनरागच्छत् प्रसन्नेषु द्विजातिषु ॥४९॥

राजन् ! यह सुनकर राजा लोमपाद अपने अपराधका प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणोंके पास गये और जब वे प्रसन्न हो गये, तब पुनः अपनी राजधानीको लौट आये ॥ ४९ ॥

राजानमागतं श्रुत्वा प्रतिसंजहृषुः प्रजाः ।
ततोऽङ्गपतिराहूय सचिवान् मन्त्रकोविदान् ॥५०॥
ऋष्यशृङ्गागमे यत्नमकरोन्मन्त्रनिश्चये ।
सोऽध्यगच्छदुपायं तु तैरमात्यैः सहाच्युतः ॥५१॥
शास्त्रज्ञैरलमर्थज्ञैर्नीत्यां च परिनिष्ठितैः ।
ततश्चानाययामास वारमुख्या महीपतिः ॥५२॥
वेश्याः सर्वत्र निष्णातास्ता उवाच स पार्थिवः ।
ऋष्यशृङ्गमृषेः पुत्रमानयध्वमुपायतः ॥५३॥

राजाका आगमन सुनकर प्रजाजनोंको बड़ा हर्ष हुआ। तदनन्तर अङ्गराज मन्त्रकुशल मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे सलाह करके एक निश्चयपर पहुँच जानेके बाद मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको अपने यहाँ ले आनेके प्रयत्नमें लग गये। राजाके मन्त्री शास्त्रज्ञ, अर्थशास्त्रके विद्वान् और नीतिनिपुण थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले नरेशने उन मन्त्रियोंके साथ विचार करके एक उपाय जान लिया। तत्पश्चात् भूपाल लोमपादने दूसरोंको लुभानेकी सब कलाओंमें कुशल प्रधान-प्रधान वेश्याओंको बुलाया और कहा—'तुमलोग कोई उपाय करके मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको यहाँ ले आओ ॥ ५०-५३ ॥

लोभयित्वाभिविश्वास्य विषयं मम शोभनाः ।
ता राजभयभीताश्च शापभीताश्च योषितः ॥५४॥
अशक्यमूचुस्तत् कार्यं विवर्णा गतचेतसः ।
तत्र त्वेका जरद्योषा राजानमिदमब्रवीत् ॥५५॥

'सुन्दरियो ! तुम लुभाकर उन्हें सब प्रकारसे सुख-सुविधाका विश्वास दिलाकर मेरे राज्यमें ले आना।' महाराजकी यह बात सुनते ही वेश्याओंका रंग फीका पड़ गया। वे अचेत-सी हो गयीं। एक ओर तो उन्हें राजाका भय था और दूसरी ओर वे मुनिके शापसे डरी हुई थीं; अतः उन्होंने इस कार्यको असम्भव बताया। उन सबमें एक बूढ़ी स्त्री थी। उसने राजासे इस प्रकार कहा—॥५४-५५॥

प्रयतिष्ये महाराज तमानेतुं तपोधनम् ।
अभिप्रेतांस्तु मे कामांस्त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥५६॥
ततः शक्ष्याम्यानयितुमृष्यशृङ्गमृषेः सुतम् ।
तस्याः सर्वमभिप्रेतमन्वजानात् स पार्थिवः ॥ ५७ ॥

'महाराज ! मैं उन तपोधन मुनिकुमारको लानेका प्रयत्न करूँगी; परंतु आप यह आज्ञा दें कि मैं इसके लिये मनचाही व्यवस्था कर सकूँ। यदि मेरी इच्छा पूर्ण हुई तो मैं मुनिपुत्र ऋष्यशृङ्गको यहाँ लानेमें सफल हो सकूँगी।' राजाने उसकी इच्छाके अनुसार व्यवस्था करनेकी आज्ञा दे दी ॥५६-५७॥

धनं च प्रददौ भूरि रत्नानि विविधानि च ।
ततो रूपेण सम्पन्ना वयसा च महीपते ।
स्त्रिय आदाय कश्चित् सा जगाम वनमञ्जसा ॥ ५८ ॥

साथ ही उसे प्रचुर धन और नाना प्रकारके रत्न भी दिये। युधिष्ठिर! तदनन्तर वह वेश्या रूप और यौवनसे सम्पन्न कुछ सुन्दरी स्त्रियोंको साथ लेकर शीघ्रतापूर्वक वनकी ओर चल दी ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें ऋष्यशृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

वेश्याका ऋष्यशृङ्गको लुभाना और विभाण्डक मुनिका आश्रमपर आकर अपने पुत्रकी चिन्ताका कारण पूछना

लोमश उवाच

सा तु नाव्याश्रमं चक्रे राजकार्यार्थसिद्धये ।
संदेशाच्चैव नृपतेः स्वबुद्ध्या चैव भारत ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भरतनन्दन! उस वेश्याने राजाकी आज्ञाके अनुसार और अपनी बुद्धिसे भी उनका कार्य सिद्ध करनेके लिये नावपर एक सुन्दर आश्रम बनाया ॥

नानापुष्पफलैर्वृक्षैः कृत्रिमैरुपशोभितैः ।
नानागुल्मलतोपेतैः स्वादुकामफलप्रदैः ॥ २ ॥

वह आश्रम भाँति-भाँतिके पुष्प और फलोंसे सुशोभित कृत्रिम वृक्षोंसे घिरा हुआ था। उन वृक्षोंपर नाना प्रकारके गुल्म और लतासमूह फैले हुए थे और वे वृक्ष स्वादिष्ठ एवं वांछनीय फल देनेवाले थे ॥ २ ॥

अतीव रमणीयं तदतीव च मनोहरम् ।
चक्रे नाव्याश्रमं रम्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥

उन वृक्षोंके कारण वह आश्रम अत्यन्त रमणीय और परम मनोहर दिखायी देता था। वेश्याने उस नावपर जिस सुन्दर आश्रमका निर्माण किया था, वह देखनेमें अद्भुत-सा था ॥ ३ ॥

ततो निबध्य तां नावमदूरे काश्यपाश्रमात् ।
चारयामास पुरुषैर्विहारं तस्य वै मुनेः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उसने अपनी उस नावको काश्यप गोत्रीय विभाण्डक मुनिके आश्रमसे थोड़ी ही दूरपर बाँध दिया और गुप्तचरोंको भेजकर यह पता लगा लिया कि इस समय विभाण्डक मुनि अपनी कुटियासे बाहर गये हैं ॥ ४ ॥

ततो दुहितरं वेश्यां समाधायेतिकार्यताम् ।
दृष्ट्वान्तरं काश्यपस्य प्राहिणोद् बुद्धिसम्मताम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर विभाण्डक मुनिको दूर गया देख उस वेश्याने अपनी परम बुद्धिमती पुत्रीको, जो उसीकी भाँति वेश्यावृत्ति अपनाये हुए थी, कर्तव्यकी शिक्षा देकर मुनिके आश्रमपर भेजा ॥ ५ ॥

सा तत्र गत्वा कुशला तपोनित्यस्य संनिधौ ।
आश्रमं तं समासाद्य ददर्श तमृषेः सुतम् ॥ ६ ॥

वह भी कार्यसाधनमें कुशल थी। उसने वहाँ जाकर निरन्तर तपस्यामें लगे रहनेवाले ऋषिकुमार ऋष्यशृङ्गके समीप उस आश्रममें पहुँचकर उनको देखा ॥ ६ ॥

वेश्योवाच

कच्चिन्मुने कुशलं तापसानां
कच्चिच्च वो मूलफलं प्रभूतम् ।
कच्चिद् भवान् रमते चाश्रमेऽस्मिं-
स्त्वां वै द्रष्टुं साम्प्रतमागतोऽस्मि ॥ ७ ॥

'तत्पश्चात्' वेश्याने कहा—मुने! तपस्वीलोग कुशलसे तो हैं न? आपलोगोंको पर्याप्त फल-मूल तो मिल जाते हैं न? आप इस आश्रममें प्रसन्न तो हैं न? मैं इस समय आपके दर्शनके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ७ ॥

कच्चित् तपो वर्धते तापसानां
पिता च ते कच्चिदहीनतेजाः ।
कच्चित् त्वया प्रीयते चैव विप्र
कच्चित् स्वाध्यायः क्रियते चर्ष्यशृङ्ग ॥ ८ ॥

क्या तपस्वीलोगोंकी तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है? आपके पिताका तेज क्षीण तो नहीं हो रहा है? ब्रह्मन्! आप मजेमें हैं न? ऋष्यशृङ्गजी! आपके स्वाध्यायका क्रम चल रहा है न? ॥ ८ ॥

ऋष्यशृङ्ग उवाच

ऋद्ध्या भवाञ्ज्योतिरिव प्रकाशते
मन्ये चाहं त्वामभिवादनीयम् ।
पाद्यं वै ते सम्प्रदास्यामि कामाद्
यथाधर्मं फलमूलानि चैव ॥ ९ ॥

ऋष्यशृङ्ग बोले—ब्रह्मन्! आप अपनी समृद्धिसे ज्योतिकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं। मैं आपको अपने लिये वन्दनीय मानता हूँ और स्वेच्छासे धर्मके अनुसार आपके लिये पाद्य-अर्घ्य एवं फल-मूल अर्पण करता हूँ ॥ ९ ॥

कौश्यां बृष्यामास्स्व यथोपजोषं
कृष्णाजिनेनावृतायां सुखायाम् ।
क्व चाश्रमस्तव किं नाम चेदं
व्रतं ब्रह्मंश्चरसि हि देववत् त्वम् ॥ १० ॥

इस कुशासनपर आप सुखपूर्वक बैठें। इसपर काला मृगचर्म बिछाया गया है, इसलिये इसपर बैठनेमें आराम रहेगा। आपका आश्रम कहाँ है? और आपका नाम क्या है? ब्रह्मन्! आप देवताके समान यह किस व्रतका आचरण कर रहे हैं? ॥ १० ॥

वेश्योवाच

ममाश्रमः काश्यपपुत्र रम्य-
स्त्रियोजनं शैलमिमं परेण ।
तत्र स्वधर्मो नाभिवादनं मे
न चोदकं पाद्यमुपस्पृशामि ॥ ११ ॥

वेश्या बोली—काश्यपनन्दन। मेरा आश्रम बड़ा मनोहर है। वह इस पर्वतके उस पार तीन योजनकी दूरीपर स्थित है। वहाँ मेरा जो अपना धर्म है, उसके अनुसार आपको मेरा अभिवादन (प्रणाम) नहीं करना चाहिये। मैं आपके दिये हुए अर्घ्य और पाद्यका स्पर्श नहीं करूँगा॥

भवता नाभिवाद्योऽहमभिवाद्यो भवान् मया ।
व्रतमेतादृशं ब्रह्मन् परिष्वज्यो भवान् मया ॥ १२ ॥

मैं आपके लिये वन्दनीय नहीं हूँ। आप ही मेरे वन्दनीय हैं। ब्रह्मन्! मेरा यह नियम है, जिसके अनुसार मुझे आपका आलिङ्गन करना चाहिये ॥ १२ ॥

ऋष्यशृङ्ग उवाच

फलानि पक्वानि ददानि तेऽहं
भल्लातकान्यामलकानि चैव ।
करूषकाणीङ्गुदधन्वनानि
पिप्पलानां कामकारं कुरुष्व ॥ १३ ॥

ऋष्यशृङ्गने कहा—ब्रह्मन्! मैं तुम्हें पके फल दे रहा हूँ। ये भिलावा, आँवले, करूषक (फालसा), इङ्गुद (हिंगोट), धन्वन (धामिन) और पीपलके फल प्रस्तुत हैं—इन सबका इच्छानुसार उपयोग कीजिये ॥ १३ ॥

लोमश उवाच

सा तानि सर्वाणि विवर्जयित्वा
भक्ष्याण्यनर्हाणि ददौ ततोऽस्य ।
तान्यृष्यशृङ्गस्य महारसानि
भृशं सुरूपाणि रुचिं ददुर्हि ॥ १४ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वेश्याने उन सब फलोंको छोड़कर स्वयं ऋष्यशृङ्गको अत्यन्त सुन्दर और अमूल्य भक्ष्य पदार्थ (फल आदि) दिये। उन परम सरस फलोंने उनकी रुचिको बढ़ाया ॥ १४ ॥

ददौ च माल्यानि सुगन्धवन्ति
चित्राणि वासांसि च भानुमन्ति ।
पेयानि चाग्र्याणि ततो मुमोद
चिक्रीड चैव प्रजहास चैव ॥ १५ ॥

सा कन्दुकेनारमतास्य मूले
विभज्यमाना फलिता लतेव ।
गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा
समाश्लिषच्चासकृदृष्यशृङ्गम् ॥ १६ ॥

साथ ही सुगन्धित मालाएँ तथा विचित्र एवं चमकीले वस्त्र प्रदान किये। इतना ही नहीं, उसने मुनिकुमारको अच्छी श्रेणीके पेय पिलाये, जिससे वे बहुत प्रसन्न हुए। वे उसके साथ खेलने और जोर-जोरसे हँसने लगे। वेश्या ऋष्यशृङ्गके पास ही गेंद खेलने लगी। वह अपने अङ्गोंको मोड़ती हुई फलोंके भारसे लदी लताकी भाँति झुक जाती और ऋष्यशृङ्ग मुनिको बार-बार अपने अङ्कमें भर लेती थी। साथ ही अपने अङ्गोंसे उनके अङ्गोंको इस प्रकार दबाती, मानो उनके भीतर समा जायगी ॥ १५-१६ ॥

सर्जानशोकांस्तिलकांश्च वृक्षान्
सुपुष्पितानवनाम्यावभज्य ।
विलज्जमानेव मदाभिभूता
प्रलोभयामास सुतं महर्षेः ॥ १७ ॥

वहाँ शाल, अशोक और तिलकके वृक्ष खूब फूले हुए थे। उनकी डालियोंको झुकाकर वह मदोन्मत्त वेश्या लज्जाका नाट्य-सा करती हुई महर्षिके उस पुत्रको लुभाने लगी॥



अथर्ष्यशृङ्गं विकृतं समीक्ष्य
पुनः पुनः पीड्य च कायमस्य ।
अवेक्ष्यमाणा शनकैर्जगाम
कृत्वाग्निहोत्रस्य तदापदेशम् ॥ १८ ॥

ऋष्यशृङ्गकी आकृतिमें किञ्चित् विकार देखकर उसने बार-बार उनके शरीरको आलिङ्गनके द्वारा दबाया और अग्निहोत्रका बहाना बनाकर वह उनके द्वारा देखी जाती हुई धीरे-धीरे वहाँसे चली गयी ॥ १८ ॥

तस्यां गतायां मदनेन मत्तो
विचेतनश्चाभवदृष्यशृङ्गः ।
तामेव भावेन गतेन शून्ये
विनिःश्वसन्नार्तरूपो बभूव ॥ १९ ॥

उसके चले जानेपर उसके अनुरागसे उन्मत्त मुनिकुमार ऋष्यशृङ्ग अचेत-से हो गये। उस निर्जन स्थानमें उनकी मनोवृत्ति उसीकी ओर लगी रही और वे लम्बी साँस खींचते हुए अत्यन्त व्यथित हो उठे ॥ १९ ॥

ततो मुहूर्ताद्धरिपिङ्गलाक्षः
प्रवेष्टितो रोमभिरानखाग्रात् ।
स्वाध्यायवान् वृत्तसमाधियुक्तो
विभाण्डकः काश्यपः प्रादुरासीत् ॥ २० ॥

तदनन्तर दो घड़ीके बाद हरे-पीले नेत्रोंवाले काश्यपनन्दन विभाण्डक मुनि वहाँ आ पहुँचे। वे सिरसे लेकर पैरोंके नखोंतक रोमावलियोंसे भरे हुए थे। महात्मा विभाण्डक स्वाध्यायशील, सदाचारी तथा समाधिनिष्ठ महर्षि थे ॥ २० ॥

सोऽपश्यदासीनमुपेत्य पुत्रं
ध्यायन्तमेकं विपरीतचित्तम् ।
विनिःश्वसन्तं मुहुरूर्ध्वदृष्टिं
विभाण्डकः पुत्रमुवाच दीनम् ॥ २१ ॥
न कल्प्यन्ते समिधः किं नु तात
कच्चिद्धुतं चाग्निहोत्रं त्वयाद्य ।
सुनिर्णिक्तं स्रुक्स्रुवं होमधेनुः
कच्चित् सवत्साद्य कृता त्वया च ॥ २२ ॥
न वै यथापूर्वमिवासि पुत्र
चिन्तापरश्चासि विचेतनश्च ।
दीनोऽतिमात्रं त्वमिहाद्य किं नु
पृच्छामि त्वां क इहाद्यागतोऽभूत् ॥ २३ ॥

निकट आनेपर उन्होंने अपने पुत्रको अकेला उदासीन भावसे चिन्तामग्न होकर बैठा देखा। उसके चित्तकी दशा विपरीत थी। वह बार-बार ऊपरकी ओर दृष्टि किये उच्छ्वास ले रहा था। इस दयनीय दशामें पुत्रको देखकर विभाण्डक मुनिने पूछा—'तात! आज तुम अग्निकुण्डमें समिधाएँ क्यों नहीं रख रहे हो! क्या तुमने अग्निहोत्र कर लिया? स्रुक् और स्रुवा आदि यज्ञपात्रोंको भली-भाँति शुद्ध करके रक्खा है न? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि तुमने हवनके लिये दूध देनेवाली गायका बछड़ा खोल दिया हो जिससे वह सारा दूध पी गया हो। बेटा! आज तुम पहले-जैसे दिखायी नहीं देते। किसी भारी चिन्तामें निमग्न हो, अपनी सुध-बुध खो बैठे हो। क्या कारण है जो आज तुम अत्यन्त दीन हो रहे हो। मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ, आज यहाँ कौन आया था?' ॥ २१-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें ऋष्यशृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋष्यशृङ्गका पिताको अपनी चिन्ताका कारण बताते हुए ब्रह्मचारीरूपधारी वेश्याके स्वरूप और आचरणका वर्णन

ऋष्यशृङ्ग उवाच

इहागतो जटिलो ब्रह्मचारी
न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी ।
सुवर्णवर्णः कमलायताक्षः
स्वतः सुराणामिव शोभमानः ॥ १ ॥

ऋष्यशृङ्गने कहा—पिताजी! यहाँ एक जटाधारी ब्रह्मचारी आया था। वह न तो छोटा था और न बहुत बड़ा ही। उसका हृदय बहुत उदार था। उसके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी और बड़ी-बड़ी आँखें कमलोंके सदृश जान पड़ती थीं। वह स्वयं देवताओंके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १ ॥

समृद्धरूपः सवितेव दीप्तः
सुश्लक्ष्णकृष्णाक्षिरतीव गौरः ।
नीलाः प्रसन्नाश्च जटाः सुगन्धा
हिरण्यरज्जुग्रथिताः सुदीर्घाः ॥ २ ॥

उसका रूप बड़ा सुन्दर था। वह सूर्यदेवकी भाँति उद्भासित हो रहा था। उसके नेत्र स्वच्छ, चिकने एवं कजरारे थे। वह बड़ा गोरा दिखायी देता था। उसकी

जटाएँ बहुत लम्बी, साफ-सुथरी और नीले रंगकी थीं। उनसे बड़ी मधुर गन्ध फैल रही थी। वे सारी जटाएँ एक सुनहरी रस्सीसे गुँथी हुई थीं ॥ २ ॥

आश्चर्यरूपा पुनरस्य कण्ठे
विभ्राजते विद्युदिवान्तरिक्षे ।
द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठा-
दजातरोमौ सुमनोहरौ च ॥ ३ ॥

उसके गलेमें एक ऐसा आश्चर्यरूप आभूषण (कण्ठा) था, जो आकाशमें बिजलीकी भाँति चमक रहा था। उसके गलेसे नीचे (वक्षःस्थलपर) दो मांसपिण्ड थे, जिनपर रोएँ नहीं उगे थे। वे अत्यन्त मनोहर जान पड़ते थे ॥ ३ ॥

विलग्नमध्यश्च स नाभिदेशे
कटिश्च तस्यातिकृतप्रमाणा ।
तथास्य चीरान्तरतः प्रभाति
हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ॥ ४ ॥

उस ब्रह्मचारीके नाभिदेशके समीप जो शरीरका मध्य भाग था, वह बहुत पतला था और उसका नितम्बभाग अत्यन्त स्थूल था। जैसे मेरे कौपीनके नीचे यह मूँजकी मेखला बँधी है, इसी प्रकार उसके कटि-प्रदेशमें भी एक सोनेकी मेखला (करधनी) थी, जो उसके चीरके भीतरसे चमकती रहती थी ॥ ४ ॥

अन्यच्च तस्याद्भुतदर्शनीयं
विकूजितं पादयोः सम्प्रभाति ।
पाण्योश्च तद्वत् स्वनवन्निबद्धौ
कलापकावक्षमाला यथेयम् ॥ ५ ॥

उसकी अन्य सब बातें भी अद्भुत एवं दर्शनीय थीं। पैरोंमें (पायलकी) छम-छम ध्वनि बड़ी मधुर प्रतीत होती थी। इसी प्रकार हाथोंकी कलाइयोंमें मेरी इस रुद्राक्षकी मालाकी भाँति उसने दो कलापक (कंगन) बाँध रखे थे, उनसे भी बड़ी मधुर ध्वनि होती रहती थी ॥ ५ ॥

विचेष्टमानस्य च तस्य तानि
कूजन्ति हंसाः सरसीव मत्ताः ।
चीराणि तस्याद्भुतदर्शनानि
नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ॥ ६ ॥

वह ब्रह्मचारी जब तनिक भी चलता-फिरता या हिलता-डुलता था, उस समय उसके आभूषण बड़ी मनोहर झनकार उत्पन्न करते थे, मानो सरोवरमें मतवाले हंस कलरव कर रहे हों। उसके चीर भी अद्भुत दिखायी देते थे। मेरी कौपीनके ये वल्कलवस्त्र वैसे सुन्दर नहीं हैं ॥ ६ ॥

वक्त्रं च तस्याद्भुतदर्शनीयं
प्रव्याहृतं ह्लादयतीव चेतः ।
पुंस्कोकिलस्येव च तस्य वाणी
तां शृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा ॥ ७ ॥

उसका मुख भी देखने ही योग्य था। उसकी अद्भुत शोभा थी। ब्रह्मचारीकी एक-एक बात मनको आनन्द-सिन्धुमें निमग्न-सा कर देती थी। उसकी वाणी कोकिलके समान थी, जिसे एक बार सुन लेनेपर अब पुनः सुननेके लिये मेरी अन्तरात्मा व्यथित हो उठी है ॥ ७ ॥

यथा वनं माधवमासि मध्ये
समीरितं श्वसनेनेव भाति ।
तथा स भात्युत्तमपुण्यगन्धी
निषेव्यमाणः पवनेन तात ॥ ८ ॥

तात ! जैसे माधवमास (वैशाख या वसंत ऋतु) में (सौरभयुक्त मलय-) समीरसे सेवित वन-उपवनकी शोभा होती है, उसी प्रकार पवनदेवसे सेवित वह ब्रह्मचारी उत्तम एवं पवित्र गन्धसे सुवासित और सुशोभित हो रहा था ॥ ८ ॥

सुसंयताश्चापि जटा विषक्ता
द्वैधीकृता नातिसमा ललाटे ।
कर्णौ च चित्रैरिव चक्रवाकैः
समावृतौ तस्य सुरूपवद्भिः ॥ ९ ॥

उसकी जटा सटी हुई और अच्छी प्रकार बँधी हुई थी, जो ललाटप्रदेशमें दो भागोंमें विभक्त थी; किंतु बराबर नहीं थी। उसके कुण्डलमण्डित कान सुन्दर एवं विचित्र चक्रवाकोंसे घिरे हुए-से जान पड़ते थे ॥ ९ ॥

तथा फलं वृत्तमथो विचित्रं
समाहरत् पाणिना दक्षिणेन ।
तद् भूमिमासाद्य पुनः पुनश्च
समुत्पतत्यद्भुतरूपमुच्चैः ॥ १० ॥

उसके पास एक विचित्र गोलाकार फल (गेंद) था, जिसपर वह अपने दाहिने हाथसे आघात करता था। वह फल (गेंद) पृथ्वीपर जाकर बार-बार ऊँचेकी ओर उछलता था; उस समय उसका रूप अद्भुत दिखायी देता था ॥ १० ॥

तच्चाभिहत्य परिवर्ततेऽसौ
वातेरितो वृक्ष इवावघूर्णन् ।
तं प्रेक्षतः पुत्रमिवामराणां
प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता ॥ ११ ॥

उस फल (गेंद) को मारकर वह चारों ओर घूमने लगता था, मानो वृक्ष हवाका झोंका खाकर झूम रहा हो। तात ! देवपुत्रके समान उस ब्रह्मचारीको देखते समय मेरे हृदयमें बड़ा प्रेम और आनन्द उमड़ रहा था और मेरी उसके प्रति आसक्ति हो गयी है ॥ ११ ॥

स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं
जटासु गृह्याभ्यवनाम्य वक्त्रम् ।
वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दं
चकार तन्मेऽजनयत् प्रहर्षम् ॥ १२ ॥

वह बार-बार मेरे शरीरका आलिङ्गन करके मेरी जटा पकड़ लेता और मेरे मुखको झुकाकर उसपर अपना मुख रख देता था, इस प्रकार मुखसे मुख मिलाकर उससे एक ऐसा शब्द किया, जिसने मेरे हृदयमें अत्यन्त आनन्द उत्पन्न कर दिया ॥ १२ ॥

न चापि पाद्यं बहु मन्यतेऽसौ
फलानि चेमानि मयाऽऽहृतानि ।
एवंव्रतोऽस्मीति च मामवोचत्
फलानि चान्यानि समाददन्मे ॥ १३ ॥

मैंने जो पाद्य अर्पण किया, उसको उसने बहुत महत्त्व नहीं दिया। मेरे दिये हुए ये फल भी उसने स्वीकार नहीं किये और मुझसे कहा—'मेरा ऐसा ही नियम है।' साथ ही उसने मेरे लिये दूसरे-दूसरे फल दिये ॥ १३ ॥

मयोपयुक्तानि फलानि यानि
नेमानि तुल्यानि रसेन तेषाम् ।
न चापि तेषां त्वगियं यथैषां
साराणि नैषामिव सन्ति तेषाम् ॥ १४ ॥

मैंने उसके दिये हुए जिन फलोंका उपयोग किया है, उनके समान रस हमारे इन फलोंमें नहीं है। उन फलोंके छिलके भी ऐसे नहीं थे, जैसे इन जंगली फलोंके हैं। इन फलोंके गूदे जैसे हैं, वैसे उसके दिये हुए फलोंके नहीं थे (वे सर्वथा विलक्षण थे) ॥ १४ ॥

तोयानि चैवातिरसानि मह्यं
प्रादात् स वै पातुमुदाररूपः ।
पीत्वैव यान्यभ्यधिकः प्रहर्षो
ममाभवद् भूश्चलितेव चासीत् ॥ १५ ॥

उदारताके मूर्तिमान् स्वरूप उस ब्रह्मचारीने मुझे पीनेके लिये अत्यन्त स्वादिष्ट जल भी दिया था। उस जलको पीते ही मेरे हर्षकी सीमा न रही। मुझे यह धरती डोलती-सी जान पड़ने लगी ॥ १५ ॥

इमानि चित्राणि च गन्धवन्ति
माल्यानि तस्योद्ग्रथितानि पट्टैः ।
यानि प्रकीर्येह गतः स्वमेव
स आश्रमं तपसा द्योतमानः ॥ १६ ॥

ये विचित्र सुगन्धित मालाएँ उसीने रेशमी डोरोंसे गूँथकर बनायी थीं, जिन्हें यहाँ बिखेरकर तपस्यासे प्रकाशित होनेवाला वह ब्रह्मचारी अपने आश्रमको चला गया था ॥

गतेन तेनास्मि कृतो विचेता
गात्रं च मे सम्परिदह्यतीव ।
इच्छामि तस्यान्तिकमाशु गन्तुं
तं चेह नित्यं परिवर्तमानम् ॥ १७ ॥

उसके चले जानेसे मैं अचेत हो गया हूँ। मेरा शरीर जलता-सा जान जड़ता है। मैं चाहता हूँ, शीघ्र उसके पास ही चला जाऊँ अथवा वही यहाँ नित्य मेरे पास रहे ॥ १७ ॥

गच्छामि तस्यान्तिकमेव तात
का नाम सा ब्रह्मचर्या च तस्य ।
इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्धं
यथा तपः स चरत्यार्यधर्मा ॥ १८ ॥

पिताजी ! मैं उसीके पास जाता हूँ, देखूँ, उसकी ब्रह्मचर्यकी साधना कैसी है ? वह आर्यधर्मका पालन करनेवाला ब्रह्मचारी जिस प्रकार तप करता है, उसके साथ रहकर मैं भी वैसी ही तपस्या करना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

चर्तुं तथेच्छा हृदये ममास्ति
दुनोति चित्तं यदि तं न पश्ये ॥ १९ ॥

वैसा ही तप करनेकी इच्छा मेरे हृदयमें भी है। यदि उसे नहीं देखूँगा तो मेरा यह चित्त संतप्त होता रहेगा १९

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें ऋष्यशृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋष्यशृङ्गका अङ्गराज लोमपादके यहाँ जाना, राजाका उन्हें अपनी कन्या देना, राजाद्वारा विभाण्डक मुनिका सत्कार तथा उनपर मुनिका प्रसन्न होना

विभाण्डक उवाच

रक्षांसि चैतानि चरन्ति पुत्र
रूपेण तेनाद्भुतदर्शनेन ।
अतुल्यवीर्याण्यभिरूपवन्ति
विघ्नं सदा तपसश्चिन्तयन्ति ॥ १ ॥

विभाण्डकने कहा—बेटा ! इस प्रकार अद्भुत दर्शनीय रूप धारण करके तो राक्षस ही इस वनमें विचरा करते हैं। ये अनुपम पराक्रमी और मनोहर रूप धारण करनेवाले होते हैं तथा ऋषि-मुनियोंकी तपस्यामें सदा विघ्न डालनेका ही उपाय सोचते रहते हैं ॥ १ ॥

सुरूपरूपाणि च तानि तात
प्रलोभयन्ते विविधैरुपायैः।
सुखाच्च लोकाच्च निपातयन्ति
तान्युग्ररूपाणि मुनीन् वनेषु ॥ २ ॥

तात ! वे मनोहर रूपधारी राक्षस नाना प्रकारके उपायोंद्वारा मुनिलोगोंको प्रलोभनमें डालते रहते हैं। फिर वे ही भयानक रूप धारण करके वनमें निवास करनेवाले मुनियोंको आनन्दमय लोकोंसे नीचे गिरा देते हैं ॥ २ ॥

न तानि सेवेत मुनिर्यतात्मा
सतां लोकान् प्रार्थयानः कथंचित्।
कृत्वा विघ्नं तापसानां रमन्ते
पापाचारास्तापसस्तान् न पश्येत् ॥ ३ ॥

अतः जो साधु पुरुषोंको मिलनेवाले पुण्यलोकोंको पाना चाहता है, वह मुनि मनको संयममें रखकर उन राक्षसोंका (जो मोहक रूप बनाकर धोखा देनेके लिये आते हैं) किसी प्रकार सेवन न करे। वे पापाचारी निशाचर तपस्वी मुनियोंके तपमें विघ्न डालकर प्रसन्न होते हैं, अतः तपस्वीको चाहिये कि वह उनकी ओर आँख उठाकर देखे ही नहीं ॥

असज्जनेनाचरितानि पुत्र
पापान्यपेयानि मधूनि तानि।
माल्यानि चैतानि न वै मुनीनां
स्मृतानि चित्रोज्ज्वलगन्धवन्ति ॥ ४ ॥

वत्स ! जिसे तुम जल समझते थे, वह मद्य था। वह पापजनक और अपेय है, उसे कभी नहीं पीना चाहिये। दुष्ट पुरुष उसका उपयोग करते हैं तथा ये विचित्र, उज्ज्वल और सुगन्धित पुष्पमालाएँ भी मुनियोंके योग्य नहीं बतायी गयी हैं ॥ ४ ॥

रक्षांसि तानीति निवार्य पुत्रं
विभाण्डकस्तां मृगयाम्बभूव।
नासादयामास यदा त्र्यहेण
तदा स पर्यावव‍ृतेऽऽश्रमाय ॥ ५ ॥

'ऐसी वस्तुएँ लानेवाले राक्षस ही हैं।' ऐसा कहकर विभाण्डक मुनिने पुत्रको उससे मिलने-जुलनेसे मना कर दिया और स्वयं उस वेश्याकी खोज करने लगे। तीन दिनोंतक ढूँढ़नेपर भी जब वे उसका पता न लगा सके, तब आश्रमपर लौट आये ॥ ५ ॥

यदा पुनः काश्यपो वै जगाम
फलान्याहर्तुं विधिनाऽऽश्रमात् सः।
तदा पुनर्लोभयितुं जगाम
सा वेशयोषा मुनिमृष्यश‍ृङ्गम् ॥ ६ ॥

जब काश्यपनन्दन विभाण्डक मुनि आश्रमसे पुनः विधिके अनुसार फल लानेके लिये चले गये, तब वह वेश्या ऋष्यश‍ृङ्ग मुनिको लुभानेके लिये फिर उनके आश्रमपर आयी ॥ ६ ॥

दृष्ट्वैव तामृष्यश‍ृङ्गः प्रहृष्टः
सम्भ्रान्तरूपोऽभ्यपतत् तदानीम्।
प्रोवाच चैनां भवतः श्रमाय
गच्छाव यावन्न पिता ममेति ॥ ७ ॥

उसे देखते ही ऋष्यश‍ृङ्ग मुनि हर्ष-विभोर हो उठे और घबराकर तुरंत उसके पास दौड़ गये। निकट जाकर उन्होंने कहा—'ब्रह्मन् ! मेरे पिताजी जबतक लौटकर नहीं आते, तभीतक मैं और आप—दोनों आपके आश्रमकी ओर चल दें' ॥ ७ ॥

ततो राजन् काश्यपस्यैकपुत्रं
प्रवेश्य योगेन विमुच्य नावम्।
प्रमोदयन्त्यो विविधैरुपायै-
राजग्मुरङ्गाधिपतेः समीपम् ॥ ८ ॥

राजन् ! तदनन्तर विभाण्डक मुनिके इकलौते पुत्रको युक्तिसे नावमें ले जाकर वेश्याने नाव खोल दी। फिर सभी युवतियाँ भाँति-भाँतिके उपायोंद्वारा उनका मनोरञ्जन करती हुई अङ्गराजके समीप आयीं ॥ ८ ॥

संस्थाप्य तामाश्रमदर्शने तु
संतारितां नावमथातिशुभ्राम्।
नीरादुपादाय तथैव चक्रे
नाव्याश्रमं नाम वनं विचित्रम् ॥ ९ ॥

नाविकोंद्वारा संचालित उस अत्यन्त उज्ज्वल नौकाको जलसे बाहर निकालकर राजाने एक स्थानपर स्थापित कर दिया और जितनी दूरीसे वह नौकागत आश्रम दिखायी देता था, उतनी दूरीके विस्तृत मैदानमें उन्होंने ऋष्यश‍ृङ्ग मुनिके आश्रम-जैसे ही एक विचित्र वनका निर्माण करा दिया, जो 'नाव्याश्रम'के नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

अन्तःपुरे तं तु निवेश्य राजा
विभाण्डकस्यात्मजमेकपुत्रम्।
ददर्श देवं सहसा प्रवृष्ट-
मापूर्यमाणं च जगज्जलेन ॥ १० ॥

राजा लोमपादने विभाण्डक मुनिके इकलौते पुत्रको महलके भीतर रनवासमें ठहरा दिया और देखा, सहसा उसी क्षण इन्द्रदेवने वर्षा आरम्भ कर दी तथा सारा जगत् जलसे परिपूर्ण हो गया ॥ १० ॥

स लोमपादः परिपूर्णकामः
सुतां ददावृष्यश‍ृङ्गाय शान्ताम्।
क्रोधप्रतीकारकरं च चक्रे
गाश्चैव मार्गेषु च कर्षणानि ॥ ११ ॥

लोमपादकी कामना पूरी हुई। उन्होंने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यशृङ्ग मुनिको ब्याह दी। फिर विभाण्डक मुनिके क्रोधके निवारणका भी उपाय कर दिया। जिस रास्तेसे महर्षि आनेवाले थे, उसमें स्थान-स्थानपर बहुत-से गाय-बैल रखवा दिये और किसानोंद्वारा खेतोंकी जुताई आरम्भ करा दी॥ ११॥

विभाण्डकस्याव्रजतः स राजा
पशून् प्रभूतान् पशुपांश्च वीरान्।
समादिशत् पुत्रगृद्धी महर्षि-
र्विभाण्डकः परिपृच्छेद् यदा वः॥ १२॥
स वक्तव्यः प्राञ्जलिभिर्भवद्भिः
पुत्रस्य ते पशवः कर्षणं च।
किं ते प्रियं वै क्रियतां महर्षे
दासाः स्म सर्वे तव वाचि बद्धाः॥ १३॥

राजाने विभाण्डक मुनिके आगमन-पथमें बहुत-से पशु तथा वीर पशुरक्षक भी नियुक्त कर दिये और सबको यह आदेश दे दिया था कि जब पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले महर्षि विभाण्डक तुमसे पूछें, तब हाथ जोड़कर उन्हें इस प्रकार उत्तर देना—'ये सब आपके पुत्रके ही पशु हैं, ये खेत भी उन्हींके जोते जा रहे हैं। महर्षे! आज्ञा दें, हम आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें। हम सब लोग आपके आज्ञापालक दास हैं'॥ १२-१३॥

अथोपायात् स मुनिश्चण्डकोपः
स्वमाश्रमं मूलफलं गृहीत्वा।
अन्वेषमाणश्च न तत्र पुत्रं
ददर्श चुक्रोध ततो भृशं सः॥ १४॥

इधर प्रचण्ड कोपधारी महात्मा विभाण्डक फल-मूल लेकर अपने आश्रमपर आये। वहाँ बहुत खोज करनेपर भी जब अपना पुत्र उन्हें दिखायी न दिया, तब वे अत्यन्त क्रोधमें भर गये॥ १४॥

ततः स कोपेन विदीर्यमाण
आशङ्कमानो नृपतेर्विधानम्।
जगाम चम्पां प्रति धक्ष्यमाण-
स्तमङ्गराजं सपुरं सराष्ट्रम्॥ १५॥

कोपसे उनका हृदय विदीर्ण-सा होने लगा। उनके मनमें यह संदेह हुआ कि कहीं राजा लोमपादकी तो यह करतूत नहीं है। तब वे चम्पानगरीकी ओर चल दिये, मानो अङ्गराजको उनके राष्ट्र और नगरसहित जला देना चाहते हों॥ १५॥

स वै श्रान्तः क्षुधितः काश्यपस्तान्
घोषान् समासादितवान् समृद्धान्।
गोपैश्च तैर्विधिवत् पूज्यमानो
राजेव तां रात्रिमुवास तत्र॥ १६॥

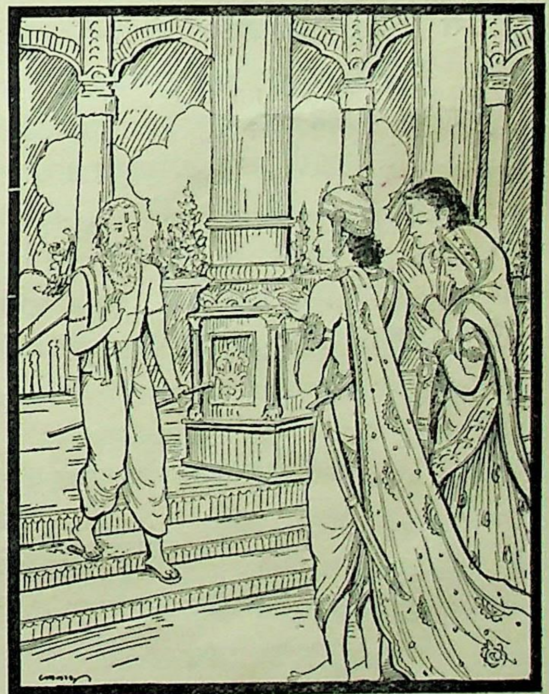
थककर भूखसे पीड़ित होनेपर विभाण्डक मुनि सायंकालमें उन्हीं समृद्धिशाली गोष्ठोंमें गये। गोपगणोंने उनकी विधिपूर्वक पूजा की। वे राजाकी भाँति सुख-सुविधाके साथ वहीं रातभर रहे॥ १६॥

अवाप्य सत्कारमतीव तेभ्यः
प्रोवाच कस्य प्रथिताः स्थ गोपाः।
ऊचुस्ततस्तेऽभ्युपगम्य सर्वे
धनं तवेदं विहितं सुतस्य॥ १७॥

गोपगणोंसे अत्यन्त सत्कार पाकर मुनिने पूछा—'तुम किसके गोपालक हो?' तब उन सबने निकट आकर कहा—'यह सारा धन आपके पुत्रका ही है'॥ १७॥

देशेषु देशेषु स पूज्यमान-
स्तांश्चैव शृण्वन् मधुरान् प्रलापान्।
प्रशान्तभूयिष्ठरजाः प्रहृष्टः
समाससादाङ्गपतिं पुरस्थम्॥ १८॥

देश-देशमें सम्मानित हो वे ही मधुर वचन सुनते-सुनते मुनिका रजोगुणजनित अत्यधिक क्रोध बिल्कुल शान्त हो गया। वे प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें जाकर अङ्गराजसे मिले॥



स पूजितस्तेन नरर्षभेण
ददर्श पुत्रं दिवि देवं यथेन्द्रम्।
शान्तां स्नुषां चैव ददर्श तत्र
सौदामनीमुच्चरन्तीं यथैव॥ १९॥

नरश्रेष्ठ लोमपादसे पूजित हो मुनिने अपने पुत्रको उसी प्रकार ऐश्वर्यसम्पन्न देखा, जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गलोकमें देखे जाते हैं। पुत्रके पास ही उन्होंने बहू शान्ताको भी देखा, जो विद्युत्‌के समान उद्भासित हो रही थी ॥ १९ ॥

ग्रामांश्च घोषांश्च सुतस्य दृष्ट्वा
शान्तां च शान्तोऽस्य परः स कोपः।
चकार तस्यैव परं प्रसादं
विभाण्डको भूमिपतेर्नरेन्द्र ॥ २० ॥

अपने पुत्रके अधिकारमें आये हुए ग्राम, घोष और बहू शान्ताको देखकर उनका महान् कोप शान्त हो गया। युधिष्ठिर ! उस समय विभाण्डक मुनिने राजा लोमपादपर बड़ी कृपा की ॥ २० ॥

स तत्र निक्षिप्य सुतं महर्षि-
रुवाच सूर्याग्निसमप्रभावः।
जाते च पुत्रे वनमेवाव्रजेथा
राज्ञः प्रियाण्यस्य सर्वाणि कृत्वा॥ २१ ॥

सूर्य और अग्निके समान प्रभावशाली महर्षिने अपने पुत्रको वहीं छोड़ दिया और कहा—'बेटा ! पुत्र उत्पन्न हो जानेपर इन अङ्गराजके सारे प्रिय कार्य सिद्ध करके फिर वनमें ही आ जाना' ॥ २१ ॥

स तद्वचः कृतवानृष्यश्रृङ्गो
ययौ च यत्रास्य पिता बभूव।
शान्ता चैनं पर्यचरन्नरेन्द्र
खे रोहिणी सोममिवानुकूला ॥ २२ ॥

ऋष्यश्रृङ्गने पिताकी आज्ञाका अक्षरशः पालन किया। अन्तमें वे पुनः उसी आश्रममें चले गये, जहाँ उनके पिता रहते थे। नरेन्द्र ! शान्ता उसी प्रकार अनुकूल रहकर उनकी सेवा करती थी, जैसे आकाशमें रोहिणी चन्द्रमाकी सेवा करती है ॥ २२ ॥

अरुन्धती वा सुभगा वसिष्ठं
लोपामुद्रा वा यथा ह्यगस्त्यम्।
नलस्य वै दमयन्ती यथाभूद्
यथा शची वज्रधरस्य चैव ॥ २३ ॥

अथवा जैसे सौभाग्यशालिनी अरुन्धती वसिष्ठजीकी, लोपामुद्रा अगस्त्यजीकी, दमयन्ती नलकी तथा शची वज्रधारी इन्द्रकी सेवा करती है ॥ २३ ॥

नारायणी चेन्द्रसेना बभूव
वश्या नित्यं मुद्गलस्याजमीढ।
(यथा सीता दाशरथेर्महात्मनो
यथा तव द्रौपदी पाण्डुपुत्र।)
तथा शान्ता ऋष्यश्रृङ्गं वनस्थं
प्रीत्या युक्ता पर्यचरन्नरेन्द्र ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर! जैसे नारायणी इन्द्रसेना सदा महर्षि मुद्गलके अधीन रहती थी तथा पाण्डुनन्दन ! जैसे सीता महात्मा दशरथनन्दन श्रीरामके अधीन रही हैं और द्रौपदी सदा तुम्हारे वशमें रहती आयी है, उसी प्रकार शान्ता भी सदा अधीन रहकर वनवासी ऋष्यश्रृङ्गकी प्रसन्नतापूर्वक सेवा करती थी ॥ २४ ॥

तस्याश्रमः पुण्य एषोऽवभाति
महाह्रदं शोभयन् पुण्यकीर्तिः।
अत्र स्नातः कृतकृत्यो विशुद्ध-
स्तीर्थान्यन्यान्यनुसंयाहि राजन् ॥ २५ ॥

उनका यह पुण्यमय आश्रम, जो पवित्र कीर्तिसे युक्त है, इस महान् कुण्डकी शोभा बढ़ाता हुआ प्रकाशित हो रहा है, राजन् ! यहाँ स्नान करके शुद्ध एवं कृतकृत्य होकर अन्य तीर्थोंकी यात्रा करो ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यश्रृङ्गोपाख्याने त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें ऋष्यश्रृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका आधा श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका कौशिकी, गङ्गासागर एवं वैतरणीनदी होते हुए महेन्द्रपर्वतपर गमन

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातः कौशिक्याः पाण्डवो जनमेजय।
आनुपूर्व्येण सर्वाणि जगामायतनान्यथ ॥ १ ॥
स सागरं समासाद्य गङ्गायाः संगमे नृप।
नदीशतानां पञ्चानां मध्ये चक्रे समाप्लवम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कौशिकी नदीके तटवर्ती सभी तीर्थों और मन्दिरोंकी क्रमशः यात्रा की। राजन् ! उन्होंने गङ्गासागरसङ्गमतीर्थमें समुद्रतटपर पहुँचकर पाँच सौ नदियोंके जलमें स्नान किया ॥ १-२ ॥

ततः समुद्रतीरेण जगाम वसुधाधिपः।
भ्रातृभिः सहितो वीरः कलिङ्गान् प्रति भारत ॥ ३ ॥

भारत ! तत्पश्चात् वीर भूपाल युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ कलिङ्ग देश (उड़ीसा) में गये ॥ ३ ॥

लोमश उवाच

एते कलिङ्गाः कौन्तेय यत्र वैतरणी नदी ।
यत्रायजत धर्मोऽपि देवाञ्छरणमेत्य वै ॥ ४ ॥

तब लोमशजीने कहा—कुन्तीकुमार ! यह कलिङ्ग देश है, जिसमें वैतरणी नदी बहती है। जहाँ धर्मने भी देवताओंकी शरणमें जाकर यज्ञ किया था ॥ ४ ॥

ऋषिभिः समुपायुक्तं यज्ञियं गिरिशोभितम् ।
उत्तरं तीरमेतद्धि सततं द्विजसेवितम् ॥ ५ ॥

यह पर्वतमालाओंसे सुशोभित वैतरणीका वही उत्तर तट है, जहाँ यज्ञका आयोजन किया गया था। बहुत-से ऋषि तथा ब्राह्मणलोग सदा इस उत्तर तटका सेवन करते आये हैं ॥

समानं देवयानेन पथा स्वर्गमुपेयुषः ।
अत्र वै ऋषयोऽन्येऽपि पुरा क्रतुभिरीजिरे ॥ ६ ॥

स्वर्गलोककी प्राप्ति करनेवाले पुण्यात्मा मनुष्यके लिये यह स्थान 'देवयान' मार्गके समान है। प्राचीन कालमें ऋषियों तथा अन्य लोगोंने भी यहाँ बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ६ ॥

अत्रैव रुद्रो राजेन्द्र पशुमादत्तवान् मखे ।
पशुमादाय राजेन्द्र भागोऽयमिति चाब्रवीत् ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! यहीं रुद्रदेवने यज्ञमें पशुको ग्रहण कर लिया था। उस पशुको ग्रहण करके उन्होंने कहा—'यह तो मेरा हिस्सा है' ॥ ७ ॥

हृते पशौ तदा देवास्तमूचुर्भरतर्षभ ।
मा परस्वमभिद्रोग्धा मा धर्मान् सकलान् वशीः ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पशुका अपहरण हो जानेपर देवताओंने उनसे कहा—'आप दूसरोंके धनसे द्रोह न करें (दूसरोंके हिस्सेको न लें) धर्मके साधनभूत समस्त यज्ञभागोंको लेनेकी इच्छा न करें' ॥ ८ ॥

ततः कल्याणरूपाभिर्वाग्भिस्ते रुद्रमस्तुवन् ।
इष्ट्या चैनं तर्पयित्वा मानयांचक्रिरे तदा ॥ ९ ॥

यों कहकर उन्होंने कल्याणमय वचनोंद्वारा भगवान् रुद्रका स्तवन किया और इष्टिद्वारा उन्हें तृप्त करके उस समय उनका विशेष सम्मान किया ॥ ९ ॥

ततः स पशुमुत्सृज्य देवयानेन जग्मिवान् ।
तत्रानुवंशो रुद्रस्य तं निबोध युधिष्ठिर ॥ १० ॥

तब वे उस पशुको वहीं छोड़कर देवयान-मार्गसे चले गये। युधिष्ठिर ! यज्ञमें भगवान् रुद्रकी भागपरम्पराका बोधक एक श्लोक है, उसे बताता हूँ, सुनो— ॥ १० ॥

अयातयामं सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम् ।
देवाः संकल्पयामासुर्भयाद् रुद्रस्य शाश्वतम् ॥ ११ ॥

'देवताओंने रुद्रदेवके भयसे उनके लिये शीघ्र ही सब भागोंकी अपेक्षा उत्तम एवं सनातन भाग देनेका संकल्प किया' ॥ ११ ॥

इमां गाथामत्र गायन्नपः स्पृशति यो नरः ।
देवयानोऽस्य पन्थाश्च चक्षुषाभिप्रकाशते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य यहाँ इस गाथाका गान करते हुए वैतरणीके जलका स्पर्श करता है, उसकी दृष्टिमें देवयान-मार्ग प्रकाशित हो जाता है ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो वैतरणीं सर्वे पाण्डवा द्रौपदी तथा ।
अवतीर्य महाभागास्तर्पयांचक्रिरे पितॄन् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महान् भाग्यशाली समस्त पाण्डवों और द्रौपदीने वैतरणीके जलमें उतरकर अपने पितरोंका तर्पण किया ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

उपस्पृश्येह विधिवदस्यां नद्यां तपोबलात् ।
मानुषादस्मि विषयादपेतः पश्य लोमश ॥ १४ ॥

उस समय युधिष्ठिर बोले—लोमशजी ! देखिये, इस वैतरणी नदीमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे मुझे तपोबल प्राप्त हुआ है, जिसके प्रभावसे मैं मानवीय विषयोंसे दूर हो गया हूँ ॥ १४ ॥

सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यामि प्रसादात् तव सुव्रत ।
वैखानसानां जपतामेष शब्दो महात्मनाम् ॥ १५ ॥

सुव्रत ! आपकी कृपासे इस समय मुझे सम्पूर्ण लोकोंका दर्शन हो रहा है। यह जप और स्वाध्यायमें लगे हुए महात्मा वैखानस ऋषियोंका शब्द है ॥ १५ ॥

लोमश उवाच

त्रिशतं वै सहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर ।
यत्र ध्वनिं शृणोष्येनं तूष्णीमास्स्व विशाम्पते ॥ १६ ॥

लोमशजीने कहा—राजा युधिष्ठिर ! जहाँसे आती हुई इस ध्वनिको तुम सुन रहे हो, वह स्थान यहाँसे तीन लाख योजन दूर है; अतः अब चुप रहो ॥ १६ ॥

एतत् स्वयम्भुवो राजन् वनं दिव्यं प्रकाशते ।
यत्रायजत राजेन्द्र विश्वकर्मा प्रतापवान् ॥ १७ ॥

राजन् ! यह ब्रह्माजीका दिव्य वन प्रकाशित हो रहा है; राजेन्द्र ! यहीं प्रतापी विश्वकर्माने यज्ञ किया है ॥ १७ ॥

यस्मिन् यज्ञे हि भूर्दत्ता कश्यपाय महात्मने ।
सपर्वतवनोद्देशा दक्षिणार्थे स्वयम्भुवा ॥ १८ ॥

उस यज्ञमें ब्रह्माजीने पर्वत और वनप्रान्तसहित यह सारी पृथ्वी महात्मा कश्यपको दक्षिणारूपमें दे दी थी ॥ १८ ॥

अवासीदच्च कौन्तेय दत्तमात्रा मही तदा।
उवाच चापि कुपिता लोकेश्वरमिदं प्रभुम् ॥ १९ ॥
न मां मर्त्याय भगवन् कस्मैचिद् दातुमर्हसि।
प्रदानं मोघमेतत् ते यास्याम्येषा रसातलम् ॥ २० ॥

कुन्तीकुमार ! उनके द्वारा अपना दान होते ही पृथ्वी बहुत दुखी हो गयी और कुपित हो लोकनाथ प्रभु ब्रह्मासे इस प्रकार बोली—'भगवन् ! आप मुझे किसी मनुष्यको न सौंपें। यदि मुझे मनुष्यको सौंपेंगे तो वह व्यर्थ होगा, क्योंकि मैं अभी रसातलको चली जाऊँगी' ॥ १९-२० ॥

विषीदन्तीं तु तां दृष्ट्वा कश्यपो भगवानृषिः।
प्रसादयाम्बभूवाथ ततो भूमिं विशाम्पते ॥ २१ ॥

राजन् ! पृथ्वी देवीको विषाद करती देख महर्षि भगवान् कश्यपने प्रार्थनाद्वारा उन्हें प्रसन्न किया ॥ २१ ॥

ततः प्रसन्ना पृथिवी तपसा तस्य पाण्डव।
पुनरुन्मज्य सलिलाद् वेदीरूपा स्थिता बभौ ॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन ! उनकी तपस्यासे प्रसन्न हुई पृथ्वी पुनः जलसे ऊपर उठकर वेदीके रूपमें स्थित हो गयी ॥ २२ ॥

सैषा प्रकाशते राजन् वेदी संस्थानलक्षणा।
आरुह्यात्र महाराज वीर्यवान् वै भविष्यसि ॥ २३ ॥

राजन् ! वह पृथ्वी देवी ही यहाँ इस मिट्टीकी वेदीके रूपमें प्रकाशित हो रही है। महाराज ! इसपर आरुढ़ होकर तुम बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो जाओगे ॥ २३ ॥

सैषा सागरमासाद्य राजन् वेदी समाश्रिता।
एतामारुह्य भद्रं ते त्वमेकस्तर सागरम् ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर ! वही यह वेदीस्वरूपा पृथ्वी समुद्रका आश्रय लेकर स्थित है; तुम्हारा कल्याण हो। तुम अकेले ही इसपर चढ़कर समुद्रको पार करो ॥ २४ ॥

अहं च ते स्वस्त्ययनं प्रयोक्ष्ये
यथा त्वमेनामधिरोहसेऽद्य।
स्पृष्टा हि मर्त्येन ततः समुद्र-
मेषा वेदी प्रविशत्याजमीढ ॥ २५ ॥

मैं तुम्हारे लिये स्वस्तिवाचन करूँगा, जिससे तुम आज इस वेदीपर चढ़ सको; अजमीढकुलनन्दन ! नहीं तो मनुष्यके द्वारा स्पर्श हो जानेपर यह वेदी समुद्रमें प्रवेश कर जाती है ॥

ॐ नमो विश्वगुप्ताय नमो विश्वपराय ते।
सांनिध्यं कुरु देवेश सागरे लवणाम्भसि ॥ २६ ॥

(समुद्रमें स्नान करते समय उसकी प्रार्थनाके लिये निम्नाङ्कित मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये—) जिनमें यह सम्पूर्ण विश्व लीन होता है तथा जो सबसे श्रेष्ठ हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। देवेश्वर ! आप खारे समुद्रमें निवास करें ॥ २६ ॥

अग्निर्मित्रो योनिरापोऽथ देव्यो
विष्णो रेतस्त्वममृतस्य नाभिः।
एवं ब्रुवन् पाण्डव सत्यवाक्यं
वेदीमिमां त्वं तरसाधिरोह ॥ २७ ॥

'हे समुद्र ! अग्नि, मित्र (सूर्य) और दिव्य जल—ये सब तुम्हारी योनि (उत्पत्ति-कारण) हैं। तुम सर्वव्यापी परमात्माके रेतस् (वीर्य या शक्ति) हो और तुम्हीं अमृतकी उत्पत्तिके स्थान हो।' पाण्डुनन्दन ! इस सत्य वाक्यका उच्चारण करते हुए तुम शीघ्रतापूर्वक इस वेदीपर आरूढ़ हो जाओ ॥ २७ ॥

अग्निश्च ते योनिरिडा च देहो
रेतोधा विष्णोरमृतस्य नाभिः।
एवं जपन् पाण्डव सत्यवाक्यं
ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम् ॥ २८ ॥

'हे महासागर ! अग्नि तुम्हारी योनि (कारण) है और यज्ञ शरीर है, तुम भगवान् विष्णुकी शक्तिके आधार और मोक्षके साधन हो।' पाण्डुपुत्र ! इस सत्य वचनको बोलते हुए नदियोंके स्वामी समुद्रमें स्नान करना चाहिये ॥ २८ ॥

अन्यथा हि कुरुश्रेष्ठ देवयोनिरपां पतिः।
कुशाग्रेणापि कौन्तेय न स्प्रष्टव्यो महोदधिः ॥ २९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जलका स्वामी समुद्र देवताओंका अधिष्ठान है। कुन्तीनन्दन ! ऊपर बतायी हुई रीतिके सिवा, दूसरे किसी प्रकारसे इस महासागरका कुशके अग्रभागद्वारा भी स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृतस्वस्त्ययनो महात्मा
युधिष्ठिरः सागरमभ्यगच्छत्।
कृत्वा च तच्छासनमस्य सर्वं
महेन्द्रमासाद्य निशामुवास ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर लोमशजीके स्वस्तिवाचन करनेके पश्चात् महात्मा राजा युधिष्ठिरने उनकी बतायी हुई सारी विधियोंका पालन करते हुए समुद्रमें स्नान करनेके लिये प्रवेश किया। इसके बाद महेन्द्रपर्वतपर जाकर रात्रि बितायी ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां महेन्द्राचलगमने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें महेन्द्राचलगमनविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

अकृतव्रणके द्वारा युधिष्ठिरसे परशुरामजीके उपाख्यानके प्रसङ्गमें ऋचीक मुनिका गाधिकन्या-के साथ विवाह और भृगुऋषिकी कृपासे जमदग्निकी उत्पत्तिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

स तत्र तामुषित्वैकां रजनीं पृथिवीपतिः।
तापसानां परं चक्रे सत्कारं भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस पर्वतपर एक रात निवास करके भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने तपस्वी मुनियोंका बहुत सत्कार किया ॥ १ ॥

लोमशस्तस्य तान् सर्वानाचख्यौ तत्र तापसान्।
भृगूनङ्गिरसश्चैव वसिष्ठानथ काश्यपान् ॥ २ ॥

लोमशजीने युधिष्ठिरसे उन सभी तपस्वी महात्माओंका परिचय कराया । उनमें भृगु, अङ्गिरा, वसिष्ठ तथा कश्यप-गोत्रके अनेक संत-महात्मा थे ॥ २ ॥

तान् समेत्य स राजर्षिरभिवाद्य कृताञ्जलिः।
रामस्यानुचरं वीरमपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३ ॥
कदा तु रामो भगवांस्तापसान् दर्शयिष्यति।
तेनैवाहं प्रसंगेन द्रष्टुमिच्छामि भार्गवम् ॥ ४ ॥

उन सबसे मिलकर राजर्षि युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और परशुरामजीके सेवक वीरवर अकृतव्रणसे पूछा—'भगवान् परशुरामजी इन तपस्वी महात्माओंको कब दर्शन देंगे ? उसी निमित्तसे मैं भी उन भगवान् भार्गवका दर्शन करना चाहता हूँ' ॥ ३-४ ॥

अकृतव्रण उवाच

आयानेवासि विदितो रामस्य विदितात्मनः।
प्रीतिस्त्वयि च रामस्य क्षिप्रं त्वां दर्शयिष्यति ॥ ५ ॥
चतुर्दशीमष्टमीं च रामं पश्यन्ति तापसाः।
अस्यां रात्र्यां व्यतीतायां भवित्री श्वश्चतुर्दशी ॥ ६ ॥

अकृतव्रणने कहा—राजन् ! आत्मज्ञानी परशुरामजीको पहले ही यह ज्ञात हो गया था कि आप आ रहे हैं । आपपर उनका बहुत प्रेम है, अतः वे शीघ्र ही आपको दर्शन देंगे । ये तपस्वीलोग प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमीको परशुरामजीका दर्शन करते हैं । आजकी रात बीत जानेपर कल सबेरे चतुर्दशी हो जायगी ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भवाननुगतो रामं जामदग्न्यं महाबलम्।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पूर्ववृत्तस्य कर्मणः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुने ! आप महाबली परशुरामजीके अनुगत भक्त हैं । उन्होंने पहले जो-जो कार्य किये हैं, उन सबको आपने प्रत्यक्ष देखा है ॥ ७ ॥

स भवान् कथयत्वद्य यथा रामेण निर्जिताः।
आहवे क्षत्रियाः सर्वे कथं केन च हेतुना ॥ ८ ॥

अतः हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि परशुरामजीने किस प्रकार और किस कारणसे समस्त क्षत्रियोंको युद्धमें पराजित किया था । आप वह सब वृत्तान्त आज मुझे बताइये ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम्।
भृगूणां राजशार्दूल वंशे जातस्य भारत ॥ ९ ॥

अकृतव्रणने कहा—भरतकुलभूषण नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भृगुवंशी परशुरामजीकी कथा बहुत बड़ी और उत्तम है, मैं आपसे उसका वर्णन करूँगा ॥ ९ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य चरितं देवसम्मितम्।
हैहयाधिपतेश्चैव कार्तवीर्यस्य भारत ॥ १० ॥

भारत ! जमदग्निकुमार परशुराम तथा हैहयराज कार्तवीर्यका चरित्र देवताओंके तुल्य है ॥ १० ॥

रामेण चार्जुनो नाम हैहयाधिपतिर्हतः।
तस्य बाहुशतान्यासंस्त्रीणि सप्त च पाण्डव ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! परशुरामजीने अर्जुन नामसे प्रसिद्ध जिस हैहयराज कार्तवीर्यका वध किया था, उसके एक हजार भुजाएँ थीं ॥ ११ ॥

दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा।
ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ १२ ॥

पृथ्वीपते ! श्रीदत्तात्रेयजीकी कृपासे उसे एक सोनेका विमान मिला था और भूतलके सभी प्राणियोंपर उसका प्रभुत्व था ॥ १२ ॥

अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः।
रथेन तेन तु सदा वरदानेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥
ममर्द देवान् यक्षांश्च ऋषींश्चैव समन्ततः।
भूतांश्चैव स सर्वांस्तु पीडयामास सर्वतः ॥ १४ ॥

महामना कार्तवीर्यके रथकी गतिको कोई भी रोक नहीं सकता था । उस रथ और वरके प्रभावसे शक्तिसम्पन्न हुआ कार्तवीर्य अर्जुन सब ओर घूमकर सदा देवताओं, यक्षों तथा ऋषियोंको रौंदता फिरता था और सम्पूर्ण प्राणियोंको भी सब प्रकारसे पीड़ा देता था ॥ १३-१४ ॥

ततो देवाः समेत्याहुर्ऋषयश्च महाव्रताः ।
देवदेवं सुरारिघ्नं विष्णुं सत्यपराक्रमम् ॥ १५ ॥
भगवन् भूतरक्षार्थमर्जुनं जहि वै प्रभो ।
विमानेन च दिव्येन हैहयाधिपतिः प्रभुः ॥ १६ ॥
शचीसहायं क्रीडन्तं धर्षयामास वासवम् ।
ततस्तु भगवान् देवः शक्रेण सहितस्तदा ।
कार्तवीर्यविनाशार्थं मन्त्रयामास भारत ॥ १७ ॥

कार्तवीर्यका ऐसा अत्याचार देख देवता तथा महान् व्रतका पालन करनेवाले ऋषि मिलकर दैत्योंका विनाश करनेवाले सत्यपराक्रमी देवाधिदेव भगवान् विष्णुके पास जा इस प्रकार बोले—'भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये कृतवीर्यकुमार अर्जुनका वध कीजिये ।' एक दिन शक्तिशाली हैहयराजने दिव्य विमानद्वारा शचीके साथ क्रीड़ा करते हुए देवराज इन्द्रपर आक्रमण किया । भारत ! तब भगवान् विष्णुने कार्तवीर्य अर्जुनका नाश करनेके सम्बन्धमें इन्द्रके साथ विचार-विनिमय किया ॥ १५–१७ ॥

यत् तद् भूतहितं कार्यं सुरेन्द्रेण निवेदितम् ।
सम्प्रतिश्रुत्य तत् सर्वं भगवाँल्लोकपूजितः ॥ १८ ॥
जगाम बदरीं रम्यां स्वमेवाश्रममण्डलम् ।

समस्त प्राणियोंके हितके लिये जो कार्य करना आवश्यक था, उसे देवेन्द्रने बताया । तत्पश्चात् विश्ववन्दित भगवान् विष्णुने वह सब कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके अत्यन्त रमणीय बदरीतीर्थकी यात्रा की, जहाँ उनका अपना ही विस्तृत आश्रम था ॥ १८½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु पृथिव्यां पृथिवीपतिः ॥ १९ ॥
कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवः सुमहाबलः ।
गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम ह ॥ २० ॥
वने तु तस्य वसतः कन्या जज्ञेऽप्सरःसमा ।
ऋचीको भार्गवस्तां च वरयामास भारत ॥ २१ ॥

इसी समय इस भूतलपर कान्यकुब्ज देशमें एक महाबली महाराज शासन करते थे, जो गाधिके नामसे विख्यात थे । वे राजधानी छोड़कर वनमें गये और वहीं रहने लगे । उनके वनवासकालमें ही एक कन्या उत्पन्न हुई, जो अप्सराके समान सुन्दरी थी । भारत ! विवाहके योग्य होनेपर भृगुपुत्र ऋचीक मुनिने उसका वरण किया ॥ १९–२१ ॥

तमुवाच ततो गाधिर्ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।
उचितं नः कुले किंचित् पूर्वैर्यत् सम्प्रवर्तितम् ॥ २२ ॥
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
सहस्रं वाजिनां शुल्कमिति विद्धि द्विजोत्तम ॥ २३ ॥

उस समय राजा गाधिने कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षि ऋचीकसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! हमारे कुलमें पूर्वजोंने जो कुछ शुल्क लेनेका नियम चला रक्खा है, उसका पालन करना हमलोगोंके लिये भी उचित है । अतः आप यह जान लें कि इस कन्याके लिये एक सहस्र वेगशाली अश्व शुल्क-रूपमें देने पड़ेंगे, जिनके शरीरका रंग तो सफेद और पीला मिला हुआ-सा और कान एक ओरसे काले रंगके हों ॥

न चापि भगवान् वाच्यो दीयतामिति भार्गव ।
देया मे दुहिता चैव त्वद्विधाय महात्मने ॥ २४ ॥

'भृगुनन्दन ! आप कोई निन्दनीय तो हैं नहीं, यह शुल्क चुका दीजिये, फिर आप-जैसे महात्माको मैं अवश्य अपनी कन्या ब्याह दूँगा' ॥ २४ ॥

ऋचीक उवाच

एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
दास्याम्यश्वसहस्रं ते मम भार्या सुतास्तु ते ॥ २५ ॥

ऋचीक बोले– राजन् ! मैं आपको एक ओरसे श्याम कर्णवाले पाण्डुरंगके वेगशाली अश्व एक हजारकी संख्यामें अर्पित करूँगा । आपकी पुत्री मेरी धर्मपत्नी बने ॥

अकृतव्रण उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय राजन् वरुणमब्रवीत् ।
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ॥ २६ ॥
सहस्रं वाजिनामेकं शुल्कार्थं मे प्रदीयताम् ।
तस्मै प्रादात् सहस्रं वै वाजिनां वरुणस्तदा ॥ २७ ॥

अकृतव्रण कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार शुल्क देनेकी प्रतिज्ञा करके ऋचीक मुनिने वरुणके पास जाकर कहा—'देव ! मुझे शुल्कमें देनेके लिये एक हजार ऐसे अश्व प्रदान करें, जिनके शरीरका रंग पाण्डुर और कान एक ओरसे श्याम हों । साथ ही वे सभी अश्व तीव्रगामी होने चाहिये ।' उस समय वरुणने उनकी इच्छाके अनुसार एक हजार श्यामकर्ण घोड़े दे दिये ॥ २६-२७ ॥

तदश्वतीर्थं विख्यातमुत्थिता यत्र ते हयाः ।
गङ्गायां कान्यकुब्जे वै ददौ सत्यवतीं तदा ॥ २८ ॥
ततो गाधिः सुतां चास्मै जन्याश्चासन् सुरास्तदा ।
लब्ध्वा हयसहस्रं तु तांश्च दृष्ट्वा दिवौकसः ॥ २९ ॥

जहाँ वे श्यामकर्ण घोड़े प्रकट हुए थे, वह स्थान अश्वतीर्थके नामसे विख्यात हुआ । तत्पश्चात् राजा गाधिने शुल्करूपमें एक हजार श्यामकर्ण घोड़े प्राप्त करके गङ्गातटपर कान्यकुब्ज नगरमें ऋचीक मुनिको अपनी पुत्री सत्यवती ब्याह दी ! उस समय देवता बराती बने थे । देवता उन सबको देखकर वहाँसे चले गये ॥ २८-२९ ॥

धर्मेण लब्ध्वा तां भार्यामृचीको द्विजसत्तमः ।
यथाकामं यथाजोषं तया रेमे सुमध्यया ॥ ३० ॥

विप्रवर ऋचीकने धर्मपूर्वक सत्यवतीको पत्नीरूपमें प्राप्त करके उस सुन्दरीके साथ अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक रमण किया ॥ ३० ॥

तं विवाहे कृते राजन् सभार्यमवलोककः ।
आजगाम भृगुः श्रेष्ठं पुत्रं दृष्ट्वा ननन्द ह ॥ ३१ ॥

राजन्! विवाह करनेके पश्चात् पत्नीसहित ऋचीकको देखनेके लिये महर्षि भृगु उनके आश्रमपर आये और अपने श्रेष्ठ पुत्रको विवाहित देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

भार्यापती तमासीनं गुरुं सुरगणार्चितम् ।
अर्चित्वा पर्युपासीनौ प्राञ्जली तस्थतुस्तदा ॥ ३२ ॥

उन दोनों पति-पत्नीने पवित्र आसनपर विराजमान देववृन्दवन्दित गुरु (पिता एवं श्वसुर) का पूजन किया और उनकी उपासनामें संलग्न हो वे हाथ जोड़े खड़े रहे ॥ ३२ ॥

ततः स्नुषां स भगवान् प्रहृष्टो भृगुरब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व सुभगे दाता ह्यस्मि तवेप्सितम् ॥ ३३ ॥

भगवान् भृगुने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी पुत्रवधूसे कहा—'सौभाग्यवती बहू! कोई वर माँगो, मैं तुम्हारी इच्छाके अनुरूप वर प्रदान करूँगा' ॥ ३३ ॥



सा वै प्रसादयामास तं गुरुं पुत्रकारणात् ।
आत्मनश्चैव मातुश्च प्रसादं च चकार सः ॥ ३४ ॥

सत्यवतीने श्वसुरको अपने और अपनी माताके लिये पुत्र-प्राप्तिका उद्देश्य रखकर प्रसन्न किया। तब भृगुजीने उसपर कृपादृष्टि की ॥ ३४ ॥

भृगुरुवाच

ऋतौ त्वं चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै ।
आलिङ्गेतां पृथग् वृक्षौ साश्वत्थं त्वमुदुम्बरम् ॥ ३५ ॥

भृगुजी बोले—बहू! ऋतुकालमें स्नान करनेके पश्चात् तुम और तुम्हारी माता पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे दो भिन्न-भिन्न वृक्षोंका आलिङ्गन करो। तुम्हारी माता तो पीपलका और तुम गूलरका आलिङ्गन करना ॥ ३५ ॥

चरुद्वयमिदं भद्रे जनन्याश्च तवैव च ।
विश्वमावर्तयित्वा तु मया यत्नेन साधितम् ॥ ३६ ॥

भद्रे! मैंने विराट् पुरुष परमात्माका चिन्तन करके तुम्हारे और तुम्हारी माताके लिये यत्नपूर्वक दो चरु तैयार किये हैं ॥

प्राशितव्यं प्रयत्नेन चेत्युक्त्वादर्शनं गतः ।
आलिङ्गने चरौ चैव चक्रतुस्ते विपर्ययम् ॥ ३७ ॥

तुम दोनों प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने चरुका भक्षण करना ऐसा कहकर भृगुजी अन्तर्धान हो गये। इधर सत्यवती और उसकी माताने वृक्षोंके आलिङ्गन और चरु-भक्षणमें उलट-फेर कर दिया ॥ ३७ ॥

ततः पुनः स भगवान् काले बहुतिथे गते ।
दिव्यज्ञानाद् विदित्वा तु भगवानागतः पुनः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर बहुत दिन बीतनेपर भगवान् भृगु अपनी दिव्य ज्ञानशक्तिसे सब बातें जानकर पुनः वहाँ आये ॥ ३८ ॥

अथोवाच महातेजा भृगुः सत्यवतीं स्नुषाम् ।
उपयुक्तश्चरुर्भद्रे वृक्षे चालिङ्गनं कृतम् ॥ ३९ ॥
विपरीतेन ते सुभ्रूर्मात्रा चैवासि वञ्चिता ।
ब्राह्मणः क्षत्रवृत्तिर्वै तव पुत्रो भविष्यति ॥ ४० ॥

उस समय महातेजस्वी भृगु अपनी पुत्रवधू सत्यवतीसे बोले—'भद्रे! तुमने जो चरुभक्षण और वृक्षोंका आलिङ्गन किया है, उसमें उलट-फेर करके तुम्हारी माताने तुम्हें ठग लिया। सुभ्रू! इस भूलके कारण तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियोचित आचार-विचारवाला होगा ॥ ३९-४० ॥

क्षत्रियो ब्राह्मणाचारो मातुस्तव सुतो महान् ।
भविष्यति महावीर्यः साधूनां मार्गमास्थितः ॥ ४१ ॥

'और तुम्हारी माताका पुत्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणोचित आचार-विचारका पालन करनेवाला होगा। वह महापराक्रमी बालक साधु-महात्माओंके मार्गका अवलम्बन करेगा' ॥ ४१ ॥

ततः प्रसादयामास श्वशुरं सा पुनः पुनः ।
न मे पुत्रो भवेदीदृक् कामं पौत्रो भवेदिति ॥ ४२ ॥

तब सत्यवतीने बारंबार प्रार्थना करके पुनः अपने श्वसुरको प्रसन्न किया और कहा—'भगवन्! मेरा पुत्र ऐसा न हो। भले ही, पौत्र क्षत्रियस्वभावका हो जाय' ॥ ४२ ॥

एवमस्त्विति सा तेन पाण्डव प्रतिनन्दिता।
जमदग्निं ततः पुत्रं जज्ञे सा काल आगते ॥ ४३ ॥

पाण्डुनन्दन! तब 'एवमस्तु' कहकर भृगुजीने अपनी पुत्रवधूका अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् प्रसवका समय आनेपर सत्यवतीने जमदग्निनामक पुत्रको जन्म दिया ॥ ४३ ॥

तेजसा वर्चसा चैव युक्तं भार्गवनन्दनम्।
स वर्धमानस्तेजस्वी वेदस्याध्ययनेन च ॥ ४४ ॥
बहूनृषीन् महातेजाः पाण्डवेयात्यवर्तत।

भार्गवनन्दन जमदग्नि तेज और ओज (बल) दोनोंसे सम्पन्न थे। युधिष्ठिर! बड़े होनेपर महातेजस्वी जमदग्नि मुनि वेदाध्ययनद्वारा अन्य बहुत-से ऋषियोंसे आगे बढ़ गये ॥ ४४½ ॥

तं तु कृत्स्नो धनुर्वेदः प्रत्यभाद् भरतर्षभ।
चतुर्विधानि चास्त्राणि भास्करोपमवर्चसम् ॥ ४५ ॥

भरतश्रेष्ठ! सूर्यके समान तेजस्वी जमदग्निकी बुद्धिमें सम्पूर्ण धनुर्वेद और चारों प्रकारके अस्त्र स्वतः स्फुरित हो गये ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

पिताकी आज्ञासे परशुरामजीका अपनी माताका मस्तक काटना और उन्हींके वरदानसे पुनः जिलाना, परशुरामजीद्वारा कार्तवीर्य-अर्जुनका वध और उसके पुत्रोंद्वारा जमदग्नि मुनिकी हत्या

अकृतव्रण उवाच

स वेदाध्ययने युक्तो जमदग्निर्महातपाः।
तपस्तेपे ततो देवान् नियमाद् वशमानयत् ॥ १ ॥

अकृतव्रण कहते हैं—राजन्! महातपस्वी जमदग्निने वेदाध्ययनमें तत्पर होकर तपस्या आरम्भ की। तदनन्तर शौच-संतोषादि नियमोंका पालन करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंको अपने वशमें कर लिया* ॥ १ ॥

स प्रसेनजितं राजन्नधिगम्य नराधिपम्।
रेणुकां वरयामास स च तस्मै ददौ नृपः ॥ २ ॥

युधिष्ठिर! फिर राजा प्रसेनजित्के पास जाकर जमदग्नि मुनिने उनकी पुत्री रेणुकाके लिये याचना की और राजाने मुनिको अपनी कन्या ब्याह दी ॥ २ ॥

रेणुकां त्वथ सम्प्राप्य भार्यां भार्गवनन्दनः।
आश्रमस्थस्तया सार्धं तपस्तेपेऽनुकूलया ॥ ३ ॥

भृगुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले जमदग्नि राजकुमारी रेणुकाको पत्नीरूपमें पाकर आश्रमपर ही रहते हुए उसके साथ तपस्या करने लगे। रेणुका सदा सब प्रकारसे पतिके अनुकूल चलनेवाली स्त्री थी ॥ ३ ॥

तस्याः कुमाराश्चत्वारो जज्ञिरे रामपञ्चमाः।
सर्वेषामजघन्यस्तु राम आसीज्जघन्यजः ॥ ४ ॥

उसके गर्भसे क्रमशः चार पुत्र हुए, फिर पाँचवें पुत्र परशुरामजीका जन्म हुआ। अवस्थाकी दृष्टिसे भाइयोंमें छोटे होनेपर भी वे गुणोंमें उन सबसे बढ़े-चढ़े थे ॥ ४ ॥

फलाहारेषु सर्वेषु गतेष्वथ सुतेषु वै।
रेणुका स्नातुमगमत् कदाचिन्नियतव्रता ॥ ५ ॥

एक दिन जब सब पुत्र फल लानेके लिये वनमें चले गये, तब नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाली रेणुका स्नान करनेके लिये नदी-तटपर गयी ॥ ५ ॥

सा तु चित्ररथं नाम मार्तिकावतकं नृपम्।
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्ती यदृच्छया ॥ ६ ॥

* यहाँ कुछ प्रतियोंमें 'देवान्' की जगह 'वेदान्' पाठ मिलता है। उस दशामें यह अर्थ होगा कि 'वेदोंको वशमें कर लिया।' परंतु वेदोंको वशमें करनेकी बात असंगत-सी लगती है। देवताओंको वशमें करना ही सुसंगत जान पड़ता है, इसलिये हमने 'देवान्' यही पाठ रखा है। काश्मीरकी देवनागरी लिपिवाली हस्तलिखित पुस्तकमें यहाँ तीन श्लोक अधिक मिलते हैं। उनसे भी 'देवान्' पाठका ही समर्थन होता है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

तं तप्यमानं ब्रह्मर्षिमूचुर्देवाः सबान्धवाः।
किमर्थं तप्यसे ब्रह्मन् कः कामः प्रार्थितस्तव ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच देवान् ब्रह्मर्षिसत्तमः।
स्वर्गहेतोस्तपस्तप्ये लोकाश्च स्युर्ममाक्षयाः ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य तदा देवास्तमूचिरे।
नासंततेर्भवेल्लोकः कृत्वा धर्मशतान्यपि ॥
स श्रुत्वा वचनं तेषां त्रिदशानां कुरूद्वह ॥

इन श्लोकोंद्वारा देवताओंके प्रकट होकर वरदान देनेका प्रसंग सूचित होता है, अतः '...ततो देवान् नियमाद् वशमानयत्' यही पाठ ठीक है।

क्रीडन्तं सलिले दृष्ट्वा सभार्यं पद्ममालिनम् ।
ऋद्धिमन्तं ततस्तस्य स्पृहयामास रेणुका ॥ ७ ॥

राजन् ! जब वह स्नान करके लौटने लगी, उस समय अकस्मात् उसकी दृष्टि मार्तिकावत देशके राजा चित्ररथपर पड़ी, जो कमलोंकी माला धारण करके अपनी पत्नीके साथ जलमें क्रीड़ा कर रहा था । उस समृद्धिशाली नरेशको उस अवस्थामें देखकर रेणुकाने उसकी इच्छा की ॥ ६-७ ॥

व्यभिचाराच्च तस्मात् सा क्लिन्नाम्भसि विचेतना ।
प्रविवेशाश्रमं त्रस्ता तां वै भर्तान्वबुध्यत ॥ ८ ॥

उस समय इस मानसिक विकारसे द्रवित हुई रेणुका जलमें बेहोश-सी हो गयी । फिर त्रस्त होकर उसने आश्रमके भीतर प्रवेश किया । परंतु पतिदेव उसकी सब बातें जान गये ॥ ८ ॥

स तां दृष्ट्वा च्युतां धैर्याद् ब्राह्म्या लक्ष्म्या विवर्जिताम् ।
धिक्छब्देन महातेजा गर्हयामास वीर्यवान् ॥ ९ ॥

उसे धैर्यसे च्युत और ब्रह्मतेजसे वञ्चित हुई देख उन महातेजस्वी शक्तिशाली महर्षिने धिक्कारपूर्ण वचनोंद्वारा उसकी निन्दा की ॥ ९ ॥

ततो ज्येष्ठो जामदग्न्यो रुमण्वान् नाम नामतः ।
आजगाम सुषेणश्च वसुर्विश्वावसुस्तथा ॥ १० ॥

इसी समय जमदग्निके ज्येष्ठ पुत्र रुमण्वान् वहाँ आ गये । फिर क्रमशः सुषेण, वसु और विश्वावसु भी आ पहुँचे ॥

तानानुपूर्व्याद् भगवान् वधे मातुरचोदयत् ।
न च ते जातसंस्नेहाः किंचिदूचुर्विचेतसः ॥ ११ ॥

भगवान् जमदग्निने बारी-बारीसे उन सभी पुत्रोंको यह आज्ञा दी कि तुम अपनी माताका वध कर डालो, परंतु मातृस्नेह उमड़ आनेसे वे कुछ भी बोल न सके—बेहोश-से खड़े रहे ॥ ११ ॥

ततः शशाप तान् क्रोधात् ते शप्ताश्चेतनां जहुः ।
मृगपक्षिसधर्माणः क्षिप्रमासञ्जडोपमाः ॥ १२ ॥

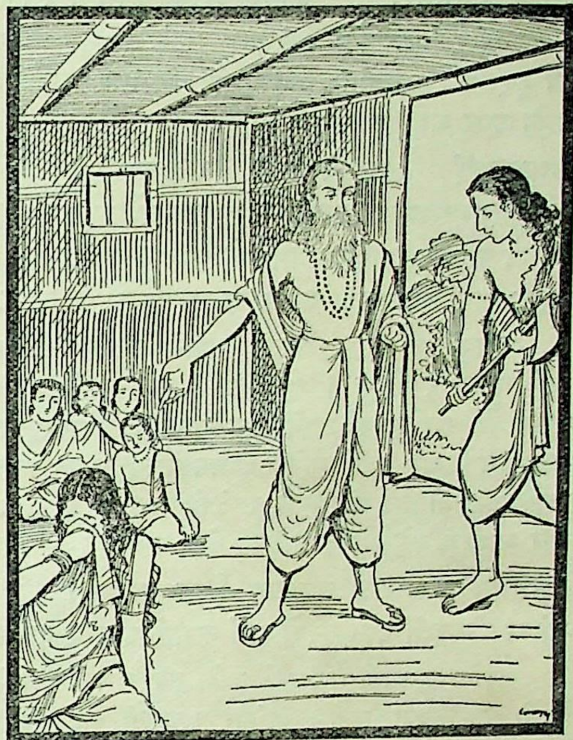
तब महर्षिने कुपित हो उन सब पुत्रोंको शाप दे दिया । शापग्रस्त होनेपर वे अपनी चेतना (विचार-शक्ति) खो बैठे और तुरंत मृग एवं पक्षियोंके समान जड-बुद्धि हो गये ॥

ततो रामोऽभ्ययात् पश्चादाश्रमं परवीरहा ।
तमुवाच महाबाहुर्जमदग्निर्महातपाः ॥ १३ ॥

तदनन्तर शत्रुपक्षके वीरोंका संहार करनेवाले परशुरामजी सबसे पीछे आश्रमपर आये । उस समय महातपस्वी महाबाहु जमदग्निने उनसे कहा—॥ १३ ॥

जहीमां मातरं पापां मा च पुत्र व्यथां कृथाः ।
तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत् ॥ १४ ॥

'बेटा ! अपनी इस पापिनी माताको अभी मार डालो और



इसके लिये मनमें किसी प्रकारका खेद न करो ।'

तब परशुरामजीने फरसा लेकर उसी क्षण माताका मस्तक काट डाला ॥ १४ ॥

ततस्तस्य महाराज जमदग्नेर्महात्मनः ।
कोपोऽभ्यगच्छत् सहसा प्रसन्नश्चाब्रवीदिदम् ॥ १५ ॥

महाराज ! इससे महात्मा जमदग्निका कोप सहसा शान्त हो गया और उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—॥ १५ ॥

ममेदं वचनात् तात कृतं ते कर्म दुष्करम् ।
वृणीष्व कामान् धर्मज्ञ यावतो वाञ्छसे हृदा ॥ १६ ॥
स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै ।
पापेन तेन चास्पर्शं भ्रातॄणां प्रकृतिं तथा ॥ १७ ॥
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत ।
ददौ च सर्वान् कामांस्ताञ्जमदग्निर्महातपाः ॥ १८ ॥

'तात ! तुमने मेरे कहनेसे वह कार्य किया है, जिसे करना दूसरोंके लिये बहुत कठिन है । तुम धर्मके ज्ञाता हो । तुम्हारे मनमें जो-जो कामनाएँ हों, उन सबको माँग लो ।' तब परशुरामजीने कहा—'पिताजी, मेरी माता जीवित हो उठें, उन्हें मेरेद्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे, वह मानस-पाप उनका स्पर्श न कर सके, मेरे चारों भाई स्वस्थ हो जायँ, युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं बड़ी आयु प्राप्त करूँ ।' भारत ! महातपस्वी जमदग्निने वरदान देकर उनकी वे सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं ॥ १६–१८ ॥

कदाचित् तु तथैवास्य विनिष्क्रान्ताः सुताः प्रभो ।
अथानूपपतिर्वीरः कार्तवीर्योऽभ्यवर्तत ॥ १९ ॥

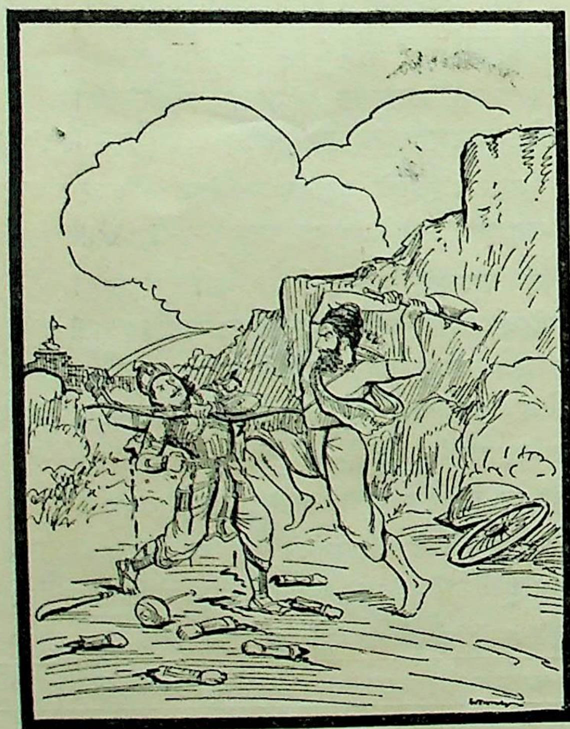
युधिष्ठिर ! एक दिन इसी तरह उनके सब पुत्र बाहर गये हुए थे । उसी समय अनूपदेशका वीर राजा कार्तवीर्य अर्जुन उधर आ निकला ॥ १९ ॥

तमाश्रमपदं प्राप्तमृषेर्भार्या समार्चयत् ।
स युद्धमदसम्मत्तो नाभ्यनन्दत् तथार्चनम् ॥ २० ॥
प्रमथ्य चाश्रमात् तस्माद्धोमधेनोस्तथा बलात् ।
जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान् ॥ २१ ॥

आश्रममें आनेपर ऋषिपत्नी रेणुकाने उसका यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया । कार्तवीर्य अर्जुन युद्धके मदसे उन्मत्त हो रहा था । उसने उस सत्कारको आदरपूर्वक ग्रहण नहीं किया । उलटे मुनिके आश्रमको तहस-नहस करके वहाँसे डकराती हुई होमधेनुके बछड़ेको बलपूर्वक हर लिया और आश्रमके बड़े-बड़े वृक्षोंको भी तोड़ डाला ॥ २०-२१ ॥

आगताय च रामाय तदाचष्ट पिता स्वयम् ।
गां च रोरुदतीं दृष्ट्वा कोपो रामं समाविशत् ॥ २२ ॥

जब परशुरामजी आश्रममें आये, तब स्वयं जमदग्निने उनसे सारी बातें कहीं । बारंबार डकराती हुई होमकी धेनुपर भी उनकी दृष्टि पड़ी । इससे वे अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ २२ ॥



स मृत्युवशमापन्नं कार्तवीर्यमुपाद्रवत् ।
तस्याथ युधि विक्रम्य भार्गवः परवीरहा ॥ २३ ॥
चिच्छेद निशितैर्भल्लैर्बाहून् परिघसंनिभान् ।
सहस्रसम्मितान् राजन् प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ २४ ॥

और कालके वशीभूत हुए कीर्तवीर्य अर्जुनपर धावा बोल दिया । शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भृगुनन्दन परशुरामजीने अपना सुन्दर धनुष ले युद्धमें महान् पराक्रम दिखाकर पैने बाणों-द्वारा उसकी परिघसदृश सहस्र भुजाओंको काट डाला ॥

अभिभूतः स रामेण संयुक्तः कालधर्मणा ।
अर्जुनस्याथ दायादा रामेण कृतमन्यवः ॥ २५ ॥

इस प्रकार परशुरामजीसे परास्त हो कार्तवीर्य अर्जुन कालके गालमें चला गया । पिताके मारे जानेसे अर्जुनके पुत्र परशुरामजीपर कुपित हो उठे ॥ २५ ॥

आश्रमस्थं विना रामं जगदग्निमुपाद्रवन् ।
ते तं जघ्नुर्महावीर्यमयुध्यन्तं तपस्विनम् ॥ २६ ॥

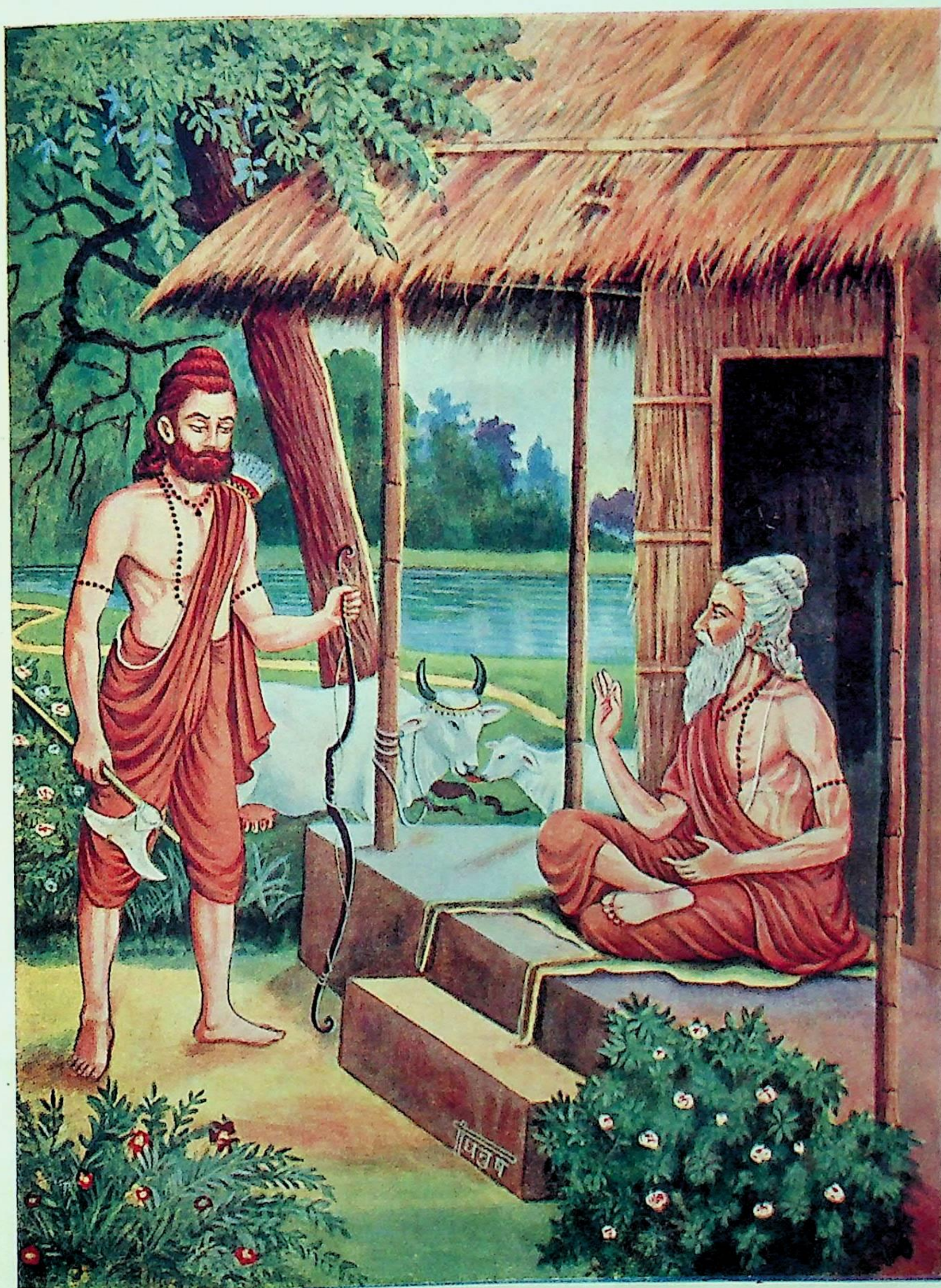
और एक दिन परशुरामजीकी अनुपस्थितिमें जब आश्रमपर केवल जमदग्निजी ही रह गये थे, वे उन्हींपर चढ़ आये । यद्यपि जमदग्निजी महान् शक्तिशाली थे तो भी तपस्वी ब्राह्मण होनेके कारण युद्धमें प्रवृत्त नहीं हुए । इस दशामें भी कार्तवीर्यके पुत्र उनपर प्रहार करने लगे ॥ २६ ॥

असकृद् रामरामेति विक्रोशन्तमनाथवत् ।
कार्तवीर्यस्य पुत्रास्तु जमदग्निं युधिष्ठिर ॥ २७ ॥
पीडयित्वा शरैर्जग्मुर्यथागतमरिंदमाः ।
अपक्रान्तेषु वै तेषु जमदग्नौ तथा गते ॥ २८ ॥
समित्पाणिरुपागच्छदाश्रमं भृगुनन्दनः ।
स दृष्ट्वा पितरं वीरस्तथा मृत्युवशं गतम् ।
अनर्हन्तं तथाभूतं विललाप सुदुःखितः ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! वे महर्षि अनाथकी भाँति 'राम ! राम !!' की रट लगा रहे थे, उसी अवस्थामें कार्तवीर्य अर्जुनके पुत्रोंने उन्हें बाणोंसे घायल करके मार डाला । इस प्रकार मुनिकी हत्या करके वे शत्रुसंहारक क्षत्रिय जैसे आये थे, उसी प्रकार लौट गये । जमदग्निके इस तरह मारे जानेके बाद जब वे कार्तवीर्य-पुत्र भाग गये, तब भृगुनन्दन परशुरामजी हाथोंमें समिधा लिये आश्रममें आये । वहाँ अपने पिताको इस प्रकार दुर्दशापूर्वक मरा देख उन्हें बड़ा दुःख हुआ । उनके पिता इस प्रकार मारे जानेके योग्य कदापि नहीं थे, परशुरामजी उन्हें याद करके विलाप करने लगे ॥ २७–२९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने जमदग्निवधे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानमें जमदग्निवधविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥



जमदग्निका परशुरामसे कार्तवीर्य-अर्जुनका अपराध बताना

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

परशुरामजीका पिताके लिये विलाप और पृथ्वीको इक्कीस बार निःक्षत्रिय करना एवं महाराज युधिष्ठिरके द्वारा परशुरामजीका पूजन

राम उवाच

ममापराधात् तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः।
कार्तवीर्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः॥ १॥

परशुरामजी बोले—हा तात! मेरे अपराधका बदला लेनेके लिये कार्तवीर्यके उन नीच और पामर पुत्रोंने वनमें बाणोंद्वारा मारे जानेवाले मृगकी भाँति आपकी हत्या की है॥ १॥

धर्मज्ञस्य कथं तात वर्तमानस्य सत्पथे।
मृत्युरेवंविधो युक्तः सर्वभूतेष्वनागसः॥ २॥

पिताजी! आप तो धर्मज्ञ होनेके साथ ही सन्मार्गपर चलनेवाले थे, कभी किसी भी प्राणीके प्रति कोई अपराध नहीं करते थे, फिर आपकी ऐसी मृत्यु कैसे उचित हो सकती है?॥ २॥



किं नु तैर्न कृतं पापं यैर्भवांस्तपसि स्थितः।
अयुध्यमानो वृद्धः सन् हतः शरशतैः शितैः॥ ३॥

आप तपस्यामें संलग्न, युद्धसे विरत और वृद्ध थे तो भी जिन्होंने सैकड़ों तीखे बाणोंद्वारा आपकी हत्या की है, उन्होंने कौन-सा पाप नहीं किया?॥ ३॥

किं नु ते तत्र वक्ष्यन्ति सचिवेषु सुहृत्सु च।
अयुध्यमानं धर्मज्ञमेकं हत्वानपत्रपाः॥ ४॥

वे निर्लज्ज राजकुमार युद्धसे दूर रहनेवाले आप-जैसे धर्मज्ञ एवं असहाय पुरुषको मारकर अपने सुहृदों और मन्त्रियोंके सामने क्या कहेंगे?॥ ४॥

विलप्यैवं सकरुणं बहु नानाविधं नृप।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि पितुश्चक्रे महातपाः॥ ५॥
ददाह पितरं चाग्नौ रामः परपुरंजयः।
प्रतिजज्ञे वधं चापि सर्वक्षत्रस्य भारत॥ ६॥

राजन्! इस प्रकार भाँति-भाँतिसे अत्यन्त करुणाजनक विलाप करके शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महातपस्वी परशुरामजीने अपने पिताके समस्त प्रेतकर्म किये। भारत! पहले तो उन्होंने विधिपूर्वक अग्निमें पिताका दाह-संस्कार किया, तत्पश्चात् सम्पूर्ण क्षत्रियोंके वधकी प्रतिज्ञा की॥ ५-६॥

संक्रुद्धोऽतिबलः संख्ये शस्त्रमादाय वीर्यवान्।
जघ्निवान् कार्तवीर्यस्य सुतानेकोऽन्तकोपमः॥ ७॥

अत्यन्त बलवान् एवं पराक्रमी परशुरामजी क्रोधके आवेशमें साक्षात् यमराजके समान हो गये। उन्होंने युद्धमें शस्त्र लेकर अकेले ही कार्तवीर्यके सब पुत्रोंको मार डाला॥ ७॥

तेषां चानुगता ये च क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ।
तांश्च सर्वानवामृद्नाद् रामः प्रहरतां वरः॥ ८॥

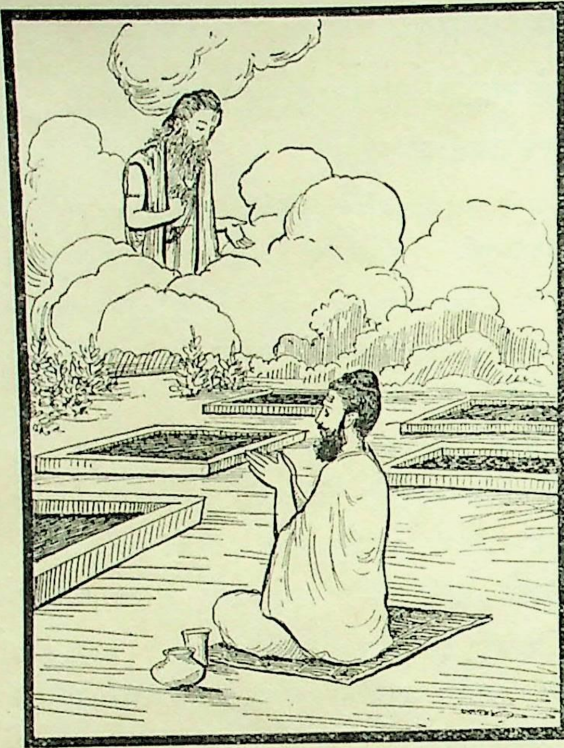
क्षत्रियशिरोमणे! उस समय जिन-जिन क्षत्रियोंने उनका साथ दिया, उन सबको भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने मिट्टीमें मिला दिया॥ ८॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान्॥ ९॥

इस प्रकार भगवान् परशुरामने इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे सूनी करके उनके रक्तसे समन्तपञ्चक क्षेत्रमें पाँच रुधिर-कुण्ड भर दिये॥ ९॥

स तेषु तर्पयामास भृगून् भृगुकुलोद्वहः।
साक्षाद् ददर्श चर्चीकं स च रामं न्यवारयत्॥ १०॥

भृगुकुलभूषण रामने उन कुण्डोंमें भृगुवंशी पितरोंका तर्पण किया और उस समय साक्षात् प्रकट हुए महर्षि ऋचीकको देखा। उन्होंने परशुरामको इस घोर कर्मसे रोका॥ १०॥



ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान्।
तर्पयामास देवेन्द्रमृत्विग्भ्यः प्रददौ महीम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर प्रतापी जमदग्निकुमारने एक महान् यज्ञ करके देवराज इन्द्रको तृप्त किया तथा ऋत्विजोंको दक्षिणा-रूपमें भूमि दी ॥ ११ ॥

वेदीं चाप्यददद्धैमीं कश्यपाय महात्मने।
दशव्यामायतां कृत्वा नवोत्सेधां विशाम्पते ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! उन्होंने महात्मा कश्यपको एक सोनेकी वेदी प्रदान की, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई दस-दस व्याम (चालीस-चालीस हाथ) की थी। ऊँचाईमें भी वह वेदी नौ व्याम (छत्तीस हाथ) की थी ॥ १२ ॥

तां कश्यपस्यानुमते ब्राह्मणाः खण्डशस्तदा।
व्यभजंस्ते तदा राजन् प्रख्याताः खाण्डवायनाः ॥ १३ ॥

राजन् ! उस समय कश्यपजीकी आज्ञासे ब्राह्मणोंने उस स्वर्णवेदीको खण्ड-खण्ड करके बाँट लिया, अतः वे खाण्डवायन नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ १३ ॥

स प्रदाय महीं तस्मै कश्यपाय महात्मने।
अस्मिन् महेन्द्रे शैलेन्द्रे वसत्यमितविक्रमः ॥ १४ ॥

इस प्रकार सारी पृथ्वी महात्मा कश्यपको देकर अमित पराक्रमी परशुरामजी इस पर्वतराज महेन्द्रपर निवास करते हैं ॥ १४ ॥

एवं वैरमभूत् तस्य क्षत्रियैर्लोकवासिभिः।
पृथिवी चापि विजिता रामेणामिततेजसा ॥ १५ ॥

इस तरह उनका सम्पूर्ण जगत्के क्षत्रियोंके साथ वैर हुआ था और उसी समय अमित तेजस्वी परशुरामजीने सारी पृथ्वी जीती थी ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततश्चतुर्दशीं रामः समयेन महामनाः।
दर्शयामास तान् विप्रान् धर्मराजं च सानुजम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर चतुर्दशी तिथिको निश्चित समयपर महामना परशुरामजीने उस पर्वतपर रहनेवाले उन ब्राह्मणों तथा भाइयोंसहित युधिष्ठिरको दर्शन दिया ॥ १६ ॥

स तमानर्च राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितः प्रभुः।
द्विजानां च परां पूजां चक्रे नृपतिसत्तमः ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! उस समय प्रभावशाली नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयोंके साथ श्रद्धापूर्वक भगवान् परशुरामकी पूजा की तथा अन्य ब्राह्मणोंका भी बहुत आदर-सत्कार किया ॥ १७ ॥

अर्चित्वा जामदग्न्यं स पूजितस्तेन चोदितः।
महेन्द्र उष्य तां रात्रिं प्रययौ दक्षिणामुखः ॥ १८ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामजीकी पूजा करके स्वयं भी उनके द्वारा सम्मानित हो वे उन्हींकी आज्ञासे उस रातको महेन्द्रपर्वतपर ही रहे, फिर सवेरे उठकर दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका विभिन्न तीर्थोंमें होते हुए प्रभासक्षेत्रमें पहुँचकर तपस्यामें प्रवृत्त होना और यादवोंका पाण्डवोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

गच्छन् स तीर्थानि महानुभावः
पुण्यानि रम्याणि ददर्श राजा।
सर्वाणि विप्रैरुपशोभितानि
क्वचित् क्वचिद् भारत सागरस्य ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! आगे जाते

हुए महानुभाव राजा युधिष्ठिरने समुद्रतटके समस्त पुण्य तीर्थोंका दर्शन किया । वे सभी तीर्थ परम मनोहर थे । उनमें कहीं-कहीं ब्राह्मणलोग निवास करते थे, जिससे उन तीर्थोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥ १ ॥

स वृत्तवांस्तेषु कृताभिषेकः
सहानुजः पार्थिवपुत्रपौत्रः ।
समुद्रगां पुण्यतमां प्रशस्तां
जगाम पारिक्षित पाण्डुपुत्रः ॥ २ ॥

परीक्षितनन्दन ! सदाचारी पाण्डुकुमार युधिष्ठिर कश्यपपुत्र सूर्यदेवके पौत्र थे (क्योंकि उनकी उत्पत्ति सूर्यकुमार धर्मसे हुई थी)। वे भाइयोंसहित उन तीर्थोंमें स्नान करके समुद्रगामिनी पुण्यमयी प्रशस्ता नदीके तटपर गये ॥ २ ॥

तत्रापि चाप्लुत्य महानुभावः
संतर्पयामास पितॄन् सुरांश्च ।
द्विजातिमुख्येषु धनं विसृज्य
गोदावरीं सागरगामगच्छत् ॥ ३ ॥

महानुभाव युधिष्ठिरने वहाँ भी स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धन दान करके सागरगामिनी गोदावरी नदीकी ओर प्रस्थान किया ॥ ३ ॥

ततो विपाप्मा द्रविडेषु राजन्
समुद्रमासाद्य च लोकपुण्यम् ।
अगस्त्यतीर्थं च महापवित्रं
नारीतीर्थान्यथ वीरो ददर्श ॥ ४ ॥

जनमेजय ! गोदावरीमें स्नान करके पवित्र हो वे वहाँसे द्रविड़देशमें घूमते हुए संसारके पुण्यमय तीर्थ समुद्रके तटपर गये । वहाँ स्नानादि करनेके पश्चात् वीर पाण्डुकुमारने आगे बढ़कर परम पवित्र अगस्त्य-तीर्थ तथा नारी-तीर्थोंका[1] दर्शन किया ॥ ४ ॥

तत्रार्जुनस्याग्र्यधनुर्धरस्य
निशम्य तत् कर्म नरैरशक्यम् ।
सम्पूज्यमानः परमर्षिसङ्घैः
परां मुदं पाण्डुसुतः स लेभे ॥ ५ ॥
स तेषु तीर्थेष्वभिषिक्तगात्रः
कृष्णासहायः सहितोऽनुजैश्च ।
सम्पूजयन् विक्रममर्जुनस्य
रेमे महीपाल पतिः पृथिव्याः ॥ ६ ॥

वहाँ श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुनके उस पराक्रमको, जो दूसरे मनुष्योंके लिये असम्भव था, सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई । उन तीर्थोंमें बड़े-बड़े ऋषिगण भी उनका सत्कार करते थे । जनमेजय ! द्रौपदी तथा भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिरने उन पाँचों तीर्थोंमें स्नान करके अर्जुनके पराक्रमकी प्रशंसा करते हुए बड़े हर्षका अनुभव किया ॥ ५-६ ॥

ततः सहस्राणि गवां प्रदाय
तीर्थेषु तेष्वम्बुधरोत्तमस्य ।
हृष्टः सह भ्रातृभिरर्जुनस्य
संकीर्तयामास गवां प्रदानम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर समुद्रतटवर्ती उन सभी तीर्थोंमें सहस्रों गोदान करके भाइयोंसहित युधिष्ठिरने प्रसन्नतापूर्वक अर्जुनके द्वारा किये हुए गोदानका बारंबार वर्णन किया ॥ ७ ॥

स तानि तीर्थानि च सागरस्य
पुण्यानि चान्यानि बहूनि राजन् ।
क्रमेण गच्छन् परिपूर्णकामः
शूर्पारकं पुण्यतमं ददर्श ॥ ८ ॥

राजन् ! समुद्र-सम्बन्धी तथा अन्य बहुत-से पुण्य तीर्थोंमें क्रमशः भ्रमण करते हुए पूर्णकाम राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त पुण्यमय शूर्पारकतीर्थका दर्शन किया ॥ ८ ॥

तत्रोदधेः कंचिदतीत्य देशं
ख्यातं पृथिव्यां वनमाससाद ।
तप्तं सुरैस्तत्र तपः पुरस्ता-
दिष्टं तथा पुण्यपरैर्नरेन्द्रैः ॥ ९ ॥

वहाँ समुद्रके कुछ भागको लाँघकर वे एक ऐसे वनमें आये, जो भूमण्डलमें सर्वत्र विख्यात था । वहाँ पूर्वकालमें देवताओंने तपस्या की थी और पुण्यात्मा नरेशोंने यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ९ ॥

स तत्र तामग्र्यधनुर्धरस्य
वेदीं ददर्शायतपीनबाहुः ।
ऋचीकपुत्रस्य तपस्विसङ्घैः
समावृतां पुण्यकृदर्चनीयाम् ॥ १० ॥

लम्बी और मोटी भुजाओंवाले युधिष्ठिरने उस वनमें धनुर्धरशिरोमणि ऋचीकवंशी परशुरामजीकी वेदी देखी, जो पुण्यात्मा पुरुषोंके लिये पूजनीय थी तथा तपस्वियोंके समुदाय उसे सदा घेरे रहते थे ॥ १० ॥

ततो वसूनां वसुधाधिपः स
मरुद्गणानां च तथाश्विनोश्च ।
वैवस्वतादित्यधनेश्वराणा-
मिन्द्रस्य विष्णोः सवितुर्विभोश्च ॥ ११ ॥
भवस्य चन्द्रस्य दिवाकरस्य
पतेरपां साध्यगणस्य चैव ।
धातुः पितॄणां च तथा महात्मा
रुद्रस्य राजन् सगणस्य चैव ॥ १२ ॥

[1] पाँच अप्सराओंके तीर्थ ।

सरस्वत्याः सिद्धगणस्य चैव
पुण्याश्च ये चाप्यमरास्तथान्ये ।
पुण्यानि चाप्यायतनानि तेषां
ददर्श राजा सुमनोहराणि ॥ १३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन महात्मा नरेशने वसु, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, यम, आदित्य, कुबेर, इन्द्र, विष्णु, भगवान् सविता, शिव, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, साध्यगण, धाता, पितृगण, अपने गणोंसहित रुद्र, सरस्वती, सिद्ध-समुदाय तथा अन्य पुण्यमय देवताओंके परम पवित्र और मनोहर मन्दिरोंके दर्शन किये ॥ ११-१३ ॥

तेषूपवासान् विबुधानुपोष्य
दत्त्वा च रत्नानि महान्ति राजा ।
तीर्थेषु सर्वेषु परिप्लुताङ्गः
पुनः स शूर्पारकमाजगाम ॥ १४ ॥

उन तीर्थोंके निकट निवास करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणोंसे आच्छादित एवं विभूषित करके उन्हें बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट दे वहाँके सभी तीर्थोंमें स्नान करके महाराज युधिष्ठिर पुनः शूर्पारकक्षेत्रमें लौट आये ॥ १४ ॥

स तेन तीर्थेन तु सागरस्य
पुनः प्रयातः सह सोदरीयैः ।
द्विजैः पृथिव्यां प्रथितं महद्भि-
स्तीर्थं प्रभासं समुपाजगाम ॥ १५ ॥

वहाँसे प्रस्थित हो वे भाइयोंसहित सागरतटवर्ती तीर्थोंके मार्गसे होते हुए फिर प्रभासक्षेत्र आये, जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके कारण भूमण्डलमें अधिक प्रसिद्ध है ॥ १५ ॥

तत्राभिषिक्तः पृथुलोहिताक्षः
सहानुजैर्देवगणान् पितॄंश्च ।
संतर्पयामास तथैव कृष्णा
ते चापि विप्राः सह लोमशेन ॥ १६ ॥

वहाँ भाइयोंसहित स्नान करके विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले राजा युधिष्ठिरने देवताओं और पितरोंका तर्पण किया । इसी प्रकार द्रौपदीने, साथ आये हुए उन ब्राह्मणोंने तथा महर्षि लोमशने भी वहाँ स्नान एवं तर्पण किये ॥ १६ ॥

स द्वादशाहं जलवायुभक्षः
कुर्वन् क्षपाहःसु तदाभिषेकम् ।
समन्ततोऽग्नीनुपदीपयित्वा
तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ १७ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर वहाँ बारह दिनोंतक केवल जल और वायु पीकर रहते हुए दिनमें और रातमें भी स्नान करते तथा अपने चारों ओर आग जलाकर तपस्यामें लगे रहते थे ॥ १७ ॥

तमुग्रमास्थाय तपश्चरन्तं
शुश्राव रामश्च जनार्दनश्च ।
तौ सर्ववृष्णिप्रवरौ ससैन्यौ
युधिष्ठिरं जग्मतुराजमीढम् ॥ १८ ॥

इसी समय वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामने सुना कि महाराज युधिष्ठिर प्रभासक्षेत्रमें उग्र तपस्या कर रहे हैं; तब वे अपने सैनिकोंसहित अजमीढकुल-भूषण युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये गये ॥ १८ ॥

ते वृष्णयः पाण्डुसुतान् समीक्ष्य
भूमौ शयानान् मलदिग्धगात्रान् ।
अनर्हतीं द्रौपदीं चापि दृष्ट्वा
सुदुःखिताश्चुक्रुशुरार्तनादम् ॥ १९ ॥

वहाँ जाकर वृष्णिवंशियोंने देखा, पाण्डवलोग पृथ्वीपर सो रहे हैं, उनके सारे अङ्ग धूलसे सने हुए हैं तथा कष्ट-सहनके अयोग्य द्रौपदी भी भारी दुर्दशा भोग रही है। यह सब देखकर वे बड़े दुखी हुए और आर्त स्वरसे रोने लगे ॥ १९ ॥

ततः स रामं च जनार्दनं च
कार्ष्णिं च साम्बं च शिनेश्च पौत्रम् ।
अन्यांश्च वृष्णीनुपगम्य पूजां
चक्रे यथाधर्ममहीनसत्त्वः ॥ २० ॥

(उस महान् संकटमें भी) महाराज युधिष्ठिरने अपना धैर्य नहीं छोड़ा था । उन्होंने बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि तथा अन्यान्य वृष्णिवंशियोंके पास जा-जाकर धर्मानुसार उन सबका आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

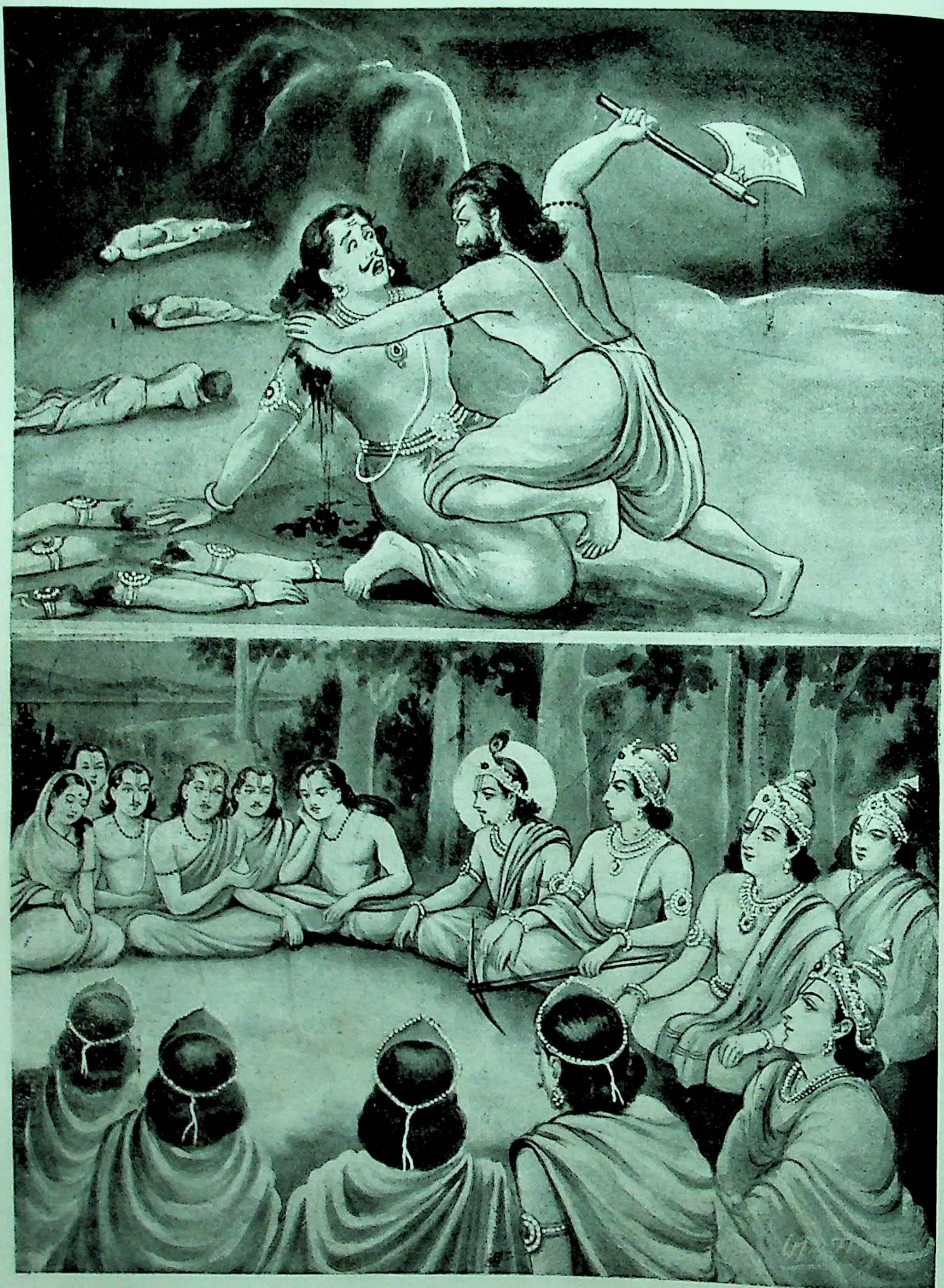
ते चापि सर्वान् प्रतिपूज्य पार्था-
स्तैः सत्कृताः पाण्डुसुतैस्तथैव ।
युधिष्ठिरं सम्परिवार्य राज-
न्नुपाविशन् देवगणा यथेन्द्रम् ॥ २१ ॥

राजन् ! पाण्डुपुत्रोंद्वारा सत्कृत होकर यादवोंने भी उन सबका यथोचित सत्कार किया और फिर देवता जैसे इन्द्रके चारों ओर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार वे धर्मराज युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ २१ ॥

तेषां स सर्वं चरितं परेषां
वने च वासं परमप्रतीतः ।
अस्त्रार्थमिन्द्रस्य गतं च पार्थं
निवेशनं हृष्टमनाः शशंस ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त विश्वस्त होकर यादवोंसे शत्रुओंकी सारी करतूतें कह सुनायीं और अपने वनवासका भी सब समाचार बताया । साथ ही बड़ी प्रसन्नताके साथ यह भी सूचित किया कि अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये इन्द्रलोकमें गये हैं ॥ २२ ॥

भगवान् परशुरामद्वारा सहस्रार्जुनका वध



प्रभासक्षेत्रमें पाण्डवोंकी यादवोंसे भेंट

श्रुत्वा तु ते तस्य वचः प्रतीता-
स्तांश्चापि दृष्ट्वा सुकृशानतीव ।
नेत्रोद्भवं सम्मुमुचुर्महार्हा
दुःखार्तिजं वारि महानुभावाः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर उन्हें कुछ सान्त्वना मिली । परंतु पाण्डवोंको अत्यन्त दुर्बल देखकर वे परम पूजनीय महानुभाव यादव वीर दुःख और वेदनासे पीड़ित हो आँसू बहाने लगे ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां प्रभासे यादवपाण्डवसमागमे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें प्रभासक्षेत्रके भीतर यादव-पाण्डव-समागमविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रभासतीर्थमें बलरामजीके पाण्डवोंके प्रति सहानुभूतिसूचक दुःखपूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

प्रभासतीर्थमासाद्य पाण्डवा वृष्णयस्तथा ।
किमकुर्वन् कथाश्चैषां कास्तत्रासंस्तपोधन ॥ १ ॥
ते हि सर्वे महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः ।
वृष्णयः पाण्डवाश्चैव सुहृदश्च परस्परम् ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन ! प्रभासतीर्थमें पहुँचकर पाण्डवों तथा वृष्णिवंशियोंने क्या किया ? वहाँ उनमें कैसी बात-चीत हुई ? वे सब महात्मा यादव और पाण्डव सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् और एक-दूसरेका हित चाहनेवाले थे, (अतः उनमें क्या बात हुई ? यह मैं जानना चाहता हूँ) ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रभासतीर्थं सम्प्राप्य पुण्यं तीर्थं महोदधेः ।
वृष्णयः पाण्डवान् वीराः परिवार्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! प्रभासक्षेत्र समुद्र-तटवर्ती एक पुण्यमय तीर्थ है । वहाँ जाकर वृष्णिवंशी वीर पाण्डवोंको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ३ ॥

ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभः ।
वनमाली हली रामो बभाषे पुष्करेक्षणम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर गोदुग्ध, कुन्दकुसुम, चन्द्रमा, मृणाल (कमल-नाल) तथा चाँदीकी-सी कान्तिवाले वनमालाविभूषित हलधर बलरामने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥ ४ ॥

बलदेव उवाच

न कृष्ण धर्मश्चरितो भवाय
जन्तोरधर्मश्च पराभवाय ।
युधिष्ठिरो यत्र जटी महात्मा
वनाश्रयः क्लिश्यति चीरवासाः ॥ ५ ॥

बलदेवजी बोले—श्रीकृष्ण ! जान पड़ता है, आचरणमें लाया हुआ धर्म भी प्राणियोंके अभ्युदयका कारण नहीं होता और उनका किया हुआ अधर्म भी पराजयकी प्राप्ति करानेवाला नहीं होता; क्योंकि महात्मा युधिष्ठिरको (जो सदा धर्मका ही पालन करते हैं) जटाधारी होकर वल्कल वस्त्र पहने वनमें रहते हुए महान् क्लेश भोगना पड़ रहा है ॥ ५ ॥



दुर्योधनश्चापि महीं प्रशास्ति
न चास्य भूमिर्विवरं ददाति ।
धर्मादधर्मश्चरितो गरीया-
निती व मन्येत नरोऽल्पबुद्धिः ॥ ६ ॥
दुर्योधने चापि विवर्धमाने
युधिष्ठिरे चासुखमात्तराज्ये ।
किं त्वत्र कर्तव्यमिति प्रजाभिः
शङ्का मिथः संजनिता नराणाम् ॥ ७ ॥

उधर, दुर्योधन (अधर्मपरायण होनेपर भी) पृथ्वीका शासन कर रहा है । उसके लिये यह पृथ्वी भी नहीं फटती है । इससे तो मन्द बुद्धिवाले मनुष्य यही समझेंगे कि धर्माचरणकी अपेक्षा अधर्मका आचरण ही श्रेष्ठ है । दुर्योधन

निरन्तर उन्नति कर रहा है और युधिष्ठिर छलसे राज्य छिन जानेके कारण दुःख उठा रहे हैं। (युधिष्ठिर और दुर्योधनके दृष्टान्तको सामने रखकर) मनुष्योंमें परस्पर महान् संदेह खड़ा हो गया है। प्रजा यह सोचने लगी है कि हमें क्या करना चाहिये—हमें धर्मका आश्रय लेना चाहिये या अधर्मका ? ॥ ६-७ ॥

अयं स धर्मप्रभवो नरेन्द्रो
धर्मे धृतः सत्यधृतिः प्रदाता।
चलेद्धि राज्याच्च सुखाच्च पार्थो
धर्मादपेतस्तु कथं विवर्धेत् ॥ ८ ॥

ये राजा युधिष्ठिर साक्षात् धर्मके पुत्र हैं। धर्म ही इनका आधार है। ये सदा सत्यका आश्रय लेते और दान देते रहते हैं। कुन्तीकुमार युधिष्ठिर राज्य और सुख छोड़ सकते हैं, (परंतु धर्मका त्याग नहीं कर सकते) भला, धर्मसे दूर होकर कोई कैसे अभ्युदयका भागी हो सकता है ? ॥ ८ ॥

कथं नु भीष्मश्च कृपश्च विप्रो
द्रोणश्च राजा च कुलस्य वृद्धः।
प्रव्राज्य पार्थान् सुखमाप्नुवन्ति
धिक् पापबुद्धीन् भरतप्रधानान् ॥ ९ ॥

पितामह भीष्म, ब्राह्मण कृपाचार्य, द्रोण तथा कुलके बड़े-बूढ़े राजा धृतराष्ट्र—ये कुन्तीके पुत्रोंको राज्यसे निकालकर कैसे सुख पाते हैं ? भरतकुलके इन प्रधान व्यक्तियोंको धिक्कार है ! क्योंकि इनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है ॥ ९ ॥

किं नाम वक्ष्यत्यवनिप्रधानः
पितॄन् समागम्य परत्र पापः।
पुत्रेषु सम्यक् चरितं मयेति
पुत्रानपापान् व्यपरोप्य राज्यात् ॥ १० ॥

पापी राजा धृतराष्ट्र परलोकमें पितरोंसे मिलनेपर उनके सामने कैसे यह कह सकेगा कि 'मैंने अपने और भाई पाण्डुके पुत्रोंके साथ न्याययुक्त बर्ताव किया है।' जब कि उसने इन निर्दोष पुत्रोंको राज्यसे वञ्चित कर दिया है ॥ १० ॥

नासौ धिया सम्प्रति पश्यति स्म
किं नाम कृत्वाहमचक्षुरेवम्।
जातः पृथिव्यामिति पार्थिवेषु
प्रव्राज्य कौन्तेयमिति स्म राज्यात् ॥ ११ ॥

वह अब भी अपने बुद्धिरूप नेत्रोंसे यह नहीं देख पाता कि कौन-सा पाप करनेके कारण मुझे इस प्रकार अन्धा होना पड़ा है और आगे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राज्यसे निकालकर जब मैं भूतलके राजाओंमें फिरसे जन्म लूँगा, तब मेरी दशा कैसी होगी ? ॥ ११ ॥

नूनं समृद्धान् पितृलोकभूमौ
चामीकराभान् क्षितिजान् प्रफुल्लान्।
विचित्रवीर्यस्य सुतः सपुत्रः
कृत्वा नृशंसं बत पश्यति स्म ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्यका पुत्र धृतराष्ट्र और उसके पुत्र दुर्योधन आदि यह क्रूर कर्म करके (स्वप्नमें) निश्चय ही पितृलोककी भूमिमें सुवर्णके समान चमकनेवाले समृद्धिशाली एवं पुष्पित वृक्षोंको देख रहे हैं * ॥ १२ ॥

व्यूढोत्तरांसान् पृथुलोहिताक्षान्
नेमान् स्म पृच्छन् स शृणोति नूनम्।
प्रास्थापयद् यत् स वनं सशङ्को
युधिष्ठिरं सानुजमात्तशस्त्रम् ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र सुदृढ़ कंधे तथा विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले इन भीष्म आदिसे कोई बात पूछता तो है, परंतु निश्चय ही उनकी बात सुनकर मानता नहीं है, तभी तो भाइयोंसहित शस्त्रधारी युधिष्ठिरके प्रति भी मनमें शङ्का रखकर इन्हें उसने वनमें भेज दिया है ॥ १३ ॥

योऽयं परेषां पृतनां समृद्धां
निरायुधो दीर्घभुजो निहन्यात्।
श्रुत्वैव शब्दं हि वृकोदरस्य
मुञ्चन्ति सैन्यानि शकृत् समूत्रम् ॥ १४ ॥

(भला ! वे कौरव इन पाण्डवोंका सामना कैसे कर सकते हैं ?) ये बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले भीमसेन बिना अस्त्र-शस्त्रोंके ही शत्रुओंकी शक्तिशाली सेनाका संहार कर सकते हैं। भीमका तो सिंहनाद सुनकर ही विरोधी दलके सैनिक मल-मूत्र करने लगते हैं ॥ १४ ॥

स क्षुत्पिपासाध्वकृशस्तरस्वी
समेत्य नानायुधबाणपाणिः।
वने स्मरन् वासमिमं सुघोरं
शेषं न कुर्यादिति निश्चितं मे ॥ १५ ॥

वे ही वेगशाली भीम इन दिनों भूख-प्यास और रास्ता चलनेकी थकावटसे दुर्बल हो गये हैं। इस भयंकर वनवासका स्मरण करते हुए जब ये हाथोंमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं धनुष-बाण लिये शत्रुओंपर आक्रमण करेंगे, उस समय किसीको भी जीता न छोड़ेंगे—यह मेरा निश्चय है ॥ १५ ॥

न ह्यस्य वीर्येण बलेन कश्चित्
समः पृथिव्यामपि विद्यतेऽन्यः।
स शीतवातातपकर्शिताङ्गो
न शेषमाजावसुहृत्सु कुर्यात् ॥ १६ ॥

इनके समान पराक्रमी और बलवान् वीर इस पृथ्वीपर

* इस प्रकारके वृक्षोंको देखना मृत्युसूचक माना गया है।

कोई नहीं है। इस समय सर्दी-गर्मी और वायुके कष्टसे यद्यपि इनका शरीर दुबला हो गया है तो भी समरमें शत्रुओंमेंसे किसीको भी ये शेष नहीं रहने देंगे ॥ १६ ॥

प्राच्यां नृपानेकरथेन जित्वा
वृकोदरः सानुचरान् रणेषु।
स्वस्त्यागमद् योऽतिरथस्तरस्वी
सोऽयं वने क्लिश्यति चीरवासाः॥ १७॥
यः सिन्धुकूले व्यजयन्नृदेवान्
समागतान् दाक्षिणात्यान् महीपान्।
तं पश्यतेमं सहदेवमद्य
तरस्विनं तापसवेषरूपम्॥ १८॥

जो पूर्वदिशामें (दिग्विजयकी यात्राके समय) केवल एक रथ लेकर युद्धमें बहुत-से राजाओंको सेवकोंसहित परास्त करके सकुशल लौट आये थे, वे ही अतिरथी और वेगशाली वीर वृकोदर आज वनमें वल्कल वस्त्र पहनकर कष्ट भोग रहे हैं। जिसने समुद्र-तटपर सामना करनेके लिये आये हुए दक्षिण दिशाके सम्पूर्ण राजाओंपर विजय पायी थी, उसी वेगवान् वीर इस सहदेवको देखो—यह आज तपस्वीकी-सी वेषभूषा धारण किये हुए दुःख पा रहा है ॥ १७-१८ ॥

यः पार्थिवानेकरथेन जिग्ये
दिशं प्रतीचीं प्रति युद्धशौण्डः।
सोऽयं वने मूलफलेन जीव-
ञ्जटी चरत्यद्य मलाचिताङ्गः॥ १९॥

जिस युद्धकुशल नकुलने एकमात्र रथकी सहायतासे पश्चिम दिशाके समस्त भूपालोंको जीत लिया था, वही आज वनमें फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करता हुआ सिरपर जटा धारण किये मलिन शरीरसे विचर रहा है ॥ १९ ॥

सत्रे समृद्धेऽतिरथस्य राज्ञो
वेदीतलादुत्पतिता सुता या।
सेयं वने वासमिमं सुदुःखं
कथं सहत्यद्य सती सुखार्हा ॥ २० ॥

जो अतिरथी राजा द्रुपदके समृद्धिशाली यज्ञमें वेदीसे प्रकट हुई थी, वही यह सुख भोगनेके योग्य सती-साध्वी द्रौपदी वनवासके इस महान् दुःखको कैसे सहन करती है ? ॥

त्रिवर्गमुख्यस्य समीरणस्य
देवेश्वरस्याप्यथवाश्विनोश्च ।
एषां सुराणां तनयाः कथं नु
वनेऽचरन् ह्यस्तसुखाः सुखार्हाः ॥२१॥

धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों-जैसे देवताओंके ये पुत्र सुख भोगनेके योग्य होते हुए भी आज सब प्रकारके सुखोंसे वञ्चित हो वनमें कैसे विचरण कर रहे हैं ? ॥ २१ ॥

जिते हि धर्मस्य सुते सभार्ये
सभ्रातृके सानुचरे निरस्ते।
दुर्योधने चापि विवर्धमाने
कथं न सीदत्यवनिः सशैला ॥ २२ ॥

पत्नीसहित धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें हार गये और भाइयों एवं सेवकोंसहित राज्यसे बाहर कर दिये गये; उधर दुर्योधन (अनीतिपरायण होकर भी दिनोंदिन) बढ़ रहा है; ऐसी दशामें पर्वतोंसहित यह पृथ्वी क्यों नहीं फट जाती ? ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां बलरामवाक्ये एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥११९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें बलरामवाक्यविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिके शौर्यपूर्ण उद्गार तथा युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका अनुमोदन एवं पाण्डवोंका पयोष्णी नदीके तटपर निवास

सात्यकिरुवाच

न राम कालः परिदेवनाय
यदुत्तरं त्वत्र तदेव सर्वे।
समाचरामो ह्यनतीतकालं
युधिष्ठिरो यद्यपि नाह किंचित् ॥ १ ॥

सात्यकिने कहा—बलरामजी ! यह समय बैठकर विलाप करनेका नहीं है। अब आगे जो कुछ करना है, उसीको हम सब लोग मिलकर करें। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर हमसे कुछ नहीं कहते हैं तो भी हमें अब व्यर्थ समय न बिताकर कौरवोंको उचित उत्तर देना चाहिये ॥१॥

ये नाथवन्तोऽद्य भवन्ति लोके
ते नात्मना कर्म समारभन्ते।
तेषां तु कार्येषु भवन्ति नाथाः
शिब्यादयो राम यथा ययातेः ॥ २ ॥

इस संसारमें जो लोग सनाथ हैं—जिनके बहुत-से सहायक हैं—वे स्वयं कोई कार्य आरम्भ नहीं करते हैं। उनके सभी कार्योंमें वे सहायक एवं सुहृद् ही सहयोगी होते हैं, जैसे ययातिके उद्धार-कार्यमें शिबि आदि उनके नातियोंने योगदान किया था॥ २॥

येषां तथा राम समारभन्ते
कार्याणि नाथाः स्वमतेन लोके।
ते नाथवन्तः पुरुषप्रवीरा
नानाथवत् कृच्छ्रमवाप्नुवन्ति॥ ३॥

बलरामजी! जगत्‌में जिनके कार्य उनके सहायक अपने ही विचारसे प्रारम्भ करते हैं, वे पुरुषश्रेष्ठ सनाथ माने जाते हैं। वे अनाथकी भाँति कभी कष्टमें नहीं पड़ते॥ ३॥

कस्मादिमौ रामजनार्दनौ च
प्रद्युम्नसाम्बौ च मया समेतौ।
वसन्त्यरण्ये सहसोदरीयै-
स्त्रैलोक्यनाथानभिगम्य पार्थाः॥ ४॥

आप दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्ण, मेरेसहित ये प्रद्युम्न और साम्ब सब-के-सब मौजूद हैं। इन त्रिभुवन-पतियोंसे मिलकर भी ये कुन्तीके पुत्र अभीतक अपने भाइयोंके साथ वनमें क्यों निवास करते हैं?॥ ४॥

निर्यातु साध्वद्य दशार्हसेना
प्रभूतनानायुधचित्रवर्मा।
यमक्षयं गच्छतु धार्तराष्ट्रः
सबान्धवो वृष्णिबलाभिभूतः॥ ५॥
त्वं ह्येव कोपात् पृथिवीमपीमां
संवेष्टयेस्तिष्ठतु शार्ङ्गधन्वा।
स धार्तराष्ट्रं जहि सानुबन्धं
वृत्रं यथा देवपतिर्महेन्द्रः॥ ६॥

उत्तम तो यह है कि आज ही यदुवंशियोंकी सेना नाना प्रकारके प्रचुर अस्त्र-शस्त्र और विचित्र कवच धारण करके युद्धके लिये प्रस्थान करे। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन वृष्णिवंशियों-के पराक्रमसे पराजित हो बन्धु-बान्धवोंसहित यमलोक चला जाय। बलरामजी! भगवान् श्रीकृष्ण अलग खड़े रहें, केवल आप ही चाहें तो इस समूची पृथ्वीको भी अपनी क्रोधाग्निकी लपटोंमें लपेट सकते हैं। जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार आप भी दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालिये॥ ५-६॥

भ्राता च मे यः स सखा गुरुश्च
जनार्दनस्यात्मसमश्च पार्थः।
यदर्थमैच्छन् मनुजाः सुपुत्रं
शिष्यं गुरुश्चाप्रतिकूलवादम्॥ ७॥

जो मेरे भाई, सखा और गुरु हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णके आत्मतुल्य सुहृद् हैं, वे कुन्तीकुमार अर्जुन भी अलग रहें। मनुष्य जिस उद्देश्यसे अच्छे पुत्रकी और गुरु प्रतिकूल न बोलनेवाले शिष्यकी कामना करते हैं, उसे सफल करनेका समय आ गया है॥ ७॥

यदर्थमभ्युद्यतमुत्तमं तत्
करोति कर्माग्र्यमपारणीयम्।
तस्यास्त्रवर्षाण्यहमुत्तमास्त्रै-
र्विहत्य सर्वाणि रणेऽभिभूय॥ ८॥

जिसके लिये सुयोग्य शिष्य या पुत्र उत्तम अस्त्र-शस्त्र उठाता है तथा युद्धमें श्रेष्ठ एवं अपार पराक्रम कर दिखाता है, उसकी पूर्तिका यही अवसर है। मैं संग्रामभूमिमें अपने उत्तम आयुधोंद्वारा शत्रुओंकी सारी अस्त्र-वर्षाको नष्ट करके उनके समस्त सैनिकोंको परास्त कर दूँगा॥ ८॥

कायाच्छिरः सर्पविषाग्निकल्पैः
शरोत्तमैरुन्मथितास्मि राम।
खड्गेन चाहं निशितेन संख्ये
कायाच्छिरस्तस्य बलात् प्रमथ्य॥ ९॥

बलरामजी! सर्प, विष एवं अग्निके समान भयंकर उत्तम बाणोंद्वारा शत्रुके सिरको धड़से अलग कर दूँगा; साथ ही उस समराङ्गणमें शत्रुमण्डलीको मैं बलपूर्वक रौंदकर तीखी तलवारद्वारा उसका मस्तक उड़ा दूँगा॥ ९॥

ततोऽस्य सर्वाननुगान् हनिष्ये
दुर्योधनं चापि कुरूंश्च सर्वान्।
आत्तायुधं मामिह रौहिणेय
पश्यन्तु भौमा युधि जातहर्षाः॥ १०॥

तदनन्तर उसके समस्त सेवकोंसहित दुर्योधन और समस्त कौरवोंको भी मार डालूँगा। रोहिणीनन्दन! युद्धमें भयानक पराक्रम दिखानेवाले योद्धा हर्ष और उत्साहमें भर-कर आज मुझे हाथमें अस्त्र लिये पूर्वोक्त पराक्रम करते हुए प्रत्यक्ष देखें॥ १०॥

निघ्नन्तमेकं कुरुयोधमुख्या-
नग्निं महाकक्षमिवान्तकाले।
प्रद्युम्नमुक्तान् निशितान् न शक्ताः
सोढुं कृपद्रोणविकर्णकर्णाः॥ ११॥

जैसे प्रलयकालीन अग्नि सूखे घासकी राशिको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार मैं अकेला ही कौरवदलके प्रधान वीरोंका संहार कर डालूँगा और ऐसा करते हुए सब लोग मुझे प्रत्यक्ष देखेंगे। प्रद्युम्नके छोड़े हुए तीखे बाणोंको सहन करनेकी शक्ति कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, विकर्ण और कर्ण-किसीमें नहीं है॥ ११॥

जानामि वीर्यं च जयात्मजस्य
कार्ष्णिर्भवत्येष यथा रणस्थः ।
साम्बःससूतं सरथं भुजाभ्यां
दुःशासनं शास्तु बलात् प्रमथ्य ॥ १२ ॥

मैं अर्जुनकुमार अभिमन्युके भी पराक्रमको जानता हूँ । वह समरभूमिमें खड़ा होनेपर साक्षात् श्रीकृष्णनन्दन प्रद्युम्नके ही समान जान पड़ता है । वीरवर साम्ब बलपूर्वक शत्रुसेनाको मथकर अपनी दोनों भुजाओंसे रथ और सारथिसहित दुःशासनका दमन करें ॥ १२ ॥

न विद्यते जाम्बवतीसुतस्य
रणे विषह्यं हि रणोत्कटस्य ।
एतेन बालेन हि शम्बरस्य
दैत्यस्य सैन्यं सहसा प्रणुन्नम् ॥ १३ ॥

जाम्बवतीनन्दन साम्ब रणभूमिमें बड़े प्रचण्ड पराक्रमशाली बन जाते हैं । उस समय इनके लिये कुछ भी असह्य नहीं है । इन्होंने बाल्यावस्थामें ही सहसा शम्बरासुरकी सेनाको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था ॥ १३ ॥

वृत्तोरुरत्यायतपीनबाहु-
रेतेन संख्ये निहतोऽश्वचक्रः ।
को नाम साम्बस्य महारथस्य
रणे समक्षं रथमभ्युदीयात् ॥ १४ ॥

इनकी जाँघें गोल हैं, भुजाएँ लंबी और मोटी हैं; इन्होंने युद्धमें अश्वारोहियोंकी कितनी ही सेनाओंका संहार किया है । भला, संग्रामभूमिमें महारथी साम्बके रथके सम्मुख कौन आ सकता है ? ॥ १४ ॥

यथा प्रविश्यान्तरमन्तकस्य
काले मनुष्यो न विनिष्क्रमेत ।
तथा प्रविश्यान्तरमस्य संख्ये
को नाम जीवन् पुनराव्रजेत ॥१५॥

जैसे अन्तकाल आनेपर यमराजकी भुजाओंमें पड़ा हुआ मनुष्य कदापि वहाँसे निकल नहीं सकता, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें वीरवर साम्बके वशमें आया हुआ कौन ऐसा योद्धा होगा, जो पुनः जीवित लौट सके ॥ १५ ॥

द्रोणं च भीष्मं च महारथौ तौ
सुतैर्वृतं चाप्यथ सोमदत्तम् ।
सर्वाणि सैन्यानि च वासुदेवः
प्रधक्ष्यते सायकवह्निजालैः ॥ १६ ॥

वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण चाहें तो अपने बाणरूपी अग्निकी लपटोंसे द्रोण और भीष्म—इन दोनों प्रसिद्ध महारथियोंको, पुत्रोंसहित सोमदत्तको तथा सारी कौरव-सेनाको भी भस्म कर डालेंगे ॥ १६ ॥

किं नाम लोकेष्वविषह्यमस्ति
कृष्णस्य सर्वेषु सदेवकेषु ।
आत्तायुधस्योत्तमबाणपाणे-
श्चक्रायुधस्याप्रतिमस्य युद्धे ॥ १७ ॥

देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो हाथोंमें हथियार, उत्तम बाण तथा चक्र धारण करके युद्धमें अनुपम पराक्रम प्रकट करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके लिये असह्य हो ॥ १७ ॥

ततोऽनिरुद्धोऽप्यसिचर्मपाणि-
र्महीमिमां धार्तराष्ट्रैर्विसंज्ञैः ।
हृतोत्तमाङ्गैर्निहतैः करोतु
कीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरेषु ॥ १८ ॥
गदोल्मुकौ बाहुकभानुनीथाः
शूरश्च संख्ये निशठः कुमारः ।
रणोत्कटौ सारणचारुदेष्णौ
कुलोचितं विप्रथयन्तु कर्म ॥ १९ ॥

ढाल-तलवार लिये हुए वीरवर अनिरुद्ध भी, जैसे यज्ञोंमें कुशाओंद्वारा यज्ञकी वेदी ढक दी जाती है, उसी प्रकार युद्धमें सिर कटाकर मरे और अचेत पड़े हुए धृतराष्ट्र-पुत्रोंद्वारा इस भूमिको ढक दें । गद, उल्मुक, बाहुक, भानु, नीथ, युद्धमें शूरवीर कुमार निशठ तथा रणभूमिमें प्रचण्ड पराक्रमी सारण और चारुदेष्ण—ये सब लोग अपने कुलके अनुरूप पराक्रम प्रकट करें ॥ १८-१९ ॥

सवृष्णिभोजान्धकयोधमुख्या
समागता सात्वतशूरसेना ।
हत्वा रणे तान् धृतराष्ट्रपुत्राँ-
ल्लोके यशः स्फीतमुपाकरोतु ॥ २० ॥

यदुवंशियोंकी शौर्यपूर्ण सेना, जिसमें वृष्णि, भोज और अन्धकवंशी योद्धाओंकी प्रधानता है, आक्रमण करके युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार डाले और संसारमें अपने उज्ज्वल यशका विस्तार करे ॥ २० ॥

ततोऽभिमन्युः पृथिवीं प्रशास्तु
यावद् व्रतं धर्मभृतां वरिष्ठः ।
युधिष्ठिरः पारयते महात्मा
द्यूते यथोक्तं कुरुसत्तमेन ॥ २१ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर जबतक अपने उस व्रतको, जिसे इन कुरुकुलभूषणने जूएके समय प्रतिज्ञापूर्वक स्वीकार किया था, पूर्ण न कर लें, तबतक अभिमन्यु इस पृथ्वीका शासन करे ॥ २१ ॥

अस्मत्प्रमुक्तैर्विशिखैर्जितारि-
स्ततो महीं भोक्ष्यति धर्मराजः ।
निर्धार्तराष्ट्रां हतसूतपुत्रा-
मेतद्धि नः कृत्यतमं यशस्यम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर अपना व्रत समाप्त करके हमारे द्वारा छोड़े हुए बाणोंसे ही शत्रुओंपर विजय पाकर धर्मराज युधिष्ठिर इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे । उस समयतक यह पृथ्वी धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे रहित हो जायगी और सूतपुत्र कर्ण भी मर जायगा । यदि ऐसा हुआ तो यह हमारे लिये महान् यशोवर्धक कार्य होगा ॥ २२ ॥

वासुदेव उवाच

असंशयं माधव सत्यमेतद्
गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व ।
स्वाभ्यां भुजाभ्यामजितां तु भूमिं
नेच्छेत् कुरूणामृषभः कथंचित् ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले--उदारहृदय मधुकुलभूषण सात्यके ! तुम्हारी यह बात सत्य है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । हम तुम्हारे इन वचनोंको स्वीकार करते हैं; परंतु ये कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर किसी भी ऐसी भूमिको किसी तरह लेना नहीं चाहेंगे, जिसे इन्होंने अपनी भुजाओंद्वारा न जीता हो ॥ २३ ॥

न ह्येष कामान्न भयान्न लोभाद्
युधिष्ठिरो जातु जह्यात् स्वधर्मम् ।
भीमार्जुनौ चातिरथौ यमौ च
तथैव कृष्णा द्रुपदात्मजेयम् ॥ २४ ॥

कामना, भय अथवा लोभ किसी भी कारणसे युधिष्ठिर अपना धर्म कदापि नहीं छोड़ सकते । उसी तरह अतिरथी वीर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा यह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकती ॥ २४ ॥

उभौ हि युद्धेऽप्रतिमौ पृथिव्यां
वृकोदरश्चैव धनंजयश्च ।
कस्मान्न कृत्स्नां पृथिवीं प्रशासे-
न्माद्रीसुताभ्यां च पुरस्कृतोऽयम् ॥ २५ ॥

भीमसेन और अर्जुन--ये दोनों वीर युद्धमें इस पृथ्वीपर अपना सानी नहीं रखते । इनसे और दोनों माद्रीकुमारोंसे संयुक्त होनेपर ये युधिष्ठिर सारी पृथ्वीका शासन कैसे नहीं कर सकते ? ॥ २५ ॥

यदा तु पञ्चालपतिर्महात्मा
सकेकयश्चेदिपतिर्वयं च ।
युध्येम विक्रम्य रणे समेता-
स्तदैव सर्वे रिपवो हि न स्युः ॥ २६ ॥

जब महात्मा पाञ्चालराज, केकय, चेदिराज और हम सब लोग एक साथ होकर रणमें पराक्रम दिखायेंगे, उसी समय हमारे सारे शत्रुओंका अस्तित्व मिट जायगा ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नेदं चित्रं माधव यद् ब्रवीषि
सत्यं तु मे रक्ष्यतमं न राज्यम् ।
कृष्णस्तु मां वेद यथावदेकः
कृष्णं च वेदाहमथो यथावत् ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने कहा--सात्यके ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह तुम्हारे-जैसे वीरके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; परंतु मेरे लिये सत्यकी रक्षा ही प्रधान है, राज्यकी प्राप्ति नहीं । केवल श्रीकृष्ण ही मुझे अच्छी तरह जानते हैं और मैं भी कृष्णके स्वरूपको यथार्थरूपसे जानता हूँ ॥ २७ ॥

यदैव कालं पुरुषप्रवीरो
वेत्स्यत्ययं माधव विक्रमस्य ।
तदा रणे त्वं च शिनिप्रवीर
सुयोधनं जेष्यसि केशवश्च ॥ २८ ॥

शिनिवंशके प्रधान वीर माधव ! ये पुरुषरत्न श्रीकृष्ण जभी पराक्रम दिखानेका अवसर आया समझेंगे, तभी तुम और भगवान् केशव मिलकर युद्धमें दुर्योधनको जीत सकोगे ॥ २८ ॥

प्रतिप्रयान्त्वद्य दशार्हवीरा
दृष्टोऽस्मि नाथैर्नरलोकनाथैः ।
धर्मेऽप्रमादं कुरुताप्रमेया
द्रष्टास्मि भूयः सुखिनः समेतान् ॥ २९ ॥

अब ये यदुवंशी वीर द्वारकाको लौट जायँ । आपलोग मेरे नाथ या सहायक तो हैं ही, सम्पूर्ण मनुष्य-लोकके भी रक्षक हैं; आपलोगोंसे मिलना हो गया, यह बड़े आनन्दकी बात है । अनुपम शक्तिशाली वीरो ! आपलोग धर्मपालनकी ओरसे सदा सावधानी रखें । मैं पुनः आप सभी सुखी मित्रोंको एकत्र हुआ देखूँगा ॥ २९ ॥

तेऽन्योन्यमामन्त्र्य तथाभिवाद्य
वृद्धान् परिष्वज्य शिशूंश्च सर्वान् ।
यदुप्रवीराः स्वगृहाणि जग्मु-
स्ते चापि तीर्थान्यनुसंविचेरुः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् वे यादव-पाण्डव वीर एक दूसरेकी अनुमति ले, वृद्धोंको प्रणाम करके, बालकोंको हृदयसे लगाकर तथा अन्य सबसे यथायोग्य मिलकर अपने अभीष्ट स्थानको चल दिये । यादववीर अपने घर गये और पाण्डवलोग पूर्ववत् तीर्थोंमें विचरने लगे ॥ ३० ॥

विसृज्य कृष्णं त्वथ धर्मराजो
विदर्भराजोपचितां सुतीर्थाम् ।
जगाम पुण्यां सरितं पयोष्णीं
सभ्रातृभृत्यः सह लोमशेन ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णको विदा करके धर्मराज युधिष्ठिर लोमशजी, भाइयों और सेवकोंके साथ विदर्भनरेशद्वारा पूजित, उत्तम तीर्थोंवाली पुण्य नदी पयोष्णीके तटपर गये ॥ ३१ ॥

सुतेन सोमेन विमिश्रतोयां
पयः पयोष्णीं प्रति सोऽध्युवास।
द्विजातिमुख्यैर्मुदितैर्महात्मा
संस्तूयमानः स्तुतिभिर्वराभिः ॥ ३२ ॥

उसके जलमें यज्ञसम्बन्धी सोमरस मिला हुआ था। पयोष्णीके तटपर जा उन्होंने उसका जल पीकर वहाँ निवास किया। उस समय प्रसन्नतासे भरे हुए श्रेष्ठ द्विज उत्तम स्तुतियोंद्वारा उन महात्मा नरेशकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यादवगमने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राप्रसङ्गमें यादवगमनविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा गयके यज्ञकी प्रशंसा, पयोष्णी, वैदूर्य पर्वत और नर्मदाके माहात्म्य तथा च्यवन-सुकन्याके चरित्रका आरम्भ

लोमश उवाच

नृगेण यजमानेन सोमेनेह पुरंदरः।
तर्पितः श्रूयते राजन् स तृप्तो मुदमभ्यगात् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सुना जाता है कि इस पयोष्णी नदीके तटपर राजा नृगने यज्ञ करके सोमरसके द्वारा देवराज इन्द्रको तृप्त किया था। उस समय इन्द्र पूर्णतः तृप्त होकर आनन्दमग्न हो गये थे ॥ १ ॥

इह देवैः सहेन्द्रैश्च प्रजापतिभिरेव च।
इष्टं बहुविधैर्यज्ञैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २ ॥

यहीं इन्द्रसहित देवताओंने और प्रजापतियोंने भी प्रचुर दक्षिणासे युक्त अनेक प्रकारके बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया है ॥ २ ॥

आमूर्तरयसश्चेह राजा वज्रधरं प्रभुम्।
तर्पयामास सोमेन हयमेधेषु सप्तसु ॥ ३ ॥

अमूर्तरयाके पुत्र राजा गयने भी यहाँ सात अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके उनमें सोमरसके द्वारा वज्रधारी इन्द्रको संतुष्ट किया था ॥ ३ ॥

तस्य सप्तसु यज्ञेषु सर्वमासीद्धिरण्मयम्।
वानस्पत्यं च भौमं च यद् द्रव्यं नियतं मखे ॥ ४ ॥

यज्ञमें जो वस्तुएँ नियमित रूपसे काष्ठ और मिट्टीकी बनी हुई होती हैं, ये सब-की सब राजा गयके उक्त सातों यज्ञोंमें सुवर्णसे बनायी गयी थीं ॥ ४ ॥

चषालयूपचमसाः स्थाल्यः पात्र्यः स्रुचः स्रुवाः।
तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः ॥ ५ ॥

प्रायः यज्ञोंमें चषाल[1], यूप[2], चमस[3], स्थाली[4], पात्री[5], स्रुक्[6] और स्रुवा[7]—ये सात साधन उपयोगमें लाये जाते हैं। राजा गयके पूर्वोक्त सातों यज्ञोंमें ये सभी उपकरण सुवर्णके ही थे, ऐसा सुना जाता है ॥ ५ ॥

सप्तैकैकस्य यूपस्य चषालाश्चोपरि स्थिताः।
तस्य स्म यूपान् यज्ञेषु भ्राजमानान् हिरण्मयान् ॥ ६ ॥
स्वयमुत्थापयामासुर्देवाः सेन्द्रा युधिष्ठिर।
तेषु तस्य मखाग्र्येषु गयस्य पृथिवीपतेः ॥ ७ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
प्रसंख्यानानसंख्येयान् प्रत्यगृह्णन् द्विजातयः ॥ ८ ॥

सात यूपोंमेंसे प्रत्येकके ऊपर सात-सात चषाल थे। युधिष्ठिर! उन यज्ञोंमें जो चमकते हुए सुवर्णमय यूप थे, उन्हें इन्द्र आदि देवताओंने स्वयं खड़ा किया था। राजा गयके उन उत्तम यज्ञोंमें इन्द्र सोमपान करके और ब्राह्मण बहुत-सी दक्षिणा पाकर हर्षोन्मत्त हो गये थे। ब्राह्मणोंने दक्षिणामें जो बहुसंख्यक धनराशि प्राप्त की थी, उसकी गणना नहीं की जा सकती थी ॥ ६–८ ॥

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ॥ ९ ॥
तथैव तदसंख्येयं धनं यत् प्रददौ गयः।
सदस्येभ्यो महाराज तेषु यज्ञेषु सप्तसु ॥ १० ॥

महाराज! राजा गयने सातों यज्ञोंमें सदस्योंको, जो असंख्य धन प्रदान किया था, उसकी गणना उसी प्रकार

१. यूपके ऊपरका गोलाकार काष्ठ। २. यूप—यज्ञ-स्तम्भ। ३. चमस—सोमपानका पात्र। ४. बटलोई। ५. पकी-पकायी रखनेका सामग्री-पात्र। ६. हविष्य अर्पण करनेका उपकरण। ७. घृत आदिकी आहुति डालनेका साधन।

नहीं हो सकती थी; जैसे इस जगत्‌में कोई बालूके कणों, आकाशके तारों और वर्षाकी धाराओंको नहीं गिन सकता ॥ ९-१० ॥

भवेत् संख्येयमेतद्धि यदेतत् परिकीर्तितम्।
न तस्य शक्याः संख्यातुं दक्षिणा दक्षिणावतः॥ ११ ॥

उपर्युक्त बालूके कण आदि कदाचित् गिने भी जा सकते हैं; परंतु दक्षिणा देनेवाले राजा गयकी दक्षिणाकी गणना करना सम्भव नहीं है ॥ ११ ॥

हिरण्मयीभिर्गोभिश्च कृताभिर्विश्वकर्मणा।
ब्राह्मणांस्तर्पयामास नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ १२ ॥
अल्पावशेषा पृथिवी चैत्यैरासीन्महात्मनः।
गयस्य यजमानस्य तत्र तत्र विशाम्पते ॥ १३ ॥

उन्होंने विश्वकर्माकी बनायी हुई सुवर्णमयी गौएँ देकर विभिन्न दिशाओंसे आये हुए ब्राह्मणोंको संतुष्ट किया था। युधिष्ठिर ! भिन्न-भिन्न स्थानोंमें यज्ञ करनेवाले महामना राजा गयके राज्यकी थोड़ी ही भूमि ऐसी बच गयी थी, जहाँ यज्ञके मण्डप न हों ॥ १२-१३ ॥

स लोकान् प्राप्तवानैन्द्रान् कर्मणा तेन भारत।
सलोकतां तस्य गच्छेत् पयोष्ण्यां य उपस्पृशेत्॥ १४ ॥

भारत ! उस यज्ञ-कर्मके प्रभावसे गयने इन्द्रादि लोकोंको प्राप्त किया। जो इस पयोष्णी नदीमें स्नान करता है, वह भी राजा गयके समान पुण्यलोकका भागी होता है ॥ १४ ॥

तस्मात् त्वमत्र राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितोऽच्युत।
उपस्पृश्य महीपाल धूतपाप्मा भविष्यसि ॥ १५ ॥

अतः राजेन्द्र ! तुम भाइयोंसहित इसमें स्नान करके सब पापोंसे मुक्त हो जाओगे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स पयोष्ण्यां नरश्रेष्ठः स्नात्वा वै भ्रातृभिः सह।
वैदूर्यपर्वतं चैव नर्मदां च महानदीम् ॥ १६ ॥
(उद्दिश्य पाण्डवश्रेष्ठः स प्रतस्थे महीपतिः।)
समागमत तेजस्वी भ्रातृभिः सहितोऽनघ।
तत्रास्य सर्वाण्याचख्यौ लोमशो भगवानृषिः ॥ १७ ॥
तीर्थानि रमणीयानि पुण्यान्यायतनानि च।
यथायोगं यथाप्रीति प्रययौ भ्रातृभिः सह।
तत्र तत्राददाद् वित्तं ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—निष्पाप जनमेजय ! पाण्डवप्रवर नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर भाइयोंसहित पयोष्णी-नदीमें स्नान करके वैदूर्यपर्वत और महानदी नर्मदाके तटपर जानेका उद्देश्य लेकर वहाँसे चल दिये और वे तेजस्वी नरेश सब भाइयोंको साथ लिये यथासमय अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच गये। वहाँ भगवान् लोमश मुनिने उनसे समस्त रमणीय तीर्थों और पवित्र देवस्थानोंका परिचय कराया। तत्पश्चात् राजाने अपनी सुविधा और प्रसन्नताके अनुसार सहस्रों ब्राह्मणोंको धनका दान किया और भाइयों-सहित उन सब स्थानोंकी यात्रा की ॥ १६-१८ ॥

लोमश उवाच

देवानामेति कौन्तेय तथा राज्ञां सलोकताम्।
वैदूर्यपर्वतं दृष्ट्वा नर्मदामवतीर्य च ॥ १९ ॥

लोमशजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! वैदूर्यपर्वतका दर्शन करके नर्मदामें उतरनेसे मनुष्य देवताओं तथा पुण्यात्मा राजाओंके समान पवित्र लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ १९ ॥

संधिरेष नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च।
एनमासाद्य कौन्तेय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २० ॥

नरश्रेष्ठ ! यह वैदूर्यपर्वत त्रेता और द्वापरकी सन्धिमें प्रकट हुआ है, इसके निकट जाकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

एष शर्यातियज्ञस्य देशस्तात प्रकाशते।
साक्षाद् यत्रापिवत् सोममश्विभ्यां सह कौशिकः॥ २१॥

तात ! यह राजा शर्यातिके यज्ञका स्थान प्रकाशित हो रहा है, जहाँ साक्षात् इन्द्रने अश्विनीकुमारोंके साथ बैठकर सोम-पान किया था ॥ २१ ॥

चुकोप भार्गवश्चापि महेन्द्रस्य महातपाः।
संस्तम्भयामास च तं वासवं च्यवनः प्रभुः।
सुकन्यां चापि भार्यां स राजपुत्रीमवाप्तवान् ॥ २२ ॥
(नासत्यौ च महाभाग कृतवान् सोमपीथिनौ।)

महाभाग ! यहीं महातपस्वी भृगुनन्दन भगवान् च्यवन देवराज इन्द्रपर कुपित हुए थे और यहीं उन्होंने इन्द्रको स्तम्भित भी कर दिया था। इतना ही नहीं, मुनिवर च्यवन-ने यहीं अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें सोमपानका अधिकारी बनाया था। और इसी स्थानपर राजकुमारी सुकन्या उन्हें पत्नी-रूपमें प्राप्त हुई थी ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं विष्टम्भितस्तेन भगवान् पाकशासनः।
किमर्थं भार्गवश्चापि कोपं चक्रे महातपाः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुने ! महातपस्वी भृगुपुत्र महर्षि च्यवनने भगवान् इन्द्रका स्तम्भन कैसे किया ? उन्हें इन्द्रपर क्रोध किस लिये हुआ ? ॥ २३ ॥

नासत्यौ च कथं ब्रह्मन् कृतवान् सोमपीथिनौ।
एतत् सर्वं यथावृत्तमाख्यातु भगवान् मम ॥ २४ ॥

तथा ब्रह्मन्! उन्होंने अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें सोमपान-का अधिकारी किस प्रकार बनाया? ये सब बातें आप यथार्थ-रूपसे मुझे बतावें ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

महर्षि च्यवनको सुकन्याकी प्राप्ति

लोमश उवाच

भृगोर्महर्षेः पुत्रोऽभूच्च्यवनो नाम भारत।
समीपे सरसस्तस्य तपस्तेपे महाद्युतिः ॥ १ ॥
स्थाणुभूतो महातेजा वीरस्थानेन पाण्डव।
अतिष्ठत चिरं कालमेकदेशे विशाम्पते ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! महर्षि भृगुके पुत्र च्यवन मुनि हुए, जो महान् तेजस्वी थे। उन्होंने उस सरोवरके समीप तपस्या आरम्भ की। पाण्डुनन्दन! परम तेजस्वी महात्मा च्यवन वीरासनसे बैठकर ठूँठे काठके समान जान पड़ते थे। राजन्! वे एक ही स्थानपर दीर्घकालतक अविचल भावसे बैठे रहे ॥ १-२ ॥

स वल्मीकोऽभवदृषिर्लताभिरिव संवृतः।
कालेन महता राजन् समाकीर्णः पिपीलिकैः ॥ ३ ॥

धीरे-धीरे अधिक समय बीतनेपर उनका शरीर चींटियोंसे व्याप्त हो गया। वे महर्षि लताओंसे आच्छादित हो गये और बाँबीके समान प्रतीत होने लगे ॥ ३ ॥

तथा स संवृतो धीमान् मृत्पिण्ड इव सर्वशः।
तप्यते स तपो घोरं वल्मीकेन समावृतः ॥ ४ ॥

इस प्रकार लता-बेलोंसे आच्छादित हो बुद्धिमान् च्यवन मुनि सब ओरसे केवल मिट्टीके लौंदेके समान जान पड़ने लगे। दीमकोंद्वारा जमा की हुई मिट्टीके ढेरसे ढके हुए वे बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे ॥ ४ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य शर्यातिर्नाम पार्थिवः।
आजगाम सरो रम्यं विहर्तुमिदमुत्तमम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार दीर्घ काल व्यतीत होनेपर राजा शर्याति इस उत्तम एवं रमणीय सरोवरके तटपर विहारके लिये आये ॥ ५ ॥

तस्य स्त्रीणां सहस्राणि चत्वार्यासन् परिग्रहे।
एकैव च सुता सुभ्रूः सुकन्या नाम भारत ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर! उनके अन्तःपुरमें चार हजार स्त्रियाँ थीं; परंतु संतानके नामपर केवल एक ही सुन्दरी पुत्री थी, जिसका नाम सुकन्या था ॥ ६ ॥

सा सखीभिः परिवृता दिव्याभरणभूषिता।
चंक्रम्यमाणा वल्मीकं भार्गवस्य समासदत् ॥ ७ ॥

वह कन्या दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सखियोंसे घिरी हुई वनमें इधर-उधर घूमने लगी। घूमती-घामती वह भृगुनन्दन च्यवनकी बाँबीके पास जा पहुँची ॥ ७ ॥

सा वै वसुमतीं तत्र पश्यन्ती सुमनोरमाम्।
वनस्पतीन् विचिन्वन्ती विजहार सखीवृता ॥ ८ ॥

वहाँकी भूमि उसे बड़ी मनोहर दिखायी दी। वह सखियोंके साथ वृक्षोंके फल-फूल तोड़ती हुई चारों ओर घूमने लगी ॥ ८ ॥

रूपेण वयसा चैव मदनेन मदेन च।
बभञ्ज वनवृक्षाणां शाखाः परमपुष्पिताः ॥ ९ ॥
तां सखीरहितामेकामेकवस्त्रामलंकृताम्।
ददर्श भार्गवो धीमांश्चरन्तीमिव विद्युतम् ॥ १० ॥

सुन्दर रूप, नयी अवस्था, काम-भावके उदय और यौवन-के मदसे प्रेरित हो सुकन्याने उत्तम फूलोंसे भरी हुई वन-वृक्षोंकी बहुत-सी शाखाएँ तोड़ लीं। वह सखियोंका साथ छोड़कर अकेली टहलने लगी। उस समय उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था और वह भाँति-भाँतिके अलङ्कारोंसे अलङ्कृत थी। बुद्धिमान् च्यवन मुनिने उसे देखा। वह चमकती हुई विद्युत्‌के समान चारों ओर विचर रही थी ॥ ९-१० ॥

तां पश्यमानो विजने स रेमे परमद्युतिः।
क्षामकण्ठश्च विप्रर्षिस्तपोबलसमन्वितः ॥ ११ ॥

उसे एकान्तमें देखकर परम कान्तिमान्, तपोबलसम्पन्न एवं दुर्बल कण्ठवाले ब्रह्मर्षि च्यवनको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ११ ॥

तामाबभाषे कल्याणीं सा चास्य न शृणोति वै।
ततः सुकन्या वल्मीके दृष्ट्वा भार्गवचक्षुषी ॥ १२ ॥
कौतूहलात् कण्टकेन बुद्धिमोहबलात्कृता।
किं नु खल्विदमित्युक्त्वा निर्बिभेदास्य लोचने ॥ १३ ॥
अक्रुध्यत् स तया विद्धे नेत्रे परममन्युमान्।
ततः शर्यातिसैन्यस्य शकृन्मूत्रे समावृणोत् ॥ १४ ॥

ततो रुद्धे शकृन्मूत्रे सैन्यमानाहदुःखितम् ।
तथागतमभिप्रेक्ष्य पर्यपृच्छत् स पार्थिवः ॥ १५ ॥
तपोनित्यस्य वृद्धस्य रोषणस्य विशेषतः ।
केनापकृतमद्येह भार्गवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥
ज्ञातं वा यदि वाज्ञातं तद् द्रुतं ब्रूत मा चिरम् ।
तमूचुः सैनिकाः सर्वे न विद्मोऽपकृतं वयम् ॥ १७ ॥

उन्होंने उस कल्याणमयी राजकन्याको पुकारा; परंतु वह (ब्रह्मर्षिका कण्ठ दुर्बल होनेके कारण) उनकी आवाज नहीं सुनती थी । उस बाँबीमें मुनिवर च्यवनकी चमकती हुई आँखोंको देखकर उसे बहुत कौतूहल हुआ । उसकी बुद्धिपर मोह छा गया और उसने विवश होकर यह कहती हुई कि 'देखूँ यह क्या है ?' एक काँटेसे उन्हें छेद दिया ।



उसके द्वारा आँखें बिंध जानेके कारण परम क्रोधी ब्रह्मर्षि च्यवन अत्यन्त कुपित हो उठे । फिर तो उन्होंने शर्यातिकी सेनाके मल-मूत्र बंद कर दिये । मल-मूत्रका द्वार बंद हो जानेसे मलावरोधके कारण सारी सेनाको बहुत दुःख होने लगा । सैनिकोंकी ऐसी अवस्था देखकर राजाने सबसे पूछा—'यहाँ नित्य-निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहनेवाले वयोवृद्ध महामना च्यवन रहते हैं । वे स्वभावतः बड़े क्रोधी हैं । उनका जानकर या बिना जाने आज किसने अपकार किया है ? जिन लोगोंने भी ब्रह्मर्षिका अपराध किया हो, वे तुरंत सब कुछ बता दें, विलम्ब न करें ।'

तब सम्पूर्ण सैनिकोंने उनसे कहा—'महाराज ! हम नहीं जानते कि किसके द्वारा उनका अपराध हुआ है ॥ १५–१७ ॥

सर्वोपायैर्यथाकामं भवांस्तदधिगच्छतु ।
ततः स पृथिवीपालः साम्ना चोग्रेण च स्वयम् ॥ १८ ॥
पर्यपृच्छत् सुहृद्वर्गं पर्यजानन्न चैव ते ।
आनाहार्तं ततो दृष्ट्वा तत्सैन्यमसुखार्दितम् ॥ १९ ॥
पितरं दुःखितं दृष्ट्वा सुकन्येदमथाब्रवीत् ।
मयाटन्त्येह वल्मीके दृष्टं सत्त्वमभिज्वलत् ॥ २० ॥
खद्योतवदभिज्ञातं तन्मया विद्धमन्तिकात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वल्मीकं शर्यातिस्तूर्णमभ्ययात् ॥ २१ ॥
तत्रापश्यत् तपोवृद्धं वयोवृद्धं च भार्गवम् ।
अयाचदथ सैन्यार्थं प्राञ्जलिः पृथिवीपतिः ॥ २२ ॥

'आप अपनी रुचिके अनुसार सभी उपायोंद्वारा इसका पता लगावें ।' तब राजा शर्यातिने साम और उग्रनीतिके द्वारा सभी सुहृदोंसे पूछा; परंतु वे भी इसका पता न लगा सके । तदनन्तर सुकन्याने सारी सेनाको मलावरोधके कारण दुःखसे पीड़ित और पिताको भी चिन्तित देख इस प्रकार कहा—'तात ! मैंने इस वनमें घूमते समय एक बाँबीके भीतर कोई चमकीली वस्तु देखी, जो जुगनूके समान जान पड़ती थी । उसके निकट जाकर मैंने उसे काँटेसे बींध दिया ।' यह सुनकर शर्याति तुरंत ही बाँबीके पास गये । वहाँ उन्होंने तपस्यामें बढ़े-चढ़े वयोवृद्ध महात्मा च्यवनको देखा और हाथ जोड़कर अपने सैनिकोंका कष्ट निवारण करनेके लिये याचना की—॥ १८–२२ ॥

अज्ञानाद् बालया यत् ते कृतं तत् क्षन्तुमर्हसि ।
ततोऽब्रवीन्महीपालं च्यवनो भार्गवस्तदा ॥ २३ ॥
अपमानादहं विद्धो ह्यनया दर्पपूर्णया ।
रूपौदार्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम् ॥ २४ ॥
तामेव प्रतिगृह्याहं राजन् दुहितरं तव ।
क्षंस्यामीति महीपाल सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २५ ॥

'भगवन् ! मेरी बालिकाने अज्ञानवश जो आपका अपराध किया है, उसे आप कृपापूर्वक क्षमा करें ।' उनके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन च्यवनने राजासे कहा—'राजन् ! तुम्हारी इस पुत्रीने अहंकारवश अपमानपूर्वक मेरी आँखें फोड़ी हैं, अतः रूप और उदारता आदि गुणोंसे युक्त तथा लोभ और मोहके वशीभूत हुई तुम्हारी इस कन्याको पत्नी-रूपमें प्राप्त करके ही मैं इसका अपराध क्षमा कर सकता हूँ । भूपाल ! यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ' ॥ २३–२५ ॥

लोमश उवाच

ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन् ।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने ॥ २६ ॥

लोमशजी कहते हैं—च्यवन ऋषिका यह वचन सुनकर राजा शर्यातिने बिना कुछ विचार किये ही महात्मा च्यवनको अपनी पुत्री दे दी ॥ २६ ॥

प्रतिगृह्य च तां कन्यां भगवान् प्रससाद ह ।
प्राप्तप्रसादो राजा वै ससैन्यः पुरमाव्रजत् ॥ २७ ॥

उस राजकन्याको पाकर भगवान् च्यवन मुनि प्रसन्न हो गये । तत्पश्चात् उनका कृपाप्रसाद प्राप्त करके राजा शर्याति सेनासहित सकुशल अपनी राजधानीको लौट आये ॥ २७ ॥

सुकन्यापि पतिं लब्ध्वा तपस्विनमनिन्दिता ।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या तपसा नियमेन च ॥ २८ ॥

सुकन्या भी तपस्वी च्यवनको पतिरूपमें पाकर प्रतिदिन प्रेमपूर्वक तप और नियमका पालन करती हुई उनकी परिचर्या करने लगी ॥ २८ ॥

अग्नीनामतिथीनां च शुश्रूषुरनसूयिका ।
समाराधयत क्षिप्रं च्यवनं सा शुभानना ॥ २९ ॥

सुमुखी सुकन्या किसीके गुणोंमें दोष नहीं देखती थी । वह त्रिविध अग्नियों और अतिथियोंकी सेवामें तत्पर हो शीघ्र ही महर्षि च्यवनकी आराधनामें लग गयी ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्विनीकुमारोंकी कृपासे महर्षि च्यवनको सुन्दर रूप और युवावस्थाकी प्राप्ति

लोमश उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य त्रिदशावश्विनौ नृप ।
कृताभिषेकां विवृतां सुकन्यां तामपश्यताम् ॥ १ ॥
तां दृष्ट्वा दर्शनीयाङ्गीं देवराजसुतामिव ।
ऊचतुः समभिद्रुत्य नासत्यावश्विनाविदम् ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर कुछ कालके बाद जब एक समय सुकन्या स्नान कर चुकी थी, उस समय उसके सब अङ्ग ढके हुए नहीं थे । इसी अवस्थामें दोनों अश्विनीकुमार देवताओंने उसे देखा । साक्षात् देवराज इन्द्रकी पुत्रीके समान दर्शनीय अङ्गोंवाली उस राजकन्याको देखकर नासत्यसंज्ञक अश्विनीकुमारोंने उसके पास जा यह बात कही—॥ १-२ ॥

कस्य त्वमसि वामोरु वनेऽस्मिन् किं करोषि च ।
इच्छाव भद्रे ज्ञातुं त्वां तत्त्वमाख्याहि शोभने ॥ ३ ॥

'वामोरु ! तुम किसकी पुत्री और किसकी पत्नी हो ? इस वनमें क्या करती हो ! भद्रे ! हम तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहते हैं । शोभने ! तुम सब बातें ठीक-ठीक बताओ' ॥ ३ ॥

ततः सुकन्या सव्रीडा तावुवाच सुरोत्तमौ ।
शर्यातितनयां वित्तं भार्यां मां च्यवनस्य च ॥ ४ ॥

तब सुकन्याने लज्जित होकर उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंसे कहा—'देवेश्वरो ! आपको विदित होना चाहिये कि मैं राजा शर्यातिकी पुत्री और महर्षि च्यवनकी पत्नी हूँ ॥ ४ ॥

(नाम्ना चाहं सुकन्यास्मि नृलोकेऽस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
साहं सर्वात्मना नित्यं पतिं प्रति सुनिष्ठिता ॥)

'मेरा नाम इस जगत्‌में सुकन्या प्रसिद्ध है । मैं सम्पूर्ण हृदयसे सदा अपने पतिदेवके प्रति निष्ठा रखती हूँ ।' यह सुनकर अश्विनीकुमारोंने पुनः हँसते हुए कहा—

अथाश्विनौ प्रहस्यैतामब्रूतां पुनरेव तु ।
कथं त्वमसि कल्याणि पित्रा दत्ता गताध्वने ॥ ५ ॥
भ्राजसेऽस्मिन् वने भीरु विद्युत्सौदामनी यथा ।
न देवेष्वपि तुल्यां हि त्वया पश्याव भामिनि ॥ ६ ॥

'कल्याणि ! तुम्हारे पिताने इस अत्यन्त बूढ़े पुरुषके साथ तुम्हारा विवाह कैसे कर दिया ? भीरु ! इस वनमें तुम विद्युत्‌की भाँति प्रकाशित हो रही हो । भामिनि ! देवताओंके यहाँ भी तुम-जैसी सुन्दरीको हम नहीं देख पाते हैं ॥ ५-६ ॥

अनाभरणसम्पन्ना परमाम्बरवर्जिता ।
शोभयस्यधिकं भद्रे वनमप्यनलंकृता ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तुम्हारे अङ्गोंपर आभूषण नहीं है । तुम उत्तम वस्त्रोंसे भी वञ्चित हो और तुमने कोई शृङ्गार भी नहीं धारण किया है तो भी इस वनकी अधिकाधिक शोभा बढ़ा रही हो ॥ ७ ॥

सर्वाभरणसम्पन्ना परमाम्बरधारिणी ।
शोभसे त्वनवद्याङ्गि न त्वेवं मलपङ्किनी ॥ ८ ॥

'निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी ! यदि तुम समस्त भूषणोंसे भूषित हो जाओ और अच्छे-अच्छे वस्त्र पहन लो, तो उस समय तुम्हारी जो शोभा होगी, वैसी इस मल और पङ्कसे युक्त मलिन वेशमें नहीं हो रही है ॥ ८ ॥

कस्मादेवंविधा भूत्वा जराजर्जरितं पतिम् ।
त्वमुपास्से ह कल्याणि कामभोगबहिष्कृतम् ॥ ९ ॥

'कल्याणि ! तुम ऐसी अनुपम सुन्दरी होकर काम-भोगसे शून्य इस जरा-जर्जर बूढ़े पतिकी उपासना कैसे करती हो?॥ ९॥

असमर्थं परित्राणे पोषणे तु शुचिस्मिते।
सा त्वं च्यवनमुत्सृज्य वरयस्वैकमावयोः ॥ १० ॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि ! वह बूढ़ा तो तुम्हारी रक्षा और पालन-पोषणमें भी समर्थ नहीं है। अतः तुम च्यवनको छोड़कर हम दोनोंमेंसे किसी एकको अपना पति चुन लो ॥१०॥

पत्यर्थं देवगर्भाभे मा वृथा यौवनं कृथाः।
एवमुक्ता सुकन्यापि सुरौताविदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

'देवकन्याके समान सुन्दरी राजकुमारी ! बूढ़े पतिके लिये अपनी इस जवानीको व्यर्थ न गँवाओ।'

उनके ऐसा कहनेपर सुकन्याने उन दोनों देवताओंसे कहा—॥ ११ ॥

रताहं च्यवने पत्यौ मैवं मां पर्यशङ्कतम्।
तावब्रूतां पुनस्त्वेनामावां देवभिषग्वरौ ॥ १२ ॥
युवानं रूपसम्पन्नं करिष्यावः पतिं तव।
ततस्तस्यावयोश्चैव वृणीष्वान्यतमं पतिम् ॥ १३ ॥
एतेन समयेनैनमामन्त्रय पतिं शुभे।

'देवेश्वरो ! मैं अपने पतिदेव च्यवनमुनिमें ही पूर्ण अनुराग रखती हूँ, अतः आप मेरे विषयमें इस प्रकारकी अनुचित आशङ्का न करें।' तब उन दोनोंने पुनः सुकन्यासे कहा— 'शुभे ! हम देवताओंके श्रेष्ठ वैद्य हैं। तुम्हारे पतिको तरुण और मनोहर रूपसे सम्पन्न बना देंगे। तब तुम हम तीनोंमेंसे किसी एकको अपना पति बना लेना। इस शर्तके साथ तुम चाहो तो अपने पतिको यहाँ बुला लो' ॥ १२-१३½ ॥

सा तयोर्वचनाद् राजन्नुपसंगम्य भार्गवम् ॥ १४ ॥
उवाच वाक्यं यत् ताभ्यामुक्तं भृगुसुतं प्रति।
तच्छ्रुत्वा च्यवनो भार्यामुवाच क्रियतामिति ॥ १५ ॥

राजन् ! उन दोनोंकी यह बात सुनकर सुकन्या च्यवन मुनिके पास गयी और अश्विनीकुमारोंने जो कुछ कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया। यह सुनकर च्यवनने अपनी पत्नीसे कहा—'प्रिये ! देववैद्योंने जैसा कहा है, वैसा करो' ॥ १४-१५ ॥

(सा भर्त्रा समनुज्ञाता क्रियतामिति चाब्रवीत्।
श्रुत्वा तदश्विनौ वाक्यं तस्यास्तत् क्रियतामिति ॥)
ऊचतू राजपुत्रीं तां पतिस्तव विशत्वपः।
ततोऽम्भश्च्यवनः शीघ्रं रूपार्थी प्रविवेश ह ॥ १६ ॥

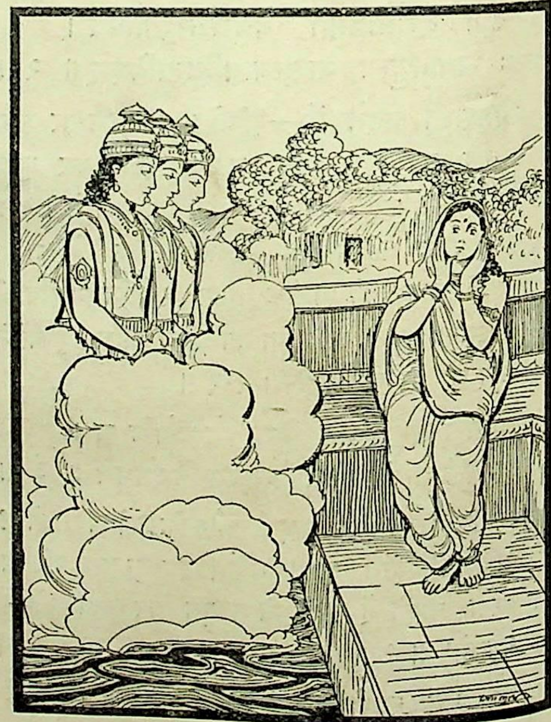
पतिकी यह आज्ञा पाकर सुकन्याने अश्विनीकुमारोंसे कहा—'आप मेरे पतिको रूप और यौवनसे सम्पन्न बना दें।' उसका यह कथन सुनकर अश्विनीकुमारोंने राजकुमारी सुकन्यासे कहा—'तुम्हारे पतिदेव इस जलमें प्रवेश करें।' तब च्यवन मुनिने सुन्दर रूपकी अभिलाषा लेकर शीघ्रतापूर्वक उस सरोवरके जलमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

अश्विनावपि तद् राजन् सरः प्राविशतां तदा।
ततो मुहूर्तादुत्तीर्णाः सर्वे ते सरसस्तदा ॥ १७ ॥
दिव्यरूपधराः सर्वे युवानो मृष्टकुण्डलाः।
तुल्यवेषधराश्चैव मनसः प्रीतिवर्धनाः ॥ १८ ॥

राजन् ! उनके साथ ही दोनों अश्विनीकुमार भी उस सरोवरमें प्रवेश कर गये। तदनन्तर दो घड़ीके पश्चात् वे सब-के-सब दिव्य रूप धारण करके सरोवरसे बाहर निकले। उन सबकी युवावस्था थी। उन्होंने कानोंमें चमकीले कुण्डल धारण कर रक्खे थे। वेष-भूषा भी उनकी एक-सी ही थी और वे सभी मनकी प्रीति बढ़ानेवाले थे ॥ १७-१८ ॥

तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे वृणीष्वान्यतमं शुभे।
अस्माकमीप्सितं भद्रे पतित्वे वरवर्णिनि ॥ १९ ॥

सरोवरसे बाहर आकर उन सबने एक साथ कहा—'शुभे ! भद्रे ! वरवर्णिनि ! हममेंसे किसी एकको, जो तुम्हारी रुचिके अनुकूल हो, अपना पति बना लो ॥ १९ ॥



यत्र वाप्यभिकामासि तं वृणीष्व सुशोभने।
सा समीक्ष्य तु तान् सर्वांस्तुल्यरूपधरान् स्थितान् ॥ २० ॥
निश्चित्य मनसा बुद्ध्या देवी वव्रे स्वकं पतिम्।
लब्ध्वा तु च्यवनो भार्यां वयो रूपं च वाञ्छितम् ॥ २१ ॥
हृष्टोऽब्रवीन्महातेजास्तौ नासत्याविदं वचः।
यथाहं रूपसम्पन्नो वयसा च समन्वितः ॥ २२ ॥



सुकन्याकी अश्विनीकुमारोंसे अपने पतिको बतला देनेकी प्रार्थना

कुतोऽभवद्भ्यां वृद्धः सन् भार्यां च प्राप्तवानिमाम्।
तस्माद् युवां करिष्यामि प्रीत्याहं सोमपीथिनौ।
मिषतो देवराजस्य सत्यमेतद् ब्रवीमि वाम्॥ २३॥

'अथवा शोभने! जिसको भी तुम मनसे चाहती होओ, उसीको पति बनाओ।' देवी सुकन्याने उन सबको एक-जैसा रूप धारण किये खड़े देख मन और बुद्धिसे निश्चय करके अपने पतिको ही स्वीकार किया। महातेजस्वी च्यवन मुनिने अनुकूल पत्नी, तरुण अवस्था और मनोवाञ्छित रूप पाकर बड़े हर्षका अनुभव किया और दोनों अश्विनीकुमारोंसे कहा—'आप दोनोंने मुझ बूढ़ेको रूपवान् और तरुण बना दिया, साथ ही मुझे अपनी यह भार्या भी मिल गयी; इसलिये मैं प्रसन्न होकर आप दोनोंको यज्ञमें देवराज इन्द्रके सामने ही सोमपानका अधिकारी बना दूँगा। यह मैं आपलोगोंसे सत्य कहता हूँ'॥ २०—२३॥

तच्छ्रुत्वा हृष्टमनसौ दिवं तौ प्रतिजग्मतुः।
च्यवनश्च सुकन्या च सुराविव विजह्रतुः॥ २४॥

यह सुनकर दोनों अश्विनीकुमार प्रसन्नचित्त हो देवलोकको लौट गये और च्यवन तथा सुकन्या देवदम्पतिकी भाँति विहार करने लगे॥ २४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राप्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

शर्यातिके यज्ञमें च्यवनका इन्द्रपर कोप करके वज्रको स्तम्भित करना और उसे मारनेके लिये मदासुरको उत्पन्न करना

लोमश उवाच

ततः शुश्राव शर्यातिर्वयःस्थं च्यवनं कृतम्।
सुहृष्टः सेनया सार्धमुपायाद् भार्गवाश्रमम्॥ १॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर राजा शर्यातिने सुना कि महर्षि च्यवन युवावस्थाको प्राप्त हो गये; इस समाचारसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सेनाके साथ महर्षि च्यवनके आश्रमपर आये॥ १॥

च्यवनं च सुकन्यां च दृष्ट्वा देवसुताविव।
रेमे सभार्यः शर्यातिः कृत्स्नां प्राप्य महीमिव॥ २॥
ऋषिणा सत्कृतस्तेन सभार्यः पृथिवीपतिः।
उपोपविष्टः कल्याणीः कथाश्चक्रे मनोरमाः॥ ३॥

च्यवन और सुकन्याको देवकुमारोंके समान सुखी देखकर पत्नीसहित शर्यातिको महान् हर्ष हुआ, मानो उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य मिल गया हो। च्यवन ऋषिने रानियोंसहित राजाका बड़ा आदर-सत्कार किया और उनके पास बैठकर मनको प्रिय लगनेवाली कल्याणमयी कथाएँ सुनायीं॥ २-३॥

अथैनं भार्गवो राजन्नुवाच परिसान्त्वयन्।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां सम्भारानवकल्पय॥ ४॥

युधिष्ठिर! तत्पश्चात् भृगुनन्दन च्यवनने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन्! मैं आपसे यज्ञ कराऊँगा। आप सामग्री जुटाइये'॥ ४॥

ततः परमसंहृष्टः शर्यातिरवनीपतिः।
च्यवनस्य महाराज तद् वाक्यं प्रत्यपूजयत्॥ ५॥

महाराज! यह सुनकर राजा शर्याति बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने च्यवन मुनिके उस वचनकी बड़ी सराहना की॥

प्रशस्तेऽहनि यज्ञीये सर्वकामसमृद्धिमत्।
कारयामास शर्यातिर्यज्ञायतनमुत्तमम्॥ ६॥

तदनन्तर यज्ञके लिये उपयोगी शुभ दिन आनेपर शर्यातिने एक उत्तम यज्ञ-मण्डप तैयार करवाया, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित समृद्धियोंसे सम्पन्न था॥ ६॥

तत्रैनं च्यवनो राजन् याजयामास भार्गवः।
अद्भुतानि च तत्रासन् यानि तानि निबोध मे॥ ७॥

राजन्! भृगुपुत्र च्यवनने उस यज्ञमण्डपमें राजासे यज्ञ करवाया। उस यज्ञमें जो अद्भुत बातें हुई थीं, उन्हें मुझसे सुनो॥ ७॥

अगृह्णच्च्यवनः सोममश्विनोर्देवयोस्तदा।
तमिन्द्रो वारयामास गृह्णानं स तयोर्ग्रहम्॥ ८॥

महर्षि च्यवनने उस समय दोनों अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये सोमरसका भाग हाथमें लिया। उन दोनोंके लिये सोमका भाग ग्रहण करते समय इन्द्रने मुनिको मना किया॥

इन्द्र उवाच

उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नार्हतः॥ ९॥

इन्द्र बोले—मुने! मेरा यह सिद्धान्त है कि ये दोनों अश्विनीकुमार यज्ञमें सोमपानके अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि ये द्युलोकनिवासी देवताओंके वैद्य हैं और उस वैद्यवृत्तिके कारण ही इन्हें यज्ञमें सोमपानका अधिकार नहीं रह गया है॥

च्यवन उवाच

महोत्साहौ महात्मानौ रूपद्रविणवत्तरौ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन् वृन्दारकमिवाजरम् ॥ १० ॥
ऋते त्वां विबुधांश्चान्यान् कथं वै नार्हतः सवम्।
अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरंदर ॥ ११ ॥

च्यवनने कहा—मघवन्! ये दोनों अश्विनीकुमार बड़े उत्साही और महान् बुद्धिमान् हैं। रूप-सम्पत्तिमें भी सबसे बढ़-चढ़कर हैं। इन्होंने ही मुझे देवताओंके समान दिव्य रूपसे युक्त और अजर बनाया है। देवराज! फिर तुम्हारे या अन्य देवताओंके सिवा इन्हें यज्ञमें सोमरसका भाग पानेका अधिकार क्यों नहीं है? पुरंदर! इन अश्विनी-कुमारोंको भी देवता ही समझो ॥ १०-११ ॥

इन्द्र उवाच

चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूपसमन्वितौ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहार्हतः ॥ १२ ॥

इन्द्र बोले—ये दोनों चिकित्सा-कार्य करते हैं और मनमाना रूप धारण करके मृत्युलोकमें भी विचरते रहते हैं, फिर इन्हें इस यज्ञमें सोमपानका अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है? ॥

लोमश उवाच

एतदेव यदा वाक्यमाम्रेडयति देवराट्।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ॥ १३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब देवराज इन्द्र बार-बार यही बात दुहराने लगे। तब भृगुनन्दन च्यवनने उनकी अवहेलना करके अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये सोमरसका भाग ग्रहण किया ॥ १३ ॥

ग्रहीष्यन्तं तु तं सोममश्विनोरुत्तमं तदा।
समीक्ष्य बलभिद् देव इदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

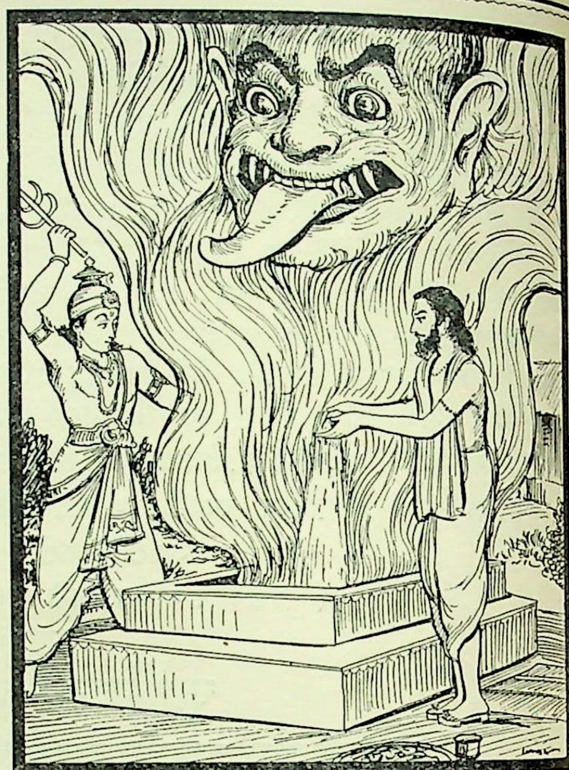
उस समय देववैद्योंके लिये उत्तम सोमरस ग्रहण करते देख इन्द्रने च्यवन मुनिसे इस प्रकार कहा—॥ १४ ॥

आभ्यामर्थाय सोमं त्वं ग्रहीष्यसि यदि स्वयम्।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूपमनुत्तमम् ॥ १५ ॥

'ब्रह्मन्! यदि तुम इन दोनोंके लिये स्वयं सोमरस ग्रहण करोगे तो मैं तुमपर अपना परम उत्तम भयंकर वज्र छोड़ दूँगा'॥

एवमुक्तः स्मयन्निन्द्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः।
जग्राह विधिवत् सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ॥ १६ ॥

उनके ऐसा कहनेपर च्यवन मुनिने मुसकराते हुए इन्द्र-की ओर देखकर अश्विनीकुमारोंके लिये विधिपूर्वक उत्तम सोमरस हाथमें लिया ॥ १६ ॥



ततोऽस्मै प्राहरद् वज्रं घोररूपं शचीपतिः।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तम्भयामास भार्गवः ॥ १७ ॥

तब शचीपति इन्द्र उनके ऊपर भयंकर वज्र छोड़ने लगे, परंतु वे जैसे ही प्रहार करने लगे, भृगुनन्दन च्यवनने उनकी भुजाको स्तम्भित कर दिया ॥ १७ ॥

तं स्तम्भयित्वा च्यवनो जुहुवे मन्त्रतोऽनलम्।
कृत्यार्थी सुमहातेजा देवं हिंसितुमुद्यतः ॥ १८ ॥

इस प्रकार उनकी भुजा स्तम्भित करके महातेजस्वी च्यवन ऋषिने मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें आहुति दी। वे देवराज इन्द्रको मार डालनेके लिये उद्यत होकर कृत्या उत्पन्न करना चाहते थे ॥ १८ ॥

ततः कृत्याथ संजज्ञे मुनेस्तस्य तपोबलात्।
मदो नाम महावीर्यो बृहत्कायो महासुरः ॥ १९ ॥
शरीरं यस्य निर्देष्टुमशक्यं तु सुरासुरैः।
तस्यास्यमभवद् घोरं तीक्ष्णाग्रदशनं महत् ॥ २० ॥
हनुरेका स्थिता त्वस्य भूमावेका दिवं गता।
चतस्रश्चायता दंष्ट्रा योजनानां शतं शतम् ॥ २१ ॥

च्यवन ऋषिके तपोबलसे वहाँ कृत्या प्रकट हो गयी। उस कृत्याके रूपमें महापराक्रमी विशालकाय महादैत्य मदका प्रादुर्भाव हुआ। जिसके शरीरका वर्णन देवता तथा असुर भी नहीं कर सकते। उस असुरका विशाल मुख बड़ा भयंकर था। उसके आगेके दाँत बड़े तीखे दिखायी देते थे। उसका ठोड़ीसहित नीचेका ओष्ठ धरतीपर टिका हुआ

था और दूसरा स्वर्गलोकतक पहुँच गया था। उसकी चार दाढ़ें सौ-सौ योजनतक फैली हुई थीं ॥ १९—२१ ॥

इतरे तस्य दशना बभूवुर्दशयोजनाः।
प्रासादशिखराकाराः शूलाग्रसमदर्शनाः ॥ २२ ॥

उस दैत्यके दूसरे दाँत भी दस-दस योजन लम्बे थे। उनकी आकृति महलोंके कँगूरोंके समान थी। उनका अग्रभाग शूलके समान तीखा दिखलायी देता था ॥ २२ ॥

बाहू पर्वतसंकाशावायतावयुतं समौ।
नेत्रे रविशशिप्रख्ये वक्त्रं कालाग्निसंनिभम् ॥ २३ ॥
लेलिहञ्जिह्वया वक्त्रं विद्युच्चपललोलया।
व्यात्ताननो घोरदृष्टिर्ग्रसन्निव जगद् बलात् ॥ २४ ॥
स भक्षयिष्यन् संक्रुद्धः शतक्रतुमुपाद्रवत्।
महता घोररूपेण लोकाञ्छब्देन नादयन् ॥ २५ ॥

दोनों भुजाएँ दो पर्वतोंके समान प्रतीत होती थीं। दोनोंकी लंबाई एक समान दस-दस हजार योजनकी थी। उसके दोनों नेत्र चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रज्वलित हो रहे थे। उसका मुख प्रलयकालकी अग्निके समान जाज्वल्यमान जान पड़ता था। उसकी लपलपाती हुई चञ्चल जीभ विद्युत्के समान चमक रही थी और उसके द्वारा वह अपने जबड़ोंको चाट रहा था। उसका मुख खुला हुआ था और दृष्टि भयंकर थी; ऐसा जान पड़ता था, मानो वह सारे जगत्को बलपूर्वक निगल जायगा। वह दैत्य कुपित हो अपनी अत्यन्त भयंकर गर्जनासे सम्पूर्ण जगत्को गुँजाता हुआ इन्द्रको खा जानेके लिये उनकी ओर दौड़ा ॥२३-२५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्विनीकुमारोंका यज्ञमें भाग स्वीकार कर लेनेपर इन्द्रका संकट-मुक्त होना तथा लोमशजीके द्वारा अन्यान्य तीर्थोंके महत्त्वका वर्णन

लोमश उवाच

तं दृष्ट्वा घोरवदनं मदं देवः शतक्रतुः।
आयान्तं भक्षयिष्यन्तं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ १ ॥
भयात् संस्तम्भितभुजः सृक्किणी लेलिहन् मुहुः।
ततोऽब्रवीद् देवराजश्च्यवनं भयपीडितः ॥ २ ॥
सोमार्हावश्विनावेतावद्यप्रभृति भार्गव।
भविष्यतः सत्यमेतद् वचो विप्रः प्रसीद मे ॥ ३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मुँह बाये हुए यमराजकी भाँति भयंकर मुखवाले उस मदासुरको निगलनेके लिये आते देख देवराज इन्द्र भयसे व्याकुल हो गये। जिनकी भुजाएँ स्तब्ध हो गयी थीं, वे इन्द्र मृत्युके डरसे घबराकर बार-बार ओष्ठ-प्रान्त चाटने लगे। उसी अवस्थामें उन्होंने महर्षि च्यवनसे कहा—'भृगुनन्दन! ये दोनों अश्विनीकुमार आजसे सोमपानके अधिकारी होंगे। मेरी यह बात सत्य है, अतः आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ १-३ ॥

न ते मिथ्या समारम्भो भवत्वेष परो विधिः।
जानामि चाहं विप्रर्षे न मिथ्या त्वं करिष्यसि ॥ ४ ॥
सोमार्हावश्विनावेतौ यथा वाद्य कृतौ त्वया।
भूय एव तु ते वीर्यं प्रकाशेदिति भार्गव ॥ ५ ॥
सुकन्यायाः पितुश्चास्य लोके कीर्तिः प्रथेदिति।
अतो मयैतद् विहितं तव वीर्यप्रकाशनम् ॥ ६ ॥
तस्मात् प्रसादं कुरु मे भवत्वेवं यथेच्छसि।

'आपके द्वारा किया हुआ यह यज्ञका आयोजन मिथ्या न हो। आपने जो कर दिया, वही उत्तम विधान हो। ब्रह्मर्षे! मैं जानता हूँ, आप अपना संकल्प कभी मिथ्या न होने देंगे! आज आपने इन अश्विनीकुमारोंको जैसे सोमपानका अधिकारी बनाया है, उसी प्रकार मेरा भी कल्याण कीजिये। भृगुनन्दन! आपकी अधिक-से-अधिक शक्ति प्रकाशमें आवे तथा जगत्में सुकन्या और इसके पिताकी कीर्तिका विस्तार हो। इस उद्देश्यसे मैंने यह आपके बल-वीर्यको प्रकाशित करनेवाला कार्य किया है अतः आप प्रसन्न होकर मेरे ऊपर कृपा करें। आप जैसा चाहते हैं, वैसा ही होगा' ॥ ४—६½ ॥

एवमुक्तस्य शक्रेण भार्गवस्य महात्मनः ॥ ७ ॥
स मन्युर्व्यगमच्छीघ्रं मुमोच च पुरंदरम्।
मदं च व्यभजद् राजन् पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ॥ ८ ॥
अक्षेषु मृगयायां च पूर्वसृष्टं पुनः पुनः।
तदा मदं विनिक्षिप्य शक्रं संतर्प्य चेन्दुना ॥ ९ ॥
अश्विभ्यां सहितान् देवान् याजयित्वा च तं नृपम्।
विख्याप्य वीर्यं लोकेषु सर्वेषु वदतां वरः ॥ १० ॥
सुकन्यया सहारण्ये विजहारानुकूलया।
तस्यैतद् द्विजसंघुष्टं सरो राजन् प्रकाशते ॥ ११ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन महामना च्यवनका

क्रोध शीघ्र शान्त हो गया और उन्होंने देवेन्द्रको (उसी क्षण सम्पूर्ण दुःखोंसे; मुक्त कर दिया । राजन् ! उन शक्तिशाली ऋषिने मदको, जिसे पहले उन्होंने ही उत्पन्न किया था, मद्यपान, स्त्री, जूआ और मृगया (शिकार)—इन चार स्थानोंमें पृथक्-पृथक् बाँट दिया । इस प्रकार मदको दूर हटाकर उन्होंने देवराज इन्द्र और अश्विनीकुमारोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको सोमरससे तृप्त किया तथा राजा शर्यातिका यज्ञ पूर्ण कराकर समस्त लोकोंमें अपनी अद्भुत शक्तिको विख्यात करके वक्ताओंमें श्रेष्ठ च्यवन ऋषि अपनी मनोनुकूल पत्नी सुकन्याके साथ वनमें विहार करने लगे । युधिष्ठिर ! यह जो पक्षियोंके कलरवसे गूँजता हुआ सरोवर सुशोभित हो रहा है, महर्षि च्यवनका ही है ॥ ७—११ ॥

अत्र त्वं सह सोदर्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पय ।
एतद् दृष्ट्वा महीपाल सिकताक्षं च भारत ॥ १२ ॥
सैन्धवारण्यमासाद्य कुल्यानां कुरु दर्शनम् ।
पुष्करेषु महाराज सर्वेषु च जलं स्पृश ॥ १३ ॥
स्थाणोर्मन्त्राणि च जपन् सिद्धिं प्राप्स्यसि भारत ।
संधिर्द्वयोर्नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ॥ १४ ॥

तुम भाइयोंसहित इसमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण करो । भूपाल ! भरतनन्दन ! इस सरोवरका और सिकताक्षतीर्थका दर्शन करके सैन्धवारण्यमें पहुँचकर वहाँकी छोटी-छोटी नदियोंके दर्शन करना । महाराज ! यहाँके सभी तालाबमें जाकर जलका स्पर्श करो । भारत ! स्थाणु (शिव) के मन्त्रोंका जप करते हुए उन तीर्थोंमें स्नान करनेसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी । नरश्रेष्ठ ! यह त्रेता और द्वापरकी संधिके समय प्रकट हुआ तीर्थ है ॥ १२—१४ ॥

अयं हि दृश्यते पार्थ सर्वपापप्रणाशनः ।
अत्रोपस्पृश्य चैव त्वं सर्वपापप्रणाशने ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर ! यह सब पापोंका नाश करनेवाला तीर्थ दिखायी देता है । इस सर्वपापनाशन तीर्थमें स्नान करके तुम शुद्ध हो जाओगे ॥ १५ ॥

आर्चीकपर्वतश्चैव निवासो वै मनीषिणाम् ।
सदाफलः सदास्रोतो मरुतां स्थानमुत्तमम् ॥ १६ ॥

इसके आगे आर्चीक पर्वत है, जहाँ मनीषी पुरुष निवास करते हैं । वहाँ सदा फल लगे रहते हैं और निरन्तर पानीके झरने बहते हैं । इस पर्वतपर अनेक देवताओंके उत्तम स्थान हैं ॥ १६ ॥

चैत्याश्चैते बहुविधास्त्रिदशानां युधिष्ठिर ।
एतच्चन्द्रमसस्तीर्थमृषयः पर्युपासते ।
वैखानसा वालखिल्याः पावका वायुभोजनाः ॥ १७ ॥
शृङ्गाणि त्रीणि पुण्यानि त्रीणि प्रस्रवणानि च ।
सर्वाण्यनुपरिक्रम्य यथाकाममुपस्पृश ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! ये देवताओंके अनेकानेक मन्दिर दिखायी देते हैं, जो नाना प्रकारके हैं । यह चन्द्रतीर्थ है, जिसकी बहुतसे ऋषिलोग उपासना करते हैं । यहाँ वालखिल्य नामक वैखानस महात्मा रहते हैं, जो वायुका आहार करनेवाले और परम पावन हैं । यहाँ तीन पवित्र शिखर और तीन झरने हैं । इन सबकी इच्छानुसार परिक्रमा करके स्नान करो ॥ १७-१८ ॥

शान्तनुश्चात्र राजेन्द्र शुनकश्च नराधिपः ।
नरनारायणौ चोभौ स्थानं प्राप्ताः सनातनम् ॥ १९ ॥

राजेन्द्र ! यहाँ राजा शान्तनु, शुनक और नर-नारायण ये सभी नित्य धाममें गये हैं ॥ १९ ॥

इह नित्यशया देवाः पितरश्च महर्षिभिः ।
आर्चीकपर्वते तेपुस्तान यजस्व युधिष्ठिर ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! इस आर्चीक पर्वतपर नित्य निवास करते हुए महर्षियोंसहित जिन देवताओं और पितरोंने तपस्या की है, तुम उन सबकी पूजा करो ॥ २० ॥

इह ते वै चरून् प्राश्नन्नृषयश्च विशाम्पते ।
यमुना चाक्षयस्रोता कृष्णश्चेह तपोरतः ॥ २१ ॥
यमौ च भीमसेनश्च कृष्णा चामित्रकर्शन ।
सर्वे चात्र गमिष्यामस्त्वयैव सह पाण्डव ॥ २२ ॥
एतत् प्रस्रवणं पुण्यमिन्द्रस्य मनुजेश्वर ।
यत्र धाता विधाता च वरुणश्चोर्ध्वमागताः ॥ २३ ॥

राजन् ! यहाँ देवताओं और ऋषियोंने चरुभोजन किया था । इसके पास ही अक्षय प्रवाहवाली यमुना नदी बहती है । यहीं भगवान् कृष्णने भी तपस्या की है । शत्रुदमन ! नकुल, सहदेव, भीमसेन, द्रौपदी और हम सब लोग तुम्हारे साथ इसी स्थानपर चलेंगे । पाण्डुनन्दन ! यह इन्द्रका पवित्र झरना है । नरेश्वर ! यह वही स्थान है, जहाँ धाता, विधाता और वरुण ऊर्ध्वलोक गये हैं ॥ २१—२३ ॥

इह तेऽप्यवसन् राजन् क्षान्ताः परमधर्मिणः ।
मैत्राणामृजुबुद्धीनामयं गिरिवरः शुभः ॥ २४ ॥

राजन् ! वे क्षमाशील और परम धर्मात्मा पुरुष यहीं रहते थे । सरल बुद्धि तथा सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले सत्पुरुषोंके लिये यह श्रेष्ठ पर्वत शुभ आश्रय है ॥ २४ ॥

एषा सा यमुना राजन् महर्षिगणसेविता ।
नानायज्ञचिता राजन् पुण्या पापभयापहा ॥ २५ ॥
अत्र राजा महेष्वासो मान्धातायजत स्वयम् ।
साहदेविश्च कौन्तेय सोमको ददतां वरः ॥ २६ ॥

राजन् ! यही वह महर्षिगणसेवित पुण्यमयी यमुना

है, जिसके तटपर अनेक यज्ञ हो चुके हैं । यह पापके भयको दूर भगानेवाली है । कुन्तीनन्दन ! यहीं महान् धनुर्धर राजा मान्धाताने स्वयं यज्ञ किया था । दानिशिरोमणि सहदेव-कुमार सोमकने भी इसीके तटपर यज्ञानुष्ठान किया ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा मान्धाताकी उत्पत्ति और संक्षिप्त चरित्र

युधिष्ठिर उवाच

मान्धाता राजशार्दूलस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
कथं जातो महाब्रह्मन् यौवनाश्वो नृपोत्तमः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्राह्मणश्रेष्ठ ! युवनाश्वके पुत्र नृपश्रेष्ठ मान्धाता तीनों लोकोंमें विख्यात थे । उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई थी ? ॥ १ ॥

कथं चैनां परां काष्ठां प्राप्तवानमितद्युतिः ।
यस्य लोकास्त्रयो वश्या विष्णोरिव महात्मनः ॥ २ ॥

अमित तेजस्वी मान्धाताने यह सर्वोच्च स्थिति कैसे प्राप्त कर ली थी ? सुना है, परमात्मा विष्णुके समान महाराज मान्धाता-के वशमें तीनों लोक थे ॥ २ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं चरितं तस्य धीमतः ।
(सत्यकीर्तेर्हि मान्धातुः कथ्यमानं त्वयानघ ।)
यथा मान्धातृशब्दश्च तस्य शक्रसमद्युतेः ।
जन्म चाप्रतिवीर्यस्य कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥ ३ ॥

निष्पाप महर्षे ! मैं आपके मुखसे उन सत्यकीर्ति एवं बुद्धिमान् राजा मान्धाताका वह सब चरित्र सुनना चाहता हूँ । इन्द्रके समान तेजस्वी और अनुपम पराक्रमी उन नरेशका 'मान्धाता' नाम कैसे हुआ ? और उनके जन्मका वृत्तान्त क्या है ? बताइये; क्योंकि आप ये सब बातें बतानेमें कुशल हैं ॥ ३ ॥

लोमश उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
यथा मान्धातृशब्दो वै लोकेषु परिगीयते ॥ ४ ॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! लोकमें उन महामना नरेशका 'मान्धाता' नाम कैसे प्रचलित हुआ ? यह बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ४ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो युवनाश्वो महीपतिः ।
सोऽयजत् पृथिवीपालः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकुवंशमें युवनाश्व नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं । भूपाल युवनाश्वने प्रचुर दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ ५ ॥

अश्वमेधसहस्रं च प्राप्य धर्मभृतां वरः ।
अन्यैश्च क्रतुभिर्मुख्यैरयजत् स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ६ ॥

वे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे । उन्होंने एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करके बहुत दक्षिणाके साथ दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ यज्ञों-द्वारा भी भगवान्‌की आराधना की ॥ ६ ॥

अनपत्यस्तु राजर्षिः स महात्मा महाव्रतः ।
मन्त्रिष्वाधाय तद् राज्यं वननित्यो बभूव ह ॥ ७ ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना संयोज्यात्मानमात्मवान् ।
स कदाचिन्नृपो राजन्नुपवासेन दुःखितः ॥ ८ ॥
पिपासाशुष्कहृदयः प्रविवेशाश्रमं भृगोः ।
तामेव रात्रिं राजेन्द्र महात्मा भृगुनन्दनः ॥ ९ ॥
इष्टिं चकार सौद्युम्नेर्महर्षिः पुत्रकारणात् ।
सम्भृतो मन्त्रपूतेन वारिणा कलशो महान् ॥ १० ॥

वे महामना राजर्षि महान् व्रतका पालन करनेवाले थे तो भी उनके कोई संतान नहीं हुई । तब वे मनस्वी नरेश राज्यका भार मन्त्रियोंपर रखकर शास्त्रीय विधिके अनुसार अपने आपको परमात्म-चिन्तनमें लगाकर सदा वनमें ही रहने लगे । एक दिनकी बात है, राजा युवनाश्व उपवासके कारण दुःखित हो गये । प्याससे उनका हृदय सूखने लगा । उन्होंने जल पीनेकी इच्छासे रातके समय महर्षि भृगुके आश्रममें प्रवेश किया । राजेन्द्र ! उसी रातमें महात्मा भृगुनन्दन महर्षि च्यवनने सुद्युम्नकुमार युवनाश्वको पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये एक इष्टि की थी । उस इष्टिके समय महर्षिने मन्त्रपूत जलसे एक बहुत बड़े कलशको भरकर रख दिया था ॥ ७–१० ॥

तत्रातिष्ठत राजेन्द्र पूर्वमेव समाहितः ।
यत् प्राश्य प्रसवेत् तस्य पत्नी शक्रसमं सुतम् ॥ ११ ॥

महाराज ! वह कलशका जल पहलेसे ही आश्रमके भीतर इस उद्देश्यसे रखा गया था कि उसे पीकर राजा युवनाश्वकी रानी इन्द्रके समान शक्तिशाली पुत्रको जन्म दे सके ॥ ११ ॥

तं न्यस्य वेद्यां कलशं सुषुपुस्ते महर्षयः ।
रात्रिजागरणाच्छ्रान्तान् सौद्युम्निः समतीत्य तान् ॥ १२ ॥

उस कलशको वेदीपर रखकर सभी महर्षि सो गये थे। रातमें देरतक जागनेके कारण वे सब-के-सब थके हुए थे। युवनाश्व उन्हें लाँघकर आगे बढ़ गये ॥ १२ ॥

शुष्ककण्ठः पिपासार्तः पानीयार्थी भृशं नृपः।
तं प्रविश्याश्रमं शान्तः पानीयं सोऽभ्ययाचत ॥ १३ ॥

वे प्याससे पीड़ित थे। उनका कण्ठ सूख गया था। पानी पीनेकी अत्यन्त अभिलाषासे वे उस आश्रमके भीतर गये और शान्तभावसे जलके लिये याचना करने लगे ॥ १३ ॥

तस्य श्रान्तस्य शुष्केण कण्ठेन क्रोशतस्तदा।
नाश्रौषीत् कश्चन तदा शकुनेरिव वाशतः ॥ १४ ॥

राजा थककर सूखे कण्ठसे पानीके लिये चिल्ला रहे थे, परंतु उस समय चें-चें करनेवाले पक्षीकी भाँति उनकी चीख-पुकार कोई भी न सुन सका ॥ १४ ॥

ततस्तं कलशं दृष्ट्वा जलपूर्णं स पार्थिवः।
अभ्यद्रवत वेगेन पीत्वा चाम्भो व्यवासृजत् ॥ १५ ॥

तदनन्तर जलसे भरे हुए पूर्वोक्त कलशपर उनकी दृष्टि पड़ी। देखते ही वे बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े और (इच्छानुसार) पीकर उन्होंने बचे हुए जलको वहीं गिरा दिया ॥ १५ ॥

स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्तो महीपतिः।
निर्वाणमगमद् धीमान् सुसुखी चाभवत् तदा ॥ १६ ॥

राजा युवनाश्व प्याससे बड़ा कष्ट पा रहे थे। वह शीतल जल पीकर उन्हें बड़ी शान्ति मिली। वे बुद्धिमान् नरेश उस समय जल पीनेसे बहुत सुखी हुए ॥ १६ ॥

ततस्ते प्रत्यबुध्यन्त मुनयः सतपोधनाः।
निस्तोयं तं च कलशं ददृशुः सर्व एव ते ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् तपोधन च्यवन मुनिके सहित सब मुनि जाग उठे। उन सबने उस कलशको जलसे शून्य देखा ॥ १७ ॥

कस्य कर्मेदमिति ते पर्यपृच्छन् समागताः।
युवनाश्वो ममेत्येवं सत्यं समभिपद्यत ॥ १८ ॥

फिर तो वे सब एकत्र हो गये और एक दूसरेसे पूछने लगे—'यह किसका काम है?' युवनाश्वने सामने आकर कहा—'यह मेरा ही कर्म है।' इस प्रकार उन्होंने सत्यको स्वीकार कर लिया ॥ १८ ॥

न युक्तमिति तं प्राह भगवान् भार्गवस्तदा।
सुतार्थं स्थापिता ह्यापस्तपसा चैव सम्भृताः ॥ १९ ॥
मया ह्यत्राहितं ब्रह्म तप आस्थाय दारुणम्।
पुत्रार्थं तव राजर्षे महाबलपराक्रम ॥ २० ॥

तब भगवान् च्यवनने कहा—'महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न राजर्षि युवनाश्व! यह तुमने ठीक नहीं किया। इस कलशमें मैंने तुम्हें ही पुत्र प्रदान करनेके लिये तपस्यासे संस्कारयुक्त किया हुआ जल रखा था और कठोर तपस्या करके उसमें ब्रह्मतेजकी स्थापना की थी ॥ १९-२० ॥

महाबलो महावीर्यस्तपोबलसमन्वितः।
यः शक्रमपि वीर्येण गमयेद् यमसादनम् ॥ २१ ॥
अनेन विधिना राजन् मयैतदुपपादितम्।
अब्भक्षणं त्वया राजन् न युक्तं कृतमद्य वै ॥ २२ ॥

'राजन्! उक्त विधिसे इस जलको मैंने ऐसा शक्ति-सम्पन्न कर दिया था कि इसको पीनेसे एक महाबली, महापराक्रमी और तपोबल सम्पन्न पुत्र उत्पन्न हो, जो अपने बल-पराक्रमसे देवराज इन्द्रको भी यमलोक पहुँचा सके; उसी जलको तुमने आज पी लिया, यह अच्छा नहीं किया ॥ २१-२२ ॥

न त्वद्य शक्यमस्माभिरेतत् कर्तुमतोऽन्यथा।
नूनं दैवकृतं ह्येतद् यदेवं कृतवानसि ॥ २३ ॥

'अब हमलोग इसके प्रभावको टालने या बदलनेमें असमर्थ हैं। तुमने जो ऐसा कार्य कर डाला है, इसमें निश्चय ही दैवकी प्रेरणा है ॥ २३ ॥

पिपासितेन याः पीता विधिमन्त्रपुरस्कृताः।
आपस्त्वया महाराज मत्तपोवीर्यसम्भृताः ॥ २४ ॥
ताभ्यस्त्वमात्मना पुत्रमीदृशं जनयिष्यसि।
विधास्यामो वयं तत्र तवेष्टिं परमाद्भुताम् ॥ २५ ॥
यथा शक्रसमं पुत्रं जनयिष्यसि वीर्यवान्।
गर्भधारणजं वापि न खेदं समवाप्स्यसि ॥ २६ ॥

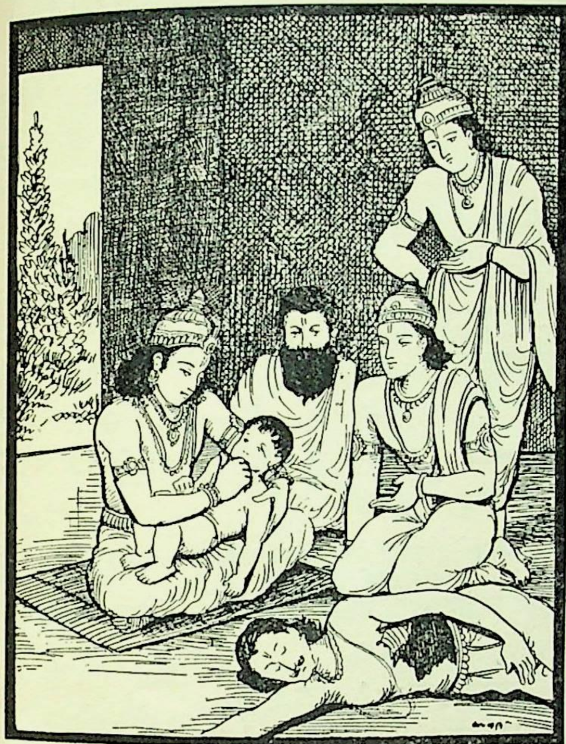
'महाराज! तुमने प्याससे व्याकुल होकर जो मेरे तपोबलसे संचित तथा विधिपूर्वक मन्त्रसे अभिमन्त्रित जलको पी लिया है, उसके कारण तुम अपने ही पेटसे तथाकथित इन्द्र-विजयी पुत्रको जन्म दोगे। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये हम तुम्हारी इच्छाके अनुरूप अत्यन्त अद्भुत यज्ञ करायेंगे, जिससे तुम स्वयं भी शक्तिशाली रहकर इन्द्रके समान पराक्रमी पुत्र उत्पन्न कर सकोगे और गर्भधारणजनित कष्टका भी तुम्हें अनुभव न होगा' ॥ २४—२६ ॥

ततो वर्षशते पूर्णे तस्य राज्ञो महात्मनः।
वामं पार्श्वं विनिर्भिद्य सुतः सूर्य इव स्थितः ॥ २७ ॥
निश्चक्राम महातेजा न च तं मृत्युराविशत्।
युवनाश्वं नरपतिं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २८ ॥

तदनन्तर पूरे सौ वर्ष बीतनेपर उन महात्मा राजा युवनाश्वकी बायीं कोख फाड़कर एक सूर्यके समान महातेजस्वी बालक बाहर निकला तथा राजाकी मृत्यु भी नहीं हुई। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २७-२८ ॥

ततः शक्रो महातेजास्तं दिदृक्षुरुपागमत्।
ततो देवा महेन्द्रं तमपृच्छन् धास्यतीति किम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी इन्द्र उस बालकको देखनेके लिये वहाँ आये। उस समय देवताओंने महेन्द्रसे पूछा—'यह बालक क्या पीयेगा?' ॥ २९ ॥



प्रदेशिनीं ततोऽस्यास्ये शक्रः समभिसंदधे।
मामयं धास्यतीत्येवं भाषिते चैव वज्रिणा ॥ ३० ॥
मान्धातेति च नामास्य चक्रुः सेन्द्रा दिवौकसः ॥ ३१ ॥
प्रदेशिनीं शक्रदत्तामास्वाद्य स शिशुस्तदा।
अवर्धत महातेजाः किष्कून् राजंस्त्रयोदश ॥ ३२ ॥

तब इन्द्रने अपनी तर्जनी अंगुली बालकके मुँहमें डाल दी और कहा—'माम् अयं धाता।' 'अर्थात् यह मुझे ही पीयेगा' वज्रधारी इन्द्रके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि सब देवताओंने मिलकर उस बालकका नाम 'मान्धाता' रख दिया। राजन्! इन्द्रकी दी हुई प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुलिका रसास्वादन करके वह महातेजस्वी शिशु तेरह बित्ता बढ़ गया ॥ ३०–३२ ॥

वेदास्तं सधनुर्वेदा दिव्यान्यस्त्राणि चेश्वरम्।
उपतस्थुर्महाराज ध्यातमात्रस्य सर्वशः ॥ ३३ ॥

महाराज! उस समय शक्तिशाली मान्धाताके चिन्तन करने मात्रसे ही धनुर्वेदसहित सम्पूर्ण वेद और दिव्य अस्त्र (ईश्वरकी कृपासे) उपस्थित हो गये ॥ ३३ ॥

आजगवं नाम धनुः शराः शृङ्गोद्भवाश्च ये।
अभेद्यं कवचं चैव सद्यस्तमुपशिश्रियुः ॥ ३४ ॥

आजगव नामक धनुष, सींगके बने हुए बाण और अभेद्य कवच—सभी तत्काल उनकी सेवामें आ गये ॥ ३४ ॥

सोऽभिषिक्तो मघवता स्वयं शक्रेण भारत।
धर्मेण व्यजयल्लोकांस्त्रीन् विष्णुरिव विक्रमैः ॥ ३५ ॥

भारत! साक्षात् देवराज इन्द्रने मान्धाताका राज्याभिषेक किया। भगवान् विष्णुने जैसे तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नाप लिया था, उसी प्रकार मान्धाताने भी धर्मके द्वारा तीनों लोकोंको जीत लिया ॥ ३५ ॥

तस्याप्रतिहतं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः।
रत्नानि चैव राजर्षिं स्वयमेवोपतस्थिरे ॥ ३६ ॥

उन महात्मा नरेशका शासनचक्र सर्वत्र बेरोक-टोक चलने लगा। सारे रत्न राजर्षि मान्धाताके यहाँ स्वयं उपस्थित हो जाते थे ॥ ३६ ॥

तस्यैवं वसुसम्पूर्णा वसुधा वसुधाधिप।
तेनेष्टं विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार उनके लिये यह सारी पृथ्वी धन-रत्नोंसे परिपूर्ण थी। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकारके बहुसंख्यक यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की समाराधना की ॥ ३७ ॥

चितचैत्यो महातेजा धर्मान् प्राप्य च पुष्कलान्।
शक्रस्यार्धासनं राजँल्लब्धवानमितद्युतिः ॥ ३८ ॥

राजन्! महातेजस्वी एवं परम कान्तिमान् राजा मान्धाताने यज्ञमण्डलोंका निर्माण करके पर्याप्त धर्मका सम्पादन किया और उसीके फलसे स्वर्गलोकमें इन्द्रका आधा सिंहासन प्राप्त कर लिया ॥ ३८ ॥

एकाह्नात् पृथिवी तेन धर्मनित्येन धीमता।
विजिता शासनादेव सरत्नाकरपत्तना ॥ ३९ ॥

उन धर्मपरायण बुद्धिमान् नरेशने केवल शासनमात्रसे एक ही दिनमें समुद्र, खान और नगरोंसहित सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ३९ ॥

तस्य चैत्यैर्महाराज क्रतूनां दक्षिणावताम्।
चतुरन्ता मही व्याप्ता नासीत् किंचिदनावृतम् ॥ ४० ॥

महाराज! उनके दक्षिणायुक्त यज्ञोंके चैत्यों (यज्ञमण्डपों) से चारों ओरकी पृथ्वी भर गयी थी, कहीं कोई भी स्थान ऐसा नहीं था, जो उनके यज्ञमण्डपोंसे घिरा न हो ॥ ४० ॥

तेन पद्मसहस्राणि गवां दश महात्मना।
ब्राह्मणानां महाराज दत्तानीति प्रचक्षते ॥ ४१ ॥

महाराज! महात्मा राजा मान्धाताने दस हजार पद्म गौएँ ब्राह्मणोंको दानमें दी थीं, ऐसा जानकारलोग कहते हैं ॥ ४१ ॥

तेन द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महात्मना।
वृष्टं सस्यविवृद्ध्यर्थं मिषतो वज्रपाणिनः ॥ ४२ ॥

उन महामना नरेशने बारह वर्षोंतक होनेवाली अनावृष्टिके समय वज्रधारी इन्द्रके देखते-देखते खेतीकी उन्नतिके लिये स्वयं पानीकी वर्षा की थी ॥ ४२ ॥

तेन सोमकुलोत्पन्नो गान्धाराधिपतिर्महान्।
गर्जन्निव महामेघः प्रमथ्य निहतः शरैः ॥ ४३ ॥

उन्होंने महामेघके समान गर्जते हुए महापराक्रमी चन्द्रवंशी गान्धारराजको बाणोंसे घायल करके मार डाला था ॥ ४३ ॥

प्रजाश्चतुर्विधास्तेन त्राता राजन् कृतात्मना।
तेनात्मतपसा लोकास्तापिताश्चातितेजसा ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिर! वे अपने मनको वशमें रखते थे। उन्होंने अपने तपोबलसे देवता, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावर--चार प्रकारकी प्रजाकी रक्षा की थी; साथ ही अपने अत्यन्त तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको संतप्त कर दिया था ॥ ४४ ॥

तस्यैतद् देवयजनं स्थानमादित्यवर्चसः।
पश्य पुण्यतमे देशे कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ॥ ४५ ॥
(तथा त्वमपि राजेन्द्र मान्धातेव महीपतिः।
धर्मं कृत्वा महीं रक्षन् स्वर्गलोकमवाप्स्यसि ॥)

सूर्यके समान तेजस्वी उन्हीं महाराज मान्धाताके देव-यज्ञका यह स्थान है, जो कुरुक्षेत्रकी सीमाके भीतर परम पवित्र प्रदेशमें स्थित है, इसका दर्शन करो। राजेन्द्र! महाराज मान्धाताकी भाँति तुम भी धर्मपूर्वक पृथ्वीकी रक्षा करते रहनेपर अक्षय स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे ॥ ४५ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मान्धातुश्चरितं महत्।
जन्म चाग्र्यं महीपाल यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४६ ॥

भूपाल! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वह मान्धाताका उत्तम जन्म-वृत्तान्त और उनका महान् चरित्र सब कुछ तुम्हें सुना दिया ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कौन्तेयो लोमशेन महर्षिणा।
पप्रच्छानन्तरं भूयः सोमकं प्रति भारत ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! महर्षि लोमशके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने पुनः सोमकके विषयमें प्रश्न किया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां मान्धातोपाख्याने षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें मान्धातोपाख्यानविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमक और जन्तुका उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

कथंवीर्यः स राजाभूत् सोमको वदतां वर।
कर्माण्यस्य प्रभावं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! राजा सोमकका बल-पराक्रम कैसा था? मैं उनके कर्म और प्रभावका यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

लोमश उवाच

युधिष्ठिरासीन्नृपतिः सोमको नाम धार्मिकः।
तस्य भार्याशतं राजन् सदृशीनामभूत् तदा ॥ २ ॥

लोमशजीने कहा—युधिष्ठिर! सोमक नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। उनकी सौ रानियाँ थीं। वे सभी रूप-अवस्था आदिमें प्रायः एक समान थीं ॥ २ ॥

स वै यत्नेन महता तासु पुत्रं महीपतिः।
कंचिन्नासादयामास कालेन महता ह्यपि ॥ ३ ॥

परंतु दीर्घकालतक महान् प्रयत्न करते रहनेपर भी वे अपनी उन रानियोंके गर्भसे कोई पुत्र न प्राप्त कर सके ॥ ३ ॥

कदाचित् तस्य वृद्धस्य घटमानस्य यत्नतः।
जन्तुर्नाम सुतस्तस्मिन् स्त्रीशते समजायत ॥ ४ ॥

राजा सोमक वृद्धावस्थामें भी इसके लिये निरन्तर यत्नशील थे; अतः किसी समय उनकी सौ स्त्रियोंमेंसे किसी एकके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था जन्तु ॥ ४ ॥

तं जातं मातरः सर्वाः परिवार्य समासत।
सततं पृष्ठतः कृत्वा कामभोगान् विशाम्पते ॥ ५ ॥

राजन्! उसके जन्म लेनेके पश्चात् सभी माताएँ काम-भोगकी ओरसे मुँह मोड़कर सदा उसी बच्चेके पास उसे सब ओरसे घेरकर बैठी रहती थीं ॥ ५ ॥

ततः पिपीलिका जन्तुं कदाचिददशत् स्फिचि।
स दष्टो व्यनदन्नादं तेन दुःखेन बालकः ॥ ६ ॥

एक दिन एक चींटीने जन्तुके कटिभागमें डँस लिया। चींटीके काटनेपर उसकी पीड़ासे विकल हो जन्तु सहसा रोने लगा ॥ ६ ॥

ततस्ता मातरः सर्वाः प्राक्रोशन् भृशदुःखिताः।
प्रवार्य जन्तुं सहसा स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७ ॥

इससे उसकी सब माताएँ भी सहसा जन्तुके शरीरसे चींटीको हटाकर अत्यन्त दुखी हो जोर-जोरसे रोने लगीं। उनके रोदनकी वह सम्मिलित ध्वनि बड़ी भयंकर प्रतीत हुई।

तमार्तनादं सहसा शुश्राव स महीपतिः।
अमात्यपर्षदो मध्ये उपविष्टः सहर्त्विजा ॥ ८ ॥

उस समय राजा सोमक पुरोहितके साथ मन्त्रियोंकी सभामें बैठे थे। उन्होंने अकस्मात् वह आर्तनाद सुना ॥८॥

ततः प्रस्थापयामास किमेतदिति पार्थिवः।
तस्मै क्षत्ता यथावृत्तमाचचक्षे सुतं प्रति ॥ ९ ॥

सुनकर राजाने 'यह क्या हो गया ?' इस बातका पता लगानेके लिये द्वारपालको भेजा। द्वारपालने लौटकर राजकुमारसे सम्बन्ध रखनेवाली पूर्वोक्त घटनाका यथावत् वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ९ ॥

त्वरमाणः स चोत्थाय सोमकः सह मन्त्रिभिः।
प्रविश्यान्तःपुरं पुत्रमाश्वासयदरिंदमः ॥ १० ॥

तब शत्रुदमन राजा सोमकने मन्त्रियोंसहित उठकर बड़ी उतावलीके साथ अन्तःपुरमें प्रवेश किया और पुत्रको आश्वासन दिया ॥ १० ॥

सान्त्वयित्वा तु तं पुत्रं निष्क्रम्यान्तःपुरान्नृपः।
ऋत्विजा सहितो राजन् सहामात्य उपाविशत्॥ ११ ॥

बेटेको सान्त्वना देकर राजा अन्तःपुरसे बाहर निकले और पुरोहित तथा मन्त्रियोंके साथ पुनः मन्त्रणागृहमें जा बैठे ॥

सोमक उवाच

धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत्।
नित्यातुरत्वाद् भूतानां शोक एवैकपुत्रता ॥ १२ ॥

उस समय सोमकने कहा—इस संसारमें किसी पुरुषके एक ही पुत्रका होना धिक्कारका विषय है। एक पुत्र होनेकी अपेक्षा तो पुत्रहीन रह जाना ही अच्छा है। एक ही संतान हो तो सब प्राणी उसके लिये सदा आकुल-व्याकुल रहते हैं, अतः एक पुत्रका होना शोक ही है ॥१२॥

इदं भार्याशतं ब्रह्मन् परीक्ष्य सदृशं प्रभो।
पुत्रार्थिना मया वोढं न तासां विद्यते प्रजा ॥ १३ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने अच्छी तरह जाँच-बूझकर पुत्रकी इच्छासे अपने योग्य सौ स्त्रियोंके साथ विवाह किया, किंतु उनके कोई संतान नहीं हुई ॥ १३ ॥

एकः कथंचिदुत्पन्नः पुत्रो जन्तुरयं मम।
यतमानासु सर्वासु किं नु दुःखमतः परम् ॥ १४ ॥

यद्यपि मेरी सभी रानियाँ संतानके लिये यत्नशील थीं, तथापि किसी तरह मेरे यही एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम जन्तु है। इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है ?॥

वयश्च समतीतं मे सभार्यस्य द्विजोत्तम।
आसां प्राणाः समायत्ता मम चात्रैकपुत्रके ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मेरी तथा इन रानियोंकी अधिक अवस्था बीत गयी, किंतु अभीतक मेरे और उन पत्नियोंके प्राण केवल इस एक पुत्रमें ही बसते हैं ॥ १५ ॥

स्यात्तु कर्म तथा युक्तं येन पुत्रशतं भवेत्।
महता लघुना वापि कर्मणा दुष्करेण वा ॥ १६ ॥

क्या कोई ऐसा उपयोगी कर्म हो सकता है, जिससे मेरे सौ पुत्र हो जायँ। भले ही वह कर्म महान् हो, लघु हो अथवा अत्यन्त दुष्कर हो ॥ १६ ॥

ऋत्विगुवाच

अस्ति चैतादृशं कर्म येन पुत्रशतं भवेत्।
यदि शक्नोषि तत् कर्तुमथ वक्ष्यामि सोमक ॥ १७ ॥

पुरोहितने कहा—सोमक ! ऐसा कर्म है, जिससे तुम्हें सौ पुत्र हो सकते हैं। यदि तुम उसे कर सको तो बताऊँगा ॥

सोमक उवाच

कार्यं वा यदि वाकार्यं येन पुत्रशतं भवेत्।
कृतमेवेति तद् विद्धि भगवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १८ ॥

सोमकने कहा—भगवन् ! आप वह कर्म मुझे बताइये, जिससे सौ पुत्र हो सकते हैं। वह करने योग्य हो या न हो, मेरेद्वारा उसे किया हुआ ही जानिये ॥ १८ ॥

ऋत्विगुवाच

यजस्व जन्तुना राजंस्त्वं मया वितते क्रतौ।
ततः पुत्रशतं श्रीमद् भविष्यत्यचिरेण ते ॥ १९ ॥

पुरोहितने कहा—राजन् ! मैं एक यज्ञ आरम्भ करवाऊँगा, उसमें तुम अपने पुत्र जन्तुकी आहुति देकर यजन करो। इससे शीघ्र ही तुम्हें सौ परम सुन्दर पुत्र प्राप्त होंगे ॥ १९ ॥

वपायां हूयमानायां धूममाघ्राय मातरः।
ततस्ताः सुमहावीर्याञ्जनयिष्यन्ति ते सुतान् ॥ २० ॥

जिस समय उसकी चर्बीकी आहुति दी जायगी, उस समय उसके धूएँको सूँघ लेनेपर सब माताएँ (गर्भवती हो) आपके लिये अत्यन्त पराक्रमी पुत्रोंको जन्म देंगी ॥ २० ॥

तस्यामेव तु ते जन्तुर्भविता पुनरात्मजः।
उत्तरे चास्य सौवर्णं लक्ष्म पार्श्वे भविष्यति ॥ २१ ॥

आपका पुत्र जन्तु पुनः अपनी माताके ही पेटसे उत्पन्न होगा। उस समय उसकी बायीं पसलीमें एक सुनहरा चिह्न होगा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें जन्तूपाख्यानविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमकको सौ पुत्रोंकी प्राप्ति तथा सोमक और पुरोहितका समानरूपसे नरक और पुण्यलोकोंका उपभोग करना

सोमक उवाच

ब्रह्मन् यद् यद् यथा कार्यं तत् कुरुष्व तथा तथा।
पुत्रकामतया सर्वं करिष्यामि वचस्तव ॥ १ ॥

सोमकने कहा—ब्रह्मन्! जो-जो कार्य जैसे-जैसे करना हो, वह उसी प्रकार कीजिये। मैं पुत्रकी कामनासे आपकी समस्त आज्ञाओंका पालन करूँगा ॥ १ ॥

लोमश उवाच

ततः स याजयामास सोमकं तेन जन्तुना।
मातरस्तु बलात् पुत्रमपाकर्षुः कृपान्विताः ॥ २ ॥
हा हताः स्मेति वाशन्त्यस्तीव्रशोकसमाहताः।
रुदन्त्यः करुणं चापि गृहीत्वा दक्षिणे करे ॥ ३ ॥
सव्ये पाणौ गृहीत्वा तु याजकोऽपि स्म कर्षति।
कुररीणामिवार्तानां समाकृष्य तु तं सुतम् ॥ ४ ॥
विशस्य चैनं विधिवद् वपामस्य जुहाव सः।
वपायां हूयमानायां गन्धमाघ्राय मातरः ॥ ५ ॥
आर्ता निपेतुः सहसा पृथिव्यां कुरुनन्दन।
सर्वाश्च गर्भानलभंस्ततस्ताः परमाङ्गनाः ॥ ६ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब पुरोहितने राजा सोमकसे जन्तुकी बलि देकर किये जानेवाले यज्ञको प्रारम्भ करवाया। उस समय करुणामयी माताएँ अत्यन्त शोकसे व्याकुल हो 'हाय! हम मारी गयीं' ऐसा कहकर रोती हुई अपने पुत्र जन्तुको बलपूर्वक अपनी ओर खींच रही थीं। वे करुण स्वरमें रोती हुई बालकके दाहिने हाथको पकड़कर खींचती थीं और पुरोहितजी उसके बायें हाथको पकड़कर अपनी ओर खींच रहे थे। सब रानियाँ शोकसे आतुर हो कुररी पक्षीकी भाँति विलाप कर रही थीं और पुरोहितने उस बालकको छीनकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले तथा विधिपूर्वक उसकी चर्बियोंकी आहुति दी। कुरुनन्दन! चर्बीकी आहुतिके समय बालककी माताएँ धूमकी गन्ध सूँघकर सहसा शोकपीडित हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं। तदनन्तर वे सब सुन्दरी रानियाँ गर्भवती हो गयीं ॥ २—६ ॥

ततो दशसु मासेषु सोमकस्य विशाम्पते।
जज्ञे पुत्रशतं पूर्णं तासु सर्वासु भारत ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर दस मास बीतनेपर उन सबके गर्भसे राजा सोमकके सौ पुत्र हुए ॥ ७ ॥

जन्तुर्ज्येष्ठः समभवज्जनित्र्यामेव पार्थिव।
स तासामिष्टः एवासीन्न तथा ते निजाः सुताः ॥ ८ ॥

राजन्! सोमकका ज्येष्ठ पुत्र जन्तु अपनी माताके ही गर्भसे प्रकट हुआ, वही उन सब रानियोंको विशेष प्रिय था। उन्हें अपने पुत्र उतने प्यारे नहीं लगते थे ॥ ८ ॥

तच्च लक्षणमस्यासीत् सौवर्णं पार्श्व उत्तरे।
तस्मिन् पुत्रशते चाग्र्यः स बभूव गुणैरपि ॥ ९ ॥

उसकी दाहिनी पसलीमें पूर्वोक्त सुनहरा चिह्न स्पष्ट दिखायी देता था। राजाके सौ पुत्रोंमें अवस्था और गुणोंकी दृष्टिसे भी वही श्रेष्ठ था ॥ ९ ॥

ततः स लोकमगमत् सोमकस्य गुरुः परम्।
अथ काले व्यतीते तु सोमकोऽप्यगमत् परम् ॥ १० ॥
अथ तं नरके घोरे पच्यमानं ददर्श सः।
तमपृच्छत् किमर्थं त्वं नरके पच्यसे द्विज ॥ ११ ॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् सोमकके पुरोहित परलोकवासी हो गये। थोड़े दिनोंके बाद राजा सोमक भी परलोकवासी हो गये। यमलोकमें जानेपर सोमकने देखा, पुरोहितजी घोर नरककी आगमें पकाये जा रहे हैं। उन्हें उस अवस्थामें देखकर सोमकने पूछा—'ब्रह्मन्! आप नरककी आगमें कैसे पकाये जा रहे हैं?' ॥ १०-११ ॥

तमब्रवीद् गुरुः सोऽथ पच्यमानोऽग्निना भृशम्।
त्वं मया याजितो राजंस्तस्येदं कर्मणः फलम् ॥ १२ ॥
एतच्छ्रुत्वा स राजर्षिर्धर्मराजमथाब्रवीत्।
अहमत्र प्रवेक्ष्यामि मुच्यतां मम याजकः ॥ १३ ॥
मत्कृते हि महाभागः पच्यते नरकाग्निना।
(सोऽहमात्मानमाधास्ये नरकान्मुच्यतां गुरुः।)

तब नरकाग्निसे अधिक संतप्त होते हुए पुरोहितने कहा—'राजन्! मैंने तुम्हें जो (तुम्हारे पुत्रकी आहुति देकर) यज्ञ करवाया था, उसी कर्मका यह फल है।' यह सुनकर राजर्षि सोमकने धर्मराजसे कहा—'भगवन्! मैं इस नरकमें प्रवेश करूँगा। आप मेरे पुरोहितको छोड़ दीजिये। वे महाभाग मेरे ही कारण नरकाग्निमें पक रहे हैं। अतः मैं अपने आपको नरकमें रखूँगा, परंतु मेरे गुरुजीको उससे छुटकारा मिल जाना चाहिये' ॥ १२-१३½ ॥

धर्म उवाच

नान्यः कर्तुः फलं राजन्नुपभुङ्क्ते कदाचन।
इमानि तव दृश्यन्ते फलानि वदतां वर ॥ १४ ॥

धर्मने कहा—राजन्! कर्ताके सिवा दूसरा कोई उसके किये हुए कर्मोंका फल कभी नहीं भोगता है। वक्ताओंमें

श्रेष्ठ महाराज ! तुम्हें अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप जो ये पुण्य लोक प्राप्त हुए हैं, प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं ॥ १४ ॥

सोमक उवाच

पुण्यान्न कामये लोकानृतेऽहं ब्रह्मवादिनम्।
इच्छाम्यहमनेनैव सह वस्तुं सुरालये ॥ १५ ॥
नरके वा धर्मराज कर्मणास्य समो ह्यहम्।
पुण्यापुण्यफलं देव सममस्त्वावयोरिदम् ॥ १६ ॥

सोमक बोले—धर्मराज ! मैं अपने वेदवेत्ता पुरोहितके बिना पुण्यलोकोंमें जानेकी इच्छा नहीं रखता। स्वर्गलोक हो या नरक—मैं कहीं भी इन्हींके साथ रहना चाहता हूँ। देव ! मेरे पुण्यकर्मोंपर इनका मेरे समान ही अधिकार है। हम दोनोंको यह पुण्य और पापका फल समानरूपसे मिलना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

धर्मराज उवाच

यद्येवमीप्सितं राजन् भुङ्क्ष्वास्य सहितः फलम्।
तुल्यकालं सहानेन पश्चात् प्राप्स्यसि सद्गतिम् ॥ १७ ॥

धर्मराज बोले—राजन् ! यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो इनके साथ रहकर उतने ही समयतक तुम भी पापकर्मोंका फल भोगो, इसके बाद तुम्हें उत्तम गति प्राप्त होगी। १७।

लोमश उवाच

स चकार तथा सर्वं राजा राजीवलोचनः।
क्षीणपापश्च तस्मात् स विमुक्तो गुरुणा सह ॥ १८ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब कमलनयन राजा सोमकने धर्मराजके कथनानुसार सब कार्य किया और भोगद्वारा पाप नष्ट हो जानेपर वे पुरोहितके साथ ही नरकसे छूट गये ॥ १८ ॥

लेभे कामाञ्शुभान् राजन् कर्मणा निर्जितान् स्वयम्।
सह तेनैव विप्रेण गुरुणा स गुरुप्रियः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् उन गुरुप्रेमी नरेशने अपने गुरुके साथ ही पुण्यकर्मोंद्वारा स्वयं प्राप्त किये हुए पुण्य-लोकके शुभ भोगोंका उपभोग किया ॥ १९ ॥

एष तस्याश्रमः पुण्यो य एषोऽग्रे विराजते।
क्षान्त उष्यात्र षड्रात्रं प्राप्नोति सुगतिं नरः ॥ २० ॥

यह उन्हीं राजा सोमकका पवित्र आश्रम है, जो सामने ही सुशोभित हो रहा है। यहाँ क्षमाशील होकर छः रात निवास करनेसे मनुष्य उत्तम गति प्राप्त कर लेता है ॥२०॥

एतस्मिन्नपि राजेन्द्र वत्स्यामो विगतज्वराः।
षड्रात्रं नियतात्मानः सज्जीभव कुरूद्वह ॥ २१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! हम सब लोग इस आश्रममें छः राततक मन और इन्द्रियोंपर संयम रखते हुए निश्चिन्त होकर निवास करेंगे। तुम इसके लिये तैयार हो जाओ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें जन्तूपाख्यानविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल २१$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रके द्वारभूत प्लक्षप्रस्रवण नामक यमुनातीर्थ एवं सरस्वतीतीर्थकी महिमा

लोमश उवाच

अस्मिन् किल स्वयं राजन्निष्टवान् वै प्रजापतिः।
सत्रमिष्टीकृतं नाम पुरा वर्षसहस्रिकम् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें यहाँ साक्षात् प्रजापतिने इष्टीकृत नामक सत्रका एक सहस्र वर्षोंतक चालू रहनेवाला अनुष्ठान किया था ॥ १ ॥

अम्बरीषश्च नाभाग इष्टवान् यमुनामनु।
यज्ञेष्ट्वा दश पद्मानि सदस्येभ्योऽभिसृष्टवान् ॥ २ ॥
यज्ञैश्च तपसा चैव परां सिद्धिमवाप सः।

यहीं यमुनाके तटपर नाभाग-पुत्र अम्बरीषने भी यज्ञ किया था और यज्ञ पूर्ण होनेके पश्चात् सदस्योंको दस पद्म मुद्राएँ दान की थीं तथा यज्ञों और तपस्याद्वारा परम सिद्धि प्राप्त कर ली थीं ॥ २$\frac{1}{2}$ ॥

देशश्च नाहुषस्यायं यज्वनः पुण्यकर्मणः ॥ ३ ॥
सार्वभौमस्य कौन्तेय ययातेरमितौजसः।
स्पर्धमानस्य शक्रेण तस्येदं यज्ञवास्त्विह ॥ ४ ॥

कुन्तीनन्दन ! यह नहुषकुमार ययातिका देश है, जो पुण्यकर्मा, याज्ञिक, महातेजस्वी और सार्वभौम सम्राट् थे। वे सदा इन्द्रके साथ ईर्ष्या रखते थे। यहाँ यह उन्हींकी यज्ञभूमि है ॥ ३-४ ॥

पश्य नानाविधाकारैरग्निभिर्निचितां महीम्।
मज्जन्तीमिव चाक्रान्तां ययातेर्यज्ञकर्मभिः ॥ ५ ॥

देखो, यहाँ अग्नियोंसे युक्त नाना प्रकारकी वेदियाँ हैं, जिनसे यह सारी भूमि व्याप्त हो रही है; मानो पृथ्वी ययातिके यज्ञ-कर्मोंसे आक्रान्त हो उनकी पुण्य-धारामें डूबी जा रही है ॥ ५ ॥

एषा शम्येकपत्रा या सरकं चैतदुत्तमम्।

पश्य रामह्रदानेतान् पश्य नारायणाश्रमम् ॥ ६ ॥

यह एक पत्तेवाली शमीका अवशेष अंश है तथा यह उत्तम सरोवर है। देखो, ये परशुरामजीके कुण्ड हैं और यह नारायणाश्रम है ॥ ६ ॥

एतच्चर्चीकपुत्रस्य योगैर्विचरतो महीम् ।
प्रसर्पणं महीपाल रौप्यायाममितौजसः ॥ ७ ॥

महाराज ! योगशक्तिसे सारी पृथ्वीपर विचरनेवाले महातेजस्वी ऋचीकनन्दन जमदग्निका प्रसर्पण (घूमने-फिरनेका स्थान) तीर्थ है, जो रौप्या नामक नदीके समीप सुशोभित है ॥ ७ ॥

अत्रानुवंशं पठतः शृणु मे कुरुनन्दन ।
उलूखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन ! इस तीर्थके विषयमें एक परम्परा-प्राप्त कथाको सूचित करनेवाले कुछ श्लोक हैं, जिन्हें मैं पढ़ता हूँ, तुम मेरे मुखसे सुनो—(प्राचीन कालकी बात है, कोई स्त्री अपने पुत्रके साथ इस तीर्थमें निवास करनेके लिये आयी थी, उससे) एक भयंकर पिशाचीने, जिसने ओखली-जैसे आभूषण पहन रक्खे थे, उन श्लोकोंको कहा था—॥ ८ ॥

युगन्धरे दधि प्राश्य उषित्वा चाच्युतस्थले ।
तद्वद् भूतलये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

श्लोक (का भाव) इस प्रकार है—'अरी ! तू युगन्धरमें दही खाकर* अच्युतस्थलमें निवास करके† और भूतलयमें नहाकर‡ यहाँ पुत्रसहित निवास करनेकी अधिकारिणी कैसे हो सकती है ? ॥ ९ ॥

एकरात्रमुषित्वेह द्वितीयं यदि वत्स्यसि ।
एतद् वै ते दिवावृत्तं रात्रौ वृत्तमतोऽन्यथा ॥ १० ॥

'(अच्छा, आयी है तो एक रात रह ले,) यदि एक रात यहाँ रह लेनेके पश्चात् दूसरी रातमें भी रहेगी तो दिनमें तो तेरा यह हाल है (आज दिनमें तो तुमको यह कष्ट दिया गया है) और रातमें तेरे साथ अन्यथा बर्ताव होगा (विशेष कष्ट दिया जायगा)' ॥ १० ॥

अद्य चात्र निवत्स्यामः क्षपां भरतसत्तम ।
द्वारमेतत् तु कौन्तेय कुरुक्षेत्रस्य भारत ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! (इस किंवदन्तीके अनुसार किसीको भी यहाँ एक ही रात रहना चाहिये) अतः हमलोग केवल आजकी रातमें ही यहाँ निवास करेंगे। युधिष्ठिर ! यह तीर्थ कुरुक्षेत्रका द्वार बताया गया है ॥ ११ ॥

अत्रैव नाहुषो राजा राजन् क्रतुभिरिष्टवान् ।
ययातिर्बहुरत्नौघैर्यत्रेन्द्रो मुदमभ्यगात् ॥ १२ ॥

राजन् ! नहुषनन्दन राजा ययातिने यहीं प्रचुर रत्नराशिकी दक्षिणासे युक्त अनेक यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया था। उन यज्ञोंमें इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई थी ॥ १२ ॥

एतत् प्लक्षावतरणं यमुनातीर्थमुत्तमम् ।
एतद् वै नाकपृष्ठस्य द्वारमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥

यह यमुनाजीका प्लक्षावतरण नामक उत्तम तीर्थ है। मनीषी पुरुष इसे स्वर्गलोकका द्वार बताते हैं ॥ १३ ॥

अत्र सारस्वतैर्यज्ञैरीजानाः परमर्षयः ।
यूपोलूखलिकास्तात गच्छन्त्यवभृथप्लवम् ॥ १४ ॥

यहीं यूप और ओखली आदि यज्ञ-साधनोंका संग्रह करनेवाले महर्षियोंने सारस्वत यज्ञोंका अनुष्ठान करके अवभृथ स्नान किया था ॥ १४ ॥

अत्र वै भरतो राजा राजन् क्रतुभिरिष्टवान् ।
हयमेधेन यज्ञेन मेध्यमश्वमवासृजत् ॥ १५ ॥
असकृत् कृष्णसारङ्गं धर्मेणाप्य च मेदिनीम् ।
अत्रैव पुरुषव्याघ्र मरुत्तः सत्रमुत्तमम् ॥ १६ ॥
प्राप चैवर्षिमुख्येन संवर्तेनाभिपालितः ।
अत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यति ।
पूयते दुष्कृताच्चैव अत्रापि समुपस्पृश ॥ १७ ॥

राजन् ! राजा भरतने धर्मपूर्वक वसुधाका राज्य पाकर यहीं बहुत-से यज्ञ किये थे और यहीं अश्वमेध यज्ञके उद्देश्यसे उन्होंने अनेक बार कृष्णमृगके समान रंगवाले यज्ञसम्बन्धी श्यामकर्ण अश्वको भूतलपर भ्रमणके लिये छोड़ा था। नरश्रेष्ठ ! इसी तीर्थमें ऋषिप्रवर संवर्तसे सुरक्षित हो महाराज मरुत्तने उत्तम यज्ञका अनुष्ठान किया। राजेन्द्र ! यहाँ स्नान

---

* युगन्धर एक पर्वत या प्रदेशका नाम है, जहाँके लोग ऊँटनी और गदहीतकके दूधका दही जमा लेते हैं। उस स्त्रीने कभी वहाँ जाकर दही खाया था। धर्म-शास्त्रमें ऊँट और एक खुरवाले पशुओंके दूधको मदिराके तुल्य बताया गया है—'औष्ट्रमेकशफं क्षीरं सुरातुल्यम्।' इति।

† प्राचीन कालमें अच्युतस्थल नामक गाँव वर्णसंकरजातीय अन्त्यजों एवं चाण्डालोंका निवासस्थान था। उस स्त्रीने उस गाँवमें किसी समय निवास किया था। धर्म-शास्त्रके अनुसार वर्णसंकरोंके संसर्गमें आनेपर प्रायश्चित्तरूपसे प्राजापत्य व्रतका अनुष्ठान करना चाहिये—'संसृज्य संकरैः सार्धं प्राजापत्यं व्रतं चरेत्।' इति।

‡ 'भूतलय' नामक गाँव चोरों और डाकुओंका अड्डा था। वहाँ एक नदी थी, जिसमें मुर्दे बहाये जाते थे। उस स्त्रीने उसी दूषित जलमें स्नान किया था। धर्म-शास्त्रके अनुसार उस गाँवमें रहनेमात्रसे प्राजापत्य व्रत करनेकी आवश्यकता है—'प्रोष्य भूतलये विप्रः प्राजापत्यं व्रतं चरेत्।' इति॥ इन तीनों दोषोंसे युक्त होनेके कारण वह स्त्री तीर्थवासकी अधिकारिणी नहीं रह गयी थी।

करके शुद्ध हुआ मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देखता है और पापसे मुक्त हो पवित्र हो जाता है; अतः तुम इसमें भी स्नान करो ॥ १५-१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्र सभ्रातृकः स्नात्वा स्तूयमानो महर्षिभिः ।
लोमशं पाण्डवश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भाइयोंसहित स्नान करके महर्षियोंद्वारा प्रशंसित हो पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने लोमशजीसे इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यामि तपसा सत्यविक्रम ।
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठं पश्यामि श्वेतवाहनम् ॥ १९ ॥

'मुनीश्वर ! तपोबलसे सम्पन्न होनेके कारण वस्तुतः आप ही यथार्थ पराक्रमी हैं । आपकी कृपासे आज मैं इस प्लक्षावतरणके जलमें स्थित होकर सब लोकोंको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ । यहींसे मुझे पाण्डवश्रेष्ठ श्वेतवाहन अर्जुन भी दिखायी देते हैं' ॥ १९ ॥

लोमश उवाच

एवमेतन्महाबाहो पश्यन्ति परमर्षयः ।
(इह स्नात्वा तपोयुक्तांस्त्रीँल्लोकान् सचराचरान्)
सरस्वतीमिमां पुण्यां पुण्यैकशरणावृताम् ॥ २० ॥

लोमशजीने कहा—महाबाहो ! तुम ठीक कहते हो । यहाँ स्नान करके तपःशक्तिसम्पन्न श्रेष्ठ ऋषिगण इसी प्रकार चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंका दर्शन करते हैं । अब इस पुण्यसलिला सरस्वतीका दर्शन करो, जो एकमात्र पुण्यका ही आश्रय लेनेवाले पुरुषोंसे घिरी हुई है ॥ २० ॥

यत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ धूतपाप्मा भविष्यसि ।
इह सारस्वतैर्यज्ञैरिष्टवन्तः सुरर्षयः ।
ऋषयश्चैव कौन्तेय तथा राजर्षयोऽपि च ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ ! इसमें स्नान करनेसे तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे । कुन्तीनन्दन ! यहाँ अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियोंने सारस्वत यज्ञोंका अनुष्ठान किया है ॥ २१ ॥

वेदी प्रजापतेरेषा समन्तात् पञ्चयोजना ।
कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मनः ॥ २२ ॥

यह सब ओर पाँच योजन फैली हुई प्रजापतिकी यज्ञ-वेदी है । यही यज्ञपरायण महात्मा राजा कुरुका क्षेत्र है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामेकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक एक सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २२½ श्लोक हैं)

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विभिन्न तीर्थोंकी महिमा और राजा उशीनरकी कथाका आरम्भ

लोमश उवाच

इह मर्त्यास्तनूस्त्यक्त्वा स्वर्गं गच्छन्ति भारत ।
मर्तुकामा नरा राजन्निहायान्ति सहस्रशः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भारत ! यहाँ शरीर छूट जानेपर मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं; इसलिये हजारों इस तीर्थमें मरनेके लिये आकर निवास करते हैं ॥ १ ॥

एवमाशीः प्रयुक्ता हि दक्षेण यजता पुरा ।
इह ये वै मरिष्यन्ति ते वै स्वर्गजितो नराः ॥ २ ॥
एषा सरस्वती रम्या दिव्या चौघवती नदी ।
एतद् विनशनं नाम सरस्वत्या विशाम्पते ॥ ३ ॥

प्राचीन कालमें प्रजापति दक्षने यज्ञ करते समय यह आशीर्वाद दिया था कि जो मनुष्य यहाँ मरेंगे, वे स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लेंगे । यह रमणीय, दिव्य और तीव्र प्रवाहवाली सरस्वती नदी है और यह सरस्वतीका विनशन नामक तीर्थ है ॥ २-३ ॥

द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां दोषात् सरस्वती ।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः ॥ ४ ॥
एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती ।
यत्रैनामभ्यवर्तन्त सर्वाः पुण्याः समुद्रगाः ॥ ५ ॥

यह निषादराजका द्वार है । वीर युधिष्ठिर ! उन निषादोंके ही संसर्गदोषसे सरस्वती नदी यहाँ इसलिये पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हो गयी कि निषाद मुझे जान न सकें । यह चमसोद्भेदतीर्थ है; जहाँ सरस्वती पुनः प्रकट हो गयी है । यहाँ समुद्रमें मिलनेवाली सम्पूर्ण पवित्र नदियाँ इसके सम्मुख आयी हैं ॥ ४-५ ॥

एतत् सिन्धोर्महत् तीर्थं यत्रागस्त्यमरिंदम ।
लोपामुद्रा समागम्य भर्तारमवृणीत वै ॥ ६ ॥

शत्रुदमन ! यह सिन्धुका महान् तीर्थ है; जहाँ जाकर लोपामुद्राने अपने पति अगस्त्यमुनिका वरण किया था ॥ ६ ॥

एतत् प्रकाशते तीर्थं प्रभासं भास्करद्युते ।
इन्द्रस्य दयितं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ॥ ७ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी नरेश ! यह प्रभासतीर्थ* प्रकाशित

* 'प्रभास' की जगह 'हाटक' पाठभेद भी मिलता है ।

हो रहा है, जो इन्द्रको बहुत प्रिय है । यह पुण्यमय क्षेत्र सब पापोंका नाश करनेवाला और परम पवित्र है ॥ ७ ॥

एतद् विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम् ।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥ ८ ॥
अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवानृषिः ।
बद्ध्वाऽऽत्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ॥ ९ ॥

यह विष्णुपद नामवाला उत्तम तीर्थ दिखायी देता है तथा वह परम पावन और मनोरम विपाशा (व्यास) नदी है । यहीं भगवान् वसिष्ठ मुनि पुत्रशोकसे पीड़ित हो अपने शरीरको पाशोंसे बाँधकर कूद पड़े थे, परंतु पुनः विपाश (पाशमुक्त) होकर जलसे बाहर निकल आये ॥ ८-९ ॥

काश्मीरमण्डलं चैतत् सर्वपुण्यमरिंदम ।
महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥ १० ॥
यत्रोत्तराणां सर्वेषामृषीणां नाहुषस्य च ।
अग्नेश्चैवात्र संवादः काश्यपस्य च भारत ॥ ११ ॥

शत्रुदमन ! यह पुण्यमय काश्मीरमण्डल है, जहाँ बहुत-से महर्षि निवास करते हैं । तुम भाइयोंसहित इसका दर्शन करो । भारत ! यह वही स्थान है, जहाँ उत्तरके समस्त ऋषि, नहुषकुमार ययाति, अग्नि और काश्यपका संवाद हुआ था ॥ १०-११ ॥

एतद् द्वारं महाराज मानसस्य प्रकाशते ।
वर्षमस्य गिरेर्मध्ये रामेण श्रीमता कृतम् ॥ १२ ॥

महाराज ! यह मानससरोवरका द्वार प्रकाशित हो रहा है । इस पर्वतके मध्यभागमें परशुरामजीने अपना आश्रम बनाया था ॥ १२ ॥

एष वातिकषण्डो वै प्रख्यातः सत्यविक्रमः ।
नात्यवर्तत यद्द्वारं विदेहादुत्तरं च यः ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! परशुरामजी सर्वत्र विख्यात हैं । वे सत्यपराक्रमी हैं । उनके इस आश्रमका द्वार विदेह देशसे उत्तर है । यह बवंडर (वायुका तूफान) भी उनके इस द्वारका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकता है (फिर औरोंकी तो बात ही क्या है) ॥ १३ ॥

इदमाश्चर्यमपरं देशेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ।
क्षीणे युगे तु कौन्तेय शर्वस्य सह पार्षदैः ॥ १४ ॥
सहोमया च भवति दर्शनं कामरूपिणः ।
अस्मिन् सरसि सत्रैर्वै चैत्रे मासि पिनाकिनम् ॥ १५ ॥
यजन्ते याजकाः सम्यक् परिवारं शुभार्थिनः ।
अत्रोपस्पृश्य सरसि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ॥ १६ ॥
क्षीणपापः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुते नात्र संशयः ।
एष उज्जानको नाम पावकिर्यत्र शान्तवान् ।
अरुन्धतीसहायश्च वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस देशमें दूसरी आश्चर्यकी बात यह है कि यहाँ निवास करनेवाले साधकको युगके अन्तमें पार्षदों तथा पार्वतीसहित इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले भगवान् शंकरका प्रत्यक्ष दर्शन होता है । इस सरोवरके तटपर चैत्र मासमें कल्याणकामी याजक पुरुष अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा परिवारसहित पिनाकधारी भगवान् शिवकी आराधना करते हैं । इस तालाबमें श्रद्धापूर्वक स्नान एवं आचमन करके पापमुक्त हुआ जितेन्द्रिय पुरुष शुभ लोकोंमें जाता है; इसमें संशय नहीं है । यह सरोवर उज्जानक नामसे प्रसिद्ध है । यहाँ भगवान् स्कन्द तथा अरुन्धतीसहित महर्षि वसिष्ठने साधना करके सिद्धि एवं शान्ति प्राप्त की है ॥ १४–१७ ॥

ह्रदश्च कुशवानेष यत्र पद्मं कुशेशयम् ।
आश्रमश्चैव रुक्मिण्या यत्राशाम्यदकोपना ॥ १८ ॥

यह कुशवान् नामक ह्रद है, जिसमें कुशेशय नामवाले कमल खिले रहते हैं । यहीं रुक्मिणीदेवीका आश्रम है, जहाँ उन्होंने क्रोधको जीतकर शान्तिका लाभ किया था ॥ १८ ॥

समाधीनां समासस्तु पाण्डवेय श्रुतस्त्वया ।
तं द्रक्ष्यसि महाराज भृगुतुङ्गं महागिरिम् ॥ १९ ॥

पाण्डुनन्दन ! महाराज ! तुमने जिसके विषयमें यह सुन रखा है कि वह योग-सिद्धिका संक्षिप्त स्वरूप है—जिसके दर्शनमात्रसे समाधिरूप फलकी प्राप्ति हो जाती है, उस भृगुतुङ्ग नामक महान् पर्वतका अब तुम दर्शन करोगे ॥ १९ ॥

वितस्तां पश्य राजेन्द्र सर्वपापप्रमोचनीम् ।
महर्षिभिश्चाध्युषितां शीततोयां सुनिर्मलाम् ॥ २० ॥

राजेन्द्र ! वितस्ता (झेलम) नदीका दर्शन करो, जो सब पापोंसे मुक्त करनेवाली है । इसका जल बहुत शीतल और अत्यन्त निर्मल है । इसके तटपर बहुत-से महर्षिगण निवास करते हैं ॥ २० ॥

जलां चोपजलां चैव यमुनामभितो नदीम् ।
उशीनरो वै यत्रेष्ट्वा वासवादत्यरिच्यत ॥ २१ ॥

यमुना नदीके दोनों पार्श्वमें जला और उपजला नामकी दो नदियोंका दर्शन करो, जहाँ राजा उशीनरने यज्ञ करके इन्द्रसे भी ऊँचा स्थान प्राप्त किया था ॥ २१ ॥

तां देवसमितिं तस्य वासवश्च विशाम्पते ।
अभ्यागच्छन्नृपवरं ज्ञातुमग्निश्च भारत ॥ २२ ॥

महाराज भरतनन्दन ! नृपश्रेष्ठ उशीनरके महत्त्वको समझनेके लिये किसी समय इन्द्र और अग्नि उनकी राजसभामें गये ॥ २२ ॥

जिज्ञासमानौ वरदौ महात्मानमुशीनरम् ।
इन्द्रः श्येनः कपोतोऽग्निर्भूत्वा यज्ञेऽभिजग्मतुः ॥ २३ ॥

वे दोनों वरदायक महात्मा उस समय उशीनरकी परीक्षा लेना चाहते थे; अतः इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारण किया और अग्निने कबूतरका। इस प्रकार वे राजाके यज्ञमण्डपमें गये ॥ २३ ॥

ऊरू राज्ञः समासाद्य कपोतः श्येनजाद् भयात्।
शरणार्थी तदा राजन् निलिल्ये भयपीडितः ॥ २४ ॥

अपनी रक्षाके लिये आश्रय चाहनेवाला कबूतर बाजके भयसे डरकर राजाकी गोदीमें जा छिपा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें श्येनकपोतीयोपाख्यानविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजा उशीनरद्वारा बाजको अपने शरीरका मांस देकर शरणमें आये हुए कबूतरके प्राणोंकी रक्षा करना

श्येन उवाच

धर्मात्मानं त्वाहुरेकं सर्वे राजन् महीक्षितः।
सर्वधर्मविरुद्धं त्वं कस्मात् कर्म चिकीर्षसि ॥ १ ॥
विहितं भक्षणं राजन् पीड्यमानस्य मे क्षुधा।
मा रक्षीर्धर्मलोभेन धर्ममुत्सृष्टवानसि ॥ २ ॥

तब बाजने कहा—राजन्! समस्त भूपाल केवल आपको ही धर्मात्मा बताते हैं। फिर आप यह सम्पूर्ण धर्मोंसे विरुद्ध कर्म कैसे करना चाहते हैं। महाराज! मैं भूखसे कष्ट पा रहा हूँ और कबूतर मेरा आहार नियत किया गया है। आप धर्मके लोभसे इसकी रक्षा न करें। वास्तवमें इसे आश्रय देकर आपने धर्मका परित्याग ही किया है ॥ १-२ ॥

राजोवाच

संत्रस्तरूपस्त्राणार्थी त्वत्तो भीतो महाद्विज।
मत्सकाशमनुप्राप्तः प्राणगृध्नुरयं द्विजः ॥ ३ ॥
एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याभयार्थिनः।
अप्रदाने परं धर्मं कथं श्येन न पश्यसि ॥ ४ ॥

राजा बोले—पक्षिराज! यह कबूतर तुमसे डरकर घबराया हुआ है और अपने प्राण बचानेकी इच्छासे मेरे समीप आया है। यह अपनी रक्षा चाहता है। बाज! इस प्रकार अभय चाहनेवाले इस कबूतरको यदि मैं तुमको नहीं सौंप रहा हूँ, यह तो परम धर्म है। इसे तुम कैसे नहीं देख रहे हो? ॥

प्रस्पन्दमानः सम्भ्रान्तः कपोतः श्येन लक्ष्यते।
मत्सकाशं जीवितार्थी तस्य त्यागो विगर्हितः ॥ ५ ॥
यो हि कश्चिद् द्विजान् हन्याद् गां वा लोकस्य मातरम्।
शरणागतं च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम् ॥ ६ ॥

बाज! देखो तो यह बेचारा कबूतर किस प्रकार भयसे व्याकुल हो थर-थर काँप रहा है। इसने अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये ही मेरी शरण ली है। ऐसी दशामें इसे त्याग देना बड़ी ही निन्दाकी बात है। जो मनुष्य ब्राह्मणोंकी हत्या करता है, जो जगन्माता गौका वध करता है तथा जो शरणमें आये हुएको त्याग देता है, इन तीनोंको समान पाप लगता है ॥ ५-६ ॥

श्येन उवाच

आहारात् सर्वभूतानि सम्भवन्ति महीपते।
आहारेण विवर्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ ७ ॥

बाजने कहा—महाराज! सब प्राणी आहारसे ही उत्पन्न होते हैं, आहारसे ही उनकी वृद्धि होती है और आहारसे ही जीवित रहते हैं ॥ ७ ॥

शक्यते दुस्त्यजेऽप्यर्थे चिररात्राय जीवितुम्।
न तु भोजनमुत्सृज्य शक्यं वर्तयितुं चिरम् ॥ ८ ॥

जिसको त्यागना बहुत कठिन है, उस अर्थके बिना भी मनुष्य बहुत दिनोंतक जीवित रह सकता है, परंतु भोजन छोड़ देनेपर कोई भी अधिक समयतक जीवन धारण नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

भक्ष्याद् वियोजितस्याद्य मम प्राणा विशाम्पते।
विसृज्य कायमेष्यन्ति पन्थानमकुतोभयम् ॥ ९ ॥
प्रमृते मयि धर्मात्मन् पुत्रदारादि नङ्क्ष्यति।
रक्षमाणः कपोतं त्वं बहून् प्राणान् न रक्षसि ॥ १० ॥

प्रजानाथ! आज आपने मुझे भोजनसे वंचित कर दिया है, इसलिये मेरे प्राण इस शरीरको छोड़कर अकुतोभय-पथ (मृत्यु) को प्राप्त हो जायँगे। धर्मात्मन्! इस प्रकार मेरी मृत्यु हो जानेपर मेरे स्त्री-पुत्र आदि भी (असहाय होनेके कारण) नष्ट हो जायँगे। इस तरह आप एक कबूतरकी रक्षा करके बहुत-से प्राणियोंकी रक्षा नहीं कर रहे हैं ॥

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥ ११ ॥

सत्यपराक्रमी नरेश! जो धर्म दूसरे धर्मका बाधक हो वह धर्म नहीं, कुधर्म है। जो दूसरे किसी धर्मका विरोध न करके प्रतिष्ठित होता है, वही वास्तविक धर्म है ॥ ११ ॥

विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ॥ १२ ॥

परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मोंमें गौरव-लाघवका विचार करके, जिसमें दूसरोंके लिये बाधा न हो, उसी धर्मका आचरण करना चाहिये ॥ १२ ॥

गुरुलाघवमादाय धर्माधर्मविनिश्चये ।
यतो भूयांस्ततो राजन् कुरुष्व धर्मनिश्चयम् ॥ १३ ॥

राजन् ! धर्म और अधर्मका निर्णय करते समय पुण्य और पापके गौरव-लाघवपर ही दृष्टि रखकर विचार कीजिये तथा जिसमें अधिक पुण्य हो, उसीको आचरणमें लाने योग्य धर्म ठहराइये ॥ १३ ॥

राजोवाच

बहुकल्याणसंयुक्तं भाषसे विहगोत्तम ।
सुपर्णः पक्षिराट् किं त्वं धर्मज्ञश्चास्यसंशयम् ॥ १४ ॥

राजाने कहा—पक्षिश्रेष्ठ ! तुम्हारी बातें अत्यन्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त हैं। तुम साक्षात् पक्षिराज गरुड़ तो नहीं हो ? इसमें संदेह नहीं कि तुम धर्मके ज्ञाता हो ॥ १४ ॥

तथा हि धर्मसंयुक्तं बहु चित्रं च भाषसे ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदिति त्वां लक्षयाम्यहम् ॥ १५ ॥

तुम जो बातें कह रहे हो, वे बड़ी ही विचित्र और धर्मसंगत हैं। मुझे लक्षणोंसे ऐसा जान पड़ता है कि ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें ज्ञात न हो ॥ १५ ॥

शरणैषिपरित्यागं कथं साध्विति मन्यसे ।
आहारार्थं समारम्भस्तव चायं विहंगम ॥ १६ ॥

तो भी तुम शरणागतके त्यागको कैसे अच्छा मानते हो ? यह मेरी समझमें नहीं आता। विहङ्गम ! वास्तवमें तुम्हारा यह उद्योग केवल भोजन प्राप्त करनेके लिये है ॥ १६ ॥

शक्यश्चाप्यन्यथा कर्तुमाहारोऽप्यधिकस्त्वया ।
गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां यच्चान्यदिह काङ्क्षसि ॥ १७ ॥

परंतु तुम्हारे लिये आहारका प्रबन्ध तो दूसरे प्रकारसे भी किया जा सकता है और वह इस कबूतरकी अपेक्षा अधिक हो सकता है ; सूअर, हिरन, भैंसा या कोई उत्तम पशु अथवा अन्य जो कोई भी वस्तु तुम्हें अभीष्ट हो, वह तुम्हारे लिये प्रस्तुत की जा सकती है ॥ १७ ॥

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न मृगान् विविधांस्तथा ।
भक्षयामि महाराज किं ममान्येन केनचित् ॥ १८ ॥

बाज बोला—महाराज ! मैं न सूअर खाऊँगा, न कोई उत्तम पशु और न भाँति-भाँतिके मृगोंका ही आहार करूँगा। दूसरी किसी वस्तुसे भी मुझे क्या लेना है ? ॥ १८ ॥

यस्तु मे देवविहितो भक्षः क्षत्रियपुङ्गव ।
तमुत्सृज महीपाल कपोतमिममेव मे ॥ १९ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! विधाताने मेरे लिये जो भोजन नियत किया है, वह तो यह कबूतर ही है; अतः भूपाल ! इसीको मेरे लिये छोड़ दीजिये ॥ १९ ॥

श्येनः कपोतानत्तीति स्थितिरेषा सनातनी ।
मा राजन् सारमज्ञात्वा कदलीस्कन्धमाश्रय ॥ २० ॥

यह सनातन कालसे चला आ रहा है कि बाज कबूतरोंको खाता है। राजन् ! धर्मके सारभूत तत्त्वको न जानकर आप केलेके खम्भे (-जैसे सारहीन धर्म) का आश्रय न लीजिये ॥ २० ॥

राजोवाच

राष्ट्रं शिबीनामृद्धं वै ददानि तव खेचर ।
यं वा कामयसे कामं श्येन सर्वं ददानि ते ॥ २१ ॥

राजाने कहा—विहङ्गम ! मैं शिबिदेशका समृद्धिशाली राज्य तुम्हें सौंप दूँगा, और भी जिस वस्तुकी तुम्हें इच्छा होगी, वह सब दे सकता हूँ ॥ २१ ॥

विनेमं पक्षिणं श्येन शरणार्थिनमागतम् ।
येनेमं वर्जयेथास्त्वं कर्मणा पक्षिसत्तम ।
तदाचक्ष्व करिष्यामि न हि दास्ये कपोतकम् ॥ २२ ॥

किंतु शरण लेनेकी इच्छासे आये हुए इस पक्षीको नहीं त्याग सकता। पक्षिश्रेष्ठ श्येन ! जिस कामके करनेसे तुम इसे छोड़ सको, वह मुझे बताओ; मैं वही करूँगा, किंतु इस कबूतरको तो नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

श्येन उवाच

उशीनर कपोते ते यदि स्नेहो नराधिप ।
आत्मनो मांसमुत्कृत्य कपोततुलया धृतम् ॥ २३ ॥
यदा समं कपोतेन तव मांसं नृपोत्तम ।
तदा देयं तु तन्मह्यं सा मे तुष्टिर्भविष्यति ॥ २४ ॥

बाज बोला—महाराज उशीनर ! यदि आपका इस कबूतरपर स्नेह है तो इसीके बराबर अपना मांस काटकर तराजूमें रखिये। नृपश्रेष्ठ ! जब वह तौलमें इस कबूतरके बराबर हो जाय तब वही मुझे दे दीजियेगा, उससे मेरी तृप्ति हो जायगी ॥ २३-२४ ॥

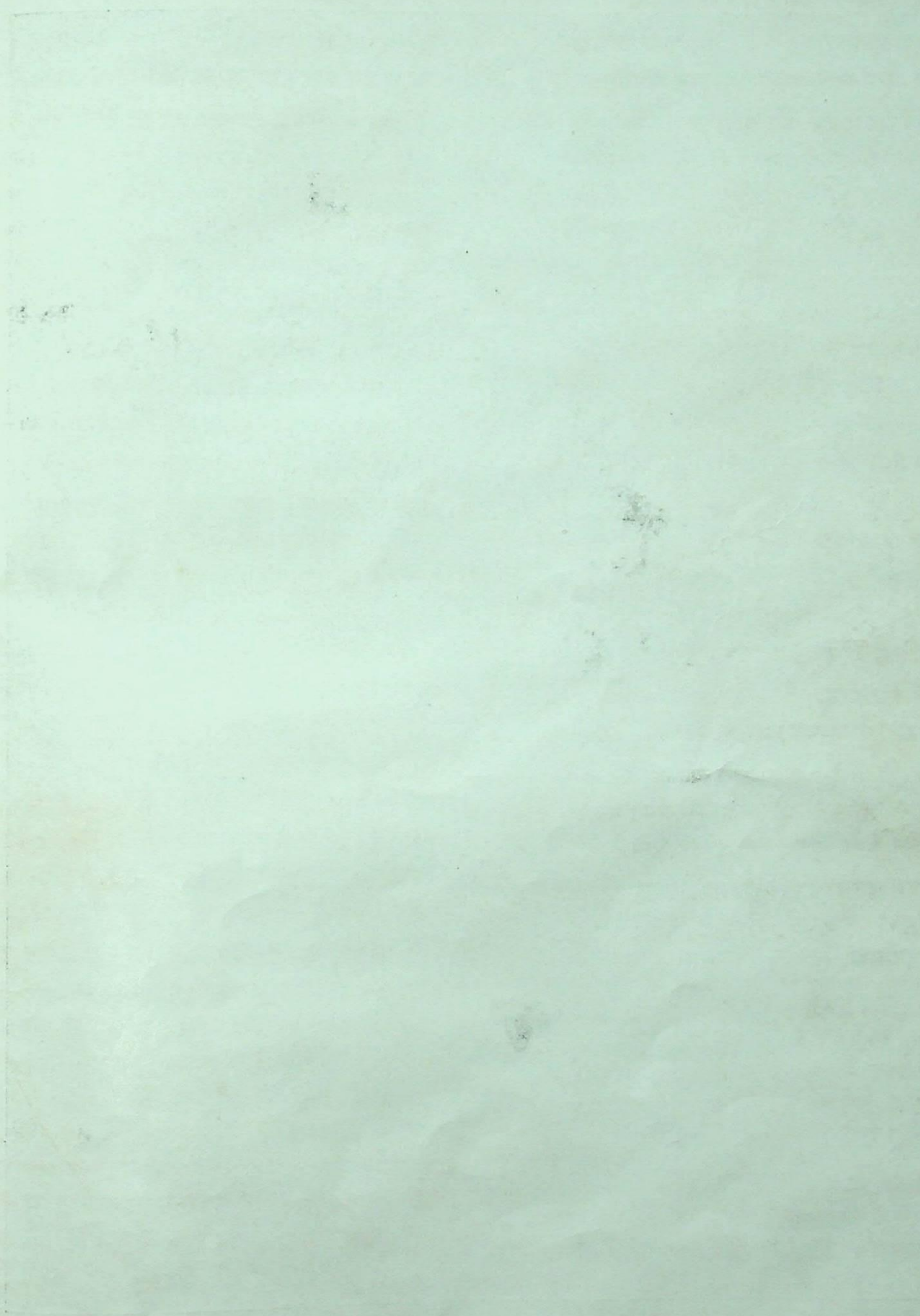
राजोवाच

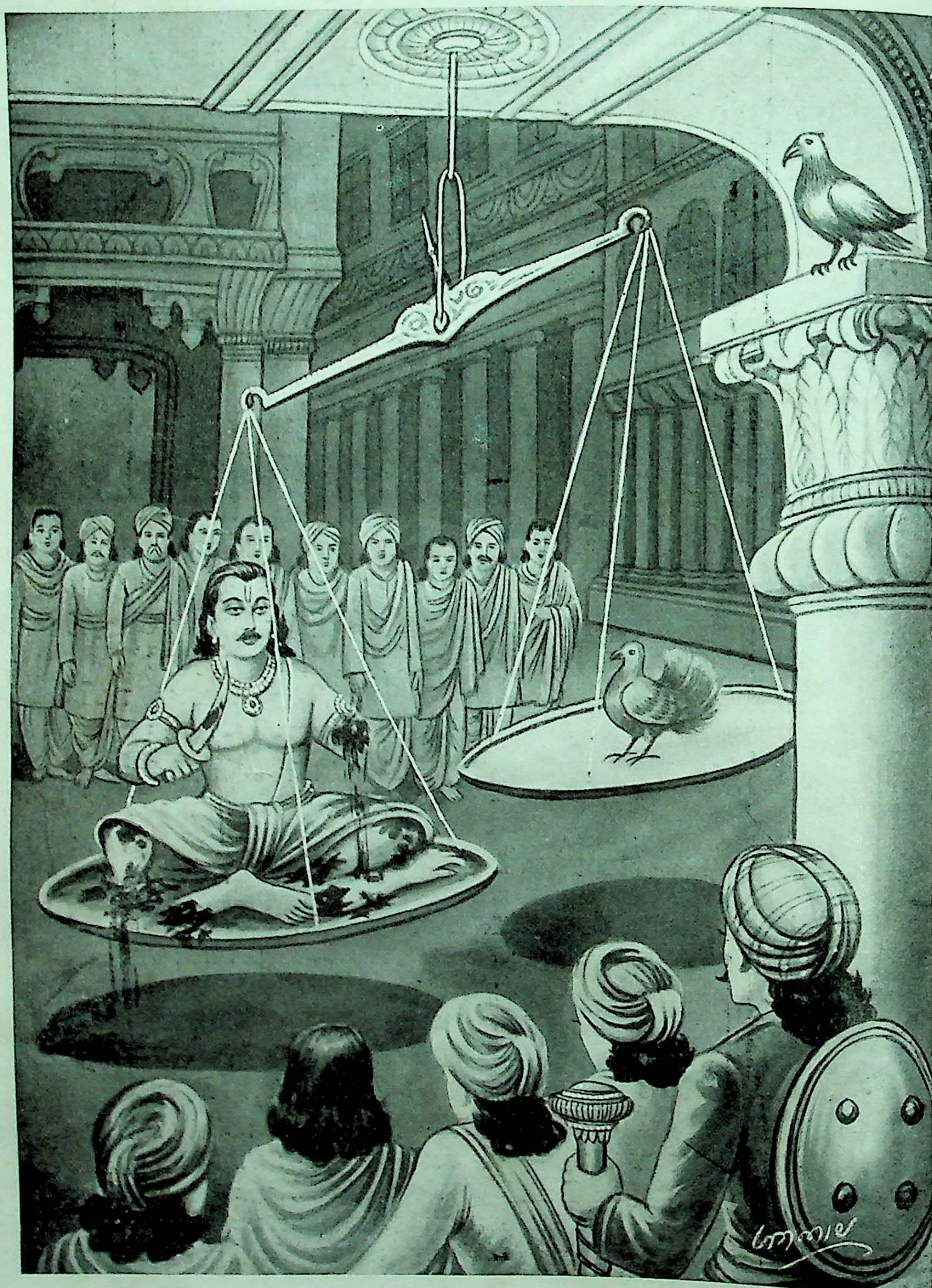
अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्माभियाचसे ।
तस्मात् तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया धृतम् ॥ २५ ॥

राजाने कहा—बाज ! तुम जो मेरा मांस माँग रहे हो, इसे मैं अपने ऊपर तुम्हारी बहुत बड़ी कृपा मानता हूँ, अतः मैं अभी अपना मांस तराजूपर रखकर तुम्हें दिये देता हूँ ॥ २५ ॥

लोमश उवाच

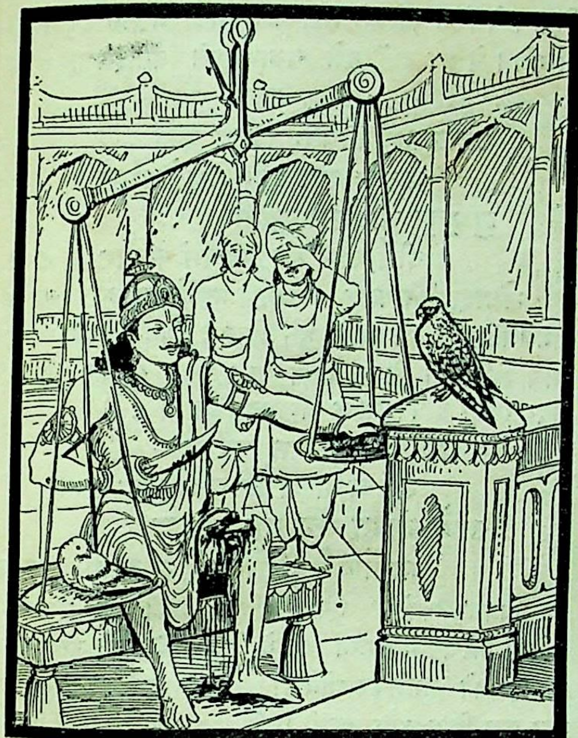
उत्कृत्य स स्वयं मांसं राजा परमधर्मवित् ।
तोलयामास कौन्तेय कपोतेन समं विभो ॥ २६ ॥





राजा शिबिका कबूतरकी रक्षाके लिये बाजको अपने शरीरका मांस काटकर देना

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! तत्पश्चात् परम धर्मज्ञ राजा उशीनरने स्वयं अपना मांस काटकर उस कबूतरके साथ तौलना आरम्भ किया ॥ २६ ॥



म्रियमाणः कपोतस्तु मांसेनात्यतिरिच्यते ।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि राजा प्रादादुशीनरः ॥ २७ ॥
न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं धृतम् ।
तत उत्कृत्तमांसोऽसावारुरोह स्वयं तुलाम् ॥ २८ ॥

किंतु दूसरे पलड़ेमें रखा हुआ कबूतर उस मांसकी अपेक्षा अधिक भारी निकला, तब महाराज उशीनरने पुनः अपना मांस काटकर चढ़ाया । इस प्रकार बार-बार करनेपर भी जब वह मांस कबूतरके बराबर न हुआ, तब सारा मांस काट लेनेके पश्चात् वे स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये ॥ २७-२८ ॥

श्येन उवाच

इन्द्रोऽहमस्मि धर्मज्ञ कपोतो हव्यवाडयम् ।
जिज्ञासमानौ धर्मे त्वां यज्ञवाटमुपागतौ ॥ २९ ॥

बाज बोला—धर्मज्ञ नरेश ! मैं इन्द्र हूँ और यह कबूतर साक्षात् अग्निदेव हैं । हम दोनों आपके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये इस यज्ञशालामें आपके निकट आये थे ॥ २९ ॥

यत् ते मांसानि गात्रेभ्य उत्कृत्तानि विशाम्पते ।
एषा ते भास्वती कीर्तिर्लोकानभिभविष्यति ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! आपने अपने अङ्गोंसे जो मांस काटकर चढ़ाये हैं, उससे फैली हुई आपकी प्रकाशमान कीर्ति सम्पूर्ण लोगोंसे बढ़कर होगी ॥ ३० ॥

यावल्लोके मनुष्यास्त्वां कथयिष्यन्ति पार्थिव ।
तावत् कीर्तिश्च लोकाश्च स्थास्यन्ति तव शाश्वताः ॥ ३१ ॥

राजन् ! संसारके मनुष्य इस जगत्में जबतक आपकी चर्चा करेंगे, तबतक आपकी कीर्ति और सनातन लोक स्थिर रहेंगे ॥ ३१ ॥

इत्येवमुक्त्वा राजानमारुरोह दिवं पुनः ।
उशीनरोऽपि धर्मात्मा धर्मेणावृत्य रोदसी ॥ ३२ ॥
विभ्राजमानो वपुषाप्यारुरोह त्रिविष्टपम् ।
तदेतत् सदनं राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
पश्यस्वैतन्मया सार्धं पुण्यं पापप्रमोचनम् ।
तत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः ।
दृश्यन्ते ब्राह्मणै राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः ॥ ३४ ॥

राजासे ऐसा कहकर इन्द्र फिर देवलोकमें चले गये तथा धर्मात्मा राजा उशीनर भी अपने धर्मसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर देदीप्यमान शरीर धारण करके स्वर्गलोकमें चले गये । राजन् ! यही उन महात्मा राजा उशीनरका आश्रम है, जो पुण्यजनक होनेके साथ ही समस्त पापोंसे छुटकारा दिलानेवाला है । तुम मेरे साथ इस पवित्र आश्रमका दर्शन करो । महाराज ! वहाँ पुण्यात्मा महात्मा ब्राह्मणोंको सदा सनातन देवता तथा मुनियोंका दर्शन होता रहता है ॥ ३२-३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें श्येनकपोतीयोपाख्यानविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अष्टावक्रके जन्मका वृत्तान्त और उनका राजा जनकके दरबारमें जाना

लोमश उवाच

यः कथ्यते मन्त्रविदग्धबुद्धि-
रौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ।
तस्याश्रमं पश्य नरेन्द्र पुण्यं
सदाफलैरुपपन्नं महीजैः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु हो गये हैं, जो इस भूतलपर मन्त्र-शास्त्रमें अत्यन्त

निपुण कहे जाते थे, देखो यह पवित्र आश्रम उन्हींका है। जो सदा फल देनेवाले वृक्षोंसे हरा-भरा दिखायी देता है ॥ १॥

साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श
सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम्।
वेत्स्यामि वाणीमिति सम्प्रवृत्तां
सरस्वतीं श्वेतकेतुर्बभाषे ॥ २ ॥

इस आश्रममें श्वेतकेतुने मानवरूपधारिणी सरस्वती देवीका प्रत्यक्ष दर्शन किया था और अपने निकट आयी हुई उन सरस्वतीसे यह कहा था कि 'मैं वाणीस्वरूपा आपके तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥ २ ॥

तस्मिन् युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठा-
वास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ।
अष्टावक्रश्चैव कहोडसूनु-
रौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम्॥ ३ ॥

उस युगमें कहोड मुनिके पुत्र अष्टावक्र और उद्दालक-नन्दन श्वेतकेतु ये दोनों महर्षि समस्त भूमण्डलके वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। वे आपसमें मामा और भानजा लगते थे (इनमें श्वेतकेतु ही मामा था) ॥ ३ ॥

विदेहराजस्य महीपतेस्तौ
विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ।
प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे
बन्दिं निजग्राहतुरप्रमेयौ ॥ ४ ॥

एक समय वे दोनों मामा-भानजे विदेहराजके यज्ञमण्डपमें गये। दोनों ही ब्राह्मण अनुपम विद्वान् थे। वहाँ शास्त्रार्थ होनेपर उन दोनोंने अपने (विपक्षी) बन्दीको जीत लिया ॥ ४ ॥

उपास्स्व कौन्तेय सहानुजस्त्वं
तस्याश्रमं पुण्यतमं प्रविश्य।
अष्टावक्रं यस्य दौहित्रमाहु-
र्योऽसौ बन्दिं जनकस्याथ यज्ञे ॥ ५ ॥
वादी विप्राग्र्यो बाल एवाभिगम्य
वादे भङ्क्त्वा मज्जयामास नद्याम्॥६॥

कुन्तीनन्दन! विप्रशिरोमणि अष्टावक्र वाद-विवादमें बड़े निपुण थे। उन्होंने बाल्यावस्थामें ही महाराज जनकके यज्ञ-मण्डपमें पधारकर अपने प्रतिवादी बन्दीको पराजित करके नदीमें डलवा दिया था। वे अष्टावक्र मुनि जिन महात्मा उद्दालक-के दौहित्र (नाती) बताये जाते हैं, उन्हींका यह परम पवित्र आश्रम है। तुम अपने भाइयोंसहित इसमें प्रवेश करके कुछ देरतक उपासना (भगवच्चिन्तन) करो ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथंप्रभावः स बभूव विप्र-
स्तथाभूतं यो निजग्राह बन्दिम्।
अष्टावक्रः केन चासौ बभूव
तत् सर्वं मे लोमश शंस तत्त्वम्॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—लोमशजी! उन ब्रह्मर्षिका कैसा प्रभाव था, जिन्होंने बन्दी-जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान्को भी जीत लिया। वे किस कारणसे अष्टावक्र (आठों अङ्गोंसे टेढ़े-मेढ़े) हो गये। ये सब बातें मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ ७ ॥

लोमश उवाच

उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको
नाम्ना कहोड इति विश्रुतोऽभूत्।
शुश्रूषुराचार्यवशानुवर्ती
दीर्घं कालं सोऽध्ययनं चकार ॥ ८ ॥

लोमशजीने कहा—राजन्! महर्षि उद्दालकका कहोड नामसे विख्यात एक शिष्य था, जो बड़े संयम-नियमसे रहकर आचार्यकी सेवा किया करता था। उसने गुरुकी आज्ञाके अंदर रहकर दीर्घकालतक अध्ययन किया ॥ ८ ॥

तं वै विप्रः पर्यचरत् सशिष्य-
स्तां च ज्ञात्वा परिचर्यां गुरुः सः।
तस्मै प्रादात् सद्य एव श्रुतं च
भार्यां च वै दुहितरं स्वां सुजाताम्॥ ९ ॥

विप्रवर 'कहोड' एक विनीत शिष्यकी भाँति उद्दालक मुनिकी परिचर्यामें संलग्न रहते थे। गुरुने शिष्यकी उस सेवा-के महत्त्वको समझकर शीघ्र ही उन्हें सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंका ज्ञान करा दिया और अपनी पुत्री सुजाताको भी उन्हें पत्नी-रूपसे समर्पित कर दिया ॥ ९ ॥

तस्या गर्भः समभवदग्निकल्पः
सोऽधीयानं पितरं चाप्युवाच।
सर्वां रात्रिमध्ययनं करोषि
नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते ॥ १० ॥*

कुछ कालके बाद सुजाता गर्भवती हुई, उसका वह गर्भ अग्निके समान तेजस्वी था। एक दिन स्वाध्यायमें लगे हुए अपने पिता कहोड मुनिसे उस गर्भस्थ बालकने कहा, 'पिताजी! आप रातभर वेदपाठ करते हैं तो भी आपका वह अध्ययन अच्छी प्रकारसे शुद्ध उच्चारणपूर्वक नहीं हो पाता' ॥ १० ॥

उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः
स तं कोपादुदरस्थं शशाप।
यस्मात् कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि
तस्माद् वक्रो भवितास्यष्टकृत्वः ॥ ११ ॥

शिष्योंके बीचमें बैठे हुए महर्षि कहोड इस प्रकार उलाहना सुनकर अपमानका अनुभव करते हुए कुपित हो उठे और उस गर्भस्थ बालकको शाप देते हुए बोले, 'अरे! तू अभी पेटमें रहकर ऐसी टेढ़ी बातें बोलता है, अतः तू आठों अङ्गोंसे टेढ़ा हो जायगा' ॥ ११ ॥

---

* किसी-किसी पुस्तकमें यहाँ एक श्लोक अधिक मिलता है, जो इस प्रकार है—

वेदान् साङ्गान् सर्वशास्त्रैरुपेतानधीतवानस्मि तव प्रसादात्।
इहैव गर्भे तेन पितर्ब्रवीमि नेदं त्वत्तः सम्यगिवोपवर्तते ॥

स वै तथा वक्र एवाभ्यजाय-
दष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः।
अस्यासीद् वै मातुलः श्वेतकेतुः
स तेन तुल्यो वयसा बभूव ॥ १२ ॥

उस शापके अनुसार वे महर्षि आठों अङ्गोंसे टेढ़े होकर पैदा हुए। इसलिये अष्टावक्र नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। श्वेतकेतु उनके मामा थे, परंतु अवस्थामें उन्हींके बराबर थे ॥

सम्पीड्यमाना तु तदा सुजाता
सा वर्धमानेन सुतेन कुक्षौ।
उवाच भर्तारमिदं रहोगता
प्रसाद्य हीनं वसुना धनार्थिनी ॥ १३ ॥

जब पेटमें गर्भ बढ़ रहा था, उस समय सुजाताने उससे पीड़ित होकर एकान्तमें अपने निर्धन पतिसे धनकी इच्छा रखकर कहा— ॥ १३ ॥

कथं करिष्याम्यधुना महर्षे
मासश्चायं दशमो वर्तते मे।
नैवास्ति ते वसु किंचित् प्रजाता
येनाहमेतामापदं निस्तरेयम् ॥ १४ ॥

'महर्षे! यह मेरे गर्भका दसवाँ महीना चल रहा है। मैं धनहीन नारी खर्चकी कैसे व्यवस्था करूँगी। आपके पास थोड़ा-सा भी धन नहीं है, जिससे मैं प्रसवकालके इस संकटसे पार हो सकूँ' ॥ १४ ॥

उक्तस्त्वेवं भार्यया वै कहोडो
वित्तस्यार्थे जनकमथाभ्यगच्छत्।
स वै तदा वादविदा निगृह्य
निमज्जितो वन्दिनेहाप्सु विप्रः ॥ १५ ॥

पत्नीके ऐसा कहनेपर कहोड मुनि धनके लिये राजा जनकके दरबारमें गये। उस समय शास्त्रार्थी पण्डित बन्दीने उन ब्रह्मर्षिको विवादमें हराकर जलमें डुबो दिया ॥ १५ ॥

उद्दालकस्तं तु तदा निशम्य
सूतेन वादेऽप्सु निमज्जितं तथा।
उवाच तां तत्र ततः सुजाता-
मष्टावक्रे गूहितव्योऽयमर्थः ॥ १६ ॥

जब उद्दालकको यह समाचार मिला कि 'कहोड मुनि शास्त्रार्थमें पराजित होनेपर सूत (बन्दी) के द्वारा जलमें डुबो दिये गये।' तब उन्होंने सुजातासे सब कुछ बता दिया और कहा, 'बेटी! अपने बच्चेसे इस वृत्तान्तको सदा ही गुप्त रखना' ॥ १६ ॥

ररक्ष सा चापि तमस्य मन्त्रं
जातोऽप्यसौ नैव शुश्राव विप्रः।
उद्दालकं पितृवच्चापि मेने
तथाष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम् ॥ १७ ॥

सुजाताने भी अपने पुत्रसे उस गोपनीय समाचारको गुप्त ही रक्खा। इसीसे जन्म लेनेके बाद भी उस ब्राह्मण-बालकको इसके विषयमें कुछ भी पता न लगा। अष्टावक्र अपने नाना उद्दालकको ही पिताके समान मानते थे और श्वेतकेतुको अपने भाईके समान समझते थे ॥ १७ ॥

ततो वर्षे द्वादशे श्वेतकेतु-
रष्टावक्रं पितुरङ्के निषण्णम्।
अपाकर्षद् गृह्य पाणौ रुदन्तं
नायं तवाङ्कः पितुरित्युक्तवांश्च ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक दिन, जब अष्टावक्रकी आयु बारह वर्षकी थी और वे पितृतुल्य उद्दालक मुनिकी गोदमें बैठे हुए थे, उसी समय श्वेतकेतु वहाँ आये और रोते हुए अष्टावक्रका हाथ पकड़कर उन्हें दूर खींच ले गये। इस प्रकार अष्टावक्रको दूर हटाकर श्वेतकेतुने कहा—'यह तेरे बापकी गोदी नहीं है' ॥ १८ ॥

यत् तेनोक्तं दुरुक्तं तत् तदानीं
हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत्।
गृहं गत्वा मातरं सोऽभिगम्य
पप्रच्छेदं क्व नु तातो ममेति ॥ १९ ॥

श्वेतकेतुकी उस कटूक्तिने उस समय अष्टावक्रके हृदयमें गहरी चोट पहुँचायी। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने घरमें माताके पास जाकर पूछा—'माँ! मेरे पिताजी कहाँ हैं?' ॥ १९ ॥

ततः सुजाता परमार्तरूपा
शापाद् भीता सर्वमेवाचचक्षे।
तद् वै तत्त्वं सर्वमाज्ञाय रात्रा-
वित्यब्रवीच्छ्वेतकेतुं स विप्रः ॥ २० ॥
गच्छाव यज्ञं जनकस्य राज्ञो
बह्वाश्चर्यः श्रूयते तस्य यज्ञः।
श्रोष्यावोऽत्र ब्राह्मणानां विवाद-
मन्नं चाग्र्यं तत्र भोक्ष्यावहे च ॥ २१ ॥

बालकके इस प्रश्नसे सुजाताके मनमें बड़ी व्यथा हुई, उसने शापके भयसे घबराकर सब बात बता दी। यह सब रहस्य जानकर उन्होंने रातमें श्वेतकेतुसे इस प्रकार कहा—'हम दोनों राजा जनकके यज्ञमें चलें। सुना जाता है, उस यज्ञमें बड़े आश्चर्यकी बातें देखनेमें आती हैं। हम दोनों वहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंका शास्त्रार्थ सुनेंगे और वहीं उत्तम पदार्थ भोजन करेंगे ॥ २०-२१ ॥

विचक्षणत्वं च भविष्यते नौ
शिवश्च सौम्यश्च हि ब्रह्मघोषः ॥ २२ ॥

'वहाँ जानेसे हमलोगोंकी प्रवचनशक्ति एवं जानकारी बढ़ेगी और हमें सुमधुर स्वरमें वेद-मन्त्रोंका कल्याणकारी घोष सुननेका अवसर मिलेगा' ॥ २२ ॥

तौ जग्मतुर्मातुलभागिनेयौ
यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः।
अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य
प्रोत्सार्यमाणो वाक्यमिदं जगाद ॥ २३ ॥

ऐसा निश्चय करके वे दोनों मामा-भानजे राजा जनकके समृद्धिशाली यज्ञमें गये । अष्टावक्रकी यज्ञमण्डपके मार्गमें ही राजासे भेंट हो गयी। उस समय राजसेवक उन्हें रास्तेसे दूर हटाने लगे, तब वे इस प्रकार बोले ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अष्टावक्रका द्वारपाल तथा राजा जनकसे वार्तालाप

अष्टावक्र उवाच

अन्धस्य पन्था बधिरस्य पन्थाः
स्त्रियः पन्था भारवाहस्य पन्थाः।
राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य
समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः ॥ १ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन् ! जबतक ब्राह्मणसे सामना न हो, तबतक अंधेका मार्ग, बहरेका मार्ग, स्त्रीका मार्ग, बोझ ढोनेवालेका मार्ग तथा राजाका मार्ग उस-उसके जानेके लिये छोड़ देना चाहिये; परंतु यदि ब्राह्मण सामने मिल जाय तो सबसे पहले उसीको मार्ग देना चाहिये ॥ १ ॥

राजोवाच

पन्था अयं तेऽद्य मयातिदिष्टो
येनेच्छसि तेन कामं व्रजस्व।
न पावको विद्यते वै लघीया-
निन्द्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥

राजाने कहा—ब्राह्मणकुमार! लो मैंने तुम्हारे लिये आज यह मार्ग दे दिया है। तुम जिससे जाना चाहो उसी मार्गसे इच्छानुसार चले जाओ। आग कभी छोटी नहीं होती। देवराज इन्द्र भी सदा ब्राह्मणोंके आगे मस्तक झुकाते हैं ॥ २ ॥

अष्टावक्र उवाच

प्राप्तौ स्व यज्ञं नृप संदिदृक्षू
कौतूहलं नौ बलवन्नरेन्द्र।
प्राप्ताविहावामतिथी प्रवेशं
काङ्क्षावहे द्वारपतेस्तवाज्ञाम् ॥ ३ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन् ! हम दोनों आपका यज्ञ देखनेके लिये आये हैं। नरेन्द्र! इसके लिये हम दोनोंके हृदयमें प्रबल उत्कण्ठा है। हम दोनों यहाँ अतिथिके रूपमें उपस्थित हैं और इस यज्ञमें प्रवेश करनेके लिये हम तुम्हारे द्वारपालकी आज्ञा चाहते हैं ॥ ३ ॥

ऐन्द्रद्युम्ने यज्ञदृशाविहावां
विवक्षू वै जनकेन्द्रं दिदृक्षू।
तौ वै क्रोधव्याधिना दह्यमाना-
वयं च नौ द्वारपालो रुणद्धि ॥ ४ ॥

इन्द्रद्युम्नकुमार जनक ! हम दोनों यहाँ यज्ञ देखनेके लिये आये हैं और आप जनकराजसे मिलना तथा बात करना चाहते हैं, परंतु यह द्वारपाल हमें रोकता है; अतः हम क्रोध-रूप व्याधिसे दग्ध हो रहे हैं ॥ ४ ॥

द्वारपाल उवाच

बन्देः समादेशकरा वयं स्म
निबोध वाक्यं च मयेर्यमाणम्।
न वै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा
वृद्धा विदग्धाः प्रविशन्त्यत्र विप्राः ॥ ५ ॥

द्वारपाल बोला—ब्राह्मणकुमार ! सुनो, हम बंदीके आज्ञापालक हैं। आप हमारी कही हुई बात सुनिये। इस यज्ञशालामें बालक ब्राह्मण नहीं प्रवेश करने पाते हैं। जो बूढ़े और बुद्धिमान् ब्राह्मण हैं, उन्हींका यहाँ प्रवेश होता है ॥ ५ ॥

अष्टावक्र उवाच

यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो
युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च
वेदप्रभावेण समन्विताश्च ॥ ६ ॥

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल ! यदि यहाँ वृद्ध ब्राह्मणोंके लिये प्रवेशका द्वार खुला है, तब तो हमारा प्रवेश होना भी उचित ही है; क्योंकि हमलोग वृद्ध ही हैं, हमने ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया है तथा हम वेदके प्रभावसे भी सम्पन्न हैं ॥ ६ ॥

शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च
ज्ञानागमे चापि गताः स्म निष्ठाम्।
न बाल इत्यवमन्तव्यमाहु-
र्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः ॥ ७ ॥

साथ ही, हम गुरुजनोंके सेवक, जितेन्द्रिय तथा ज्ञानशास्त्रमें परिनिष्ठित भी हैं। अवस्थामें बालक होनेके कारण ही किसी

ब्राह्मणको अपमानित करना उचित नहीं बताया गया है; क्योंकि आगकी छोटी-सी चिनगारी भी यदि छू जाय तो वह जला डालती है ॥ ७ ॥

द्वारपाल उवाच

सरस्वतीमीरय वेदजुष्टा-
मेकाक्षरां बहुरूपां विराजम्।
अङ्गात्मानं समवेक्षस्व बालं
किं श्लाघसे दुर्लभो वै मनीषी ॥ ८ ॥

द्वारपालने कहा—ब्राह्मणकुमार! तुम वेदप्रतिपादित, एकाक्षरब्रह्मका बोध करानेवाली, अनेक रूपवाली, सुन्दर वाणीका उच्चारण करो और अपने आपको बालक ही समझो, स्वयं ही अपनी प्रशंसा क्यों करते हो? इस जगत्‌में ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥

अष्टावक्र उवाच

न ज्ञायते कायवृद्ध्या विवृद्धि-
र्यथाष्ठीला शाल्मलेः सम्प्रवृद्धा।
ह्रस्वोऽल्पकायः फलितो विवृद्धो
यश्चाफलस्तस्य न वृद्धभावः ॥ ९ ॥

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल! केवल शरीर बढ़ जानेसे किसीकी बढ़ती नहीं समझी जाती है। जैसे सेमलके फलकी गाँठ बढ़नेपर भी सारहीन होनेके कारण वह व्यर्थ ही है। छोटा और दुबला-पतला वृक्ष भी यदि फलोंके भारसे लदा है तो उसे ही वृद्ध (बड़ा) जानना चाहिये। जिसमें फल नहीं लगते, उस वृक्षका बढ़ना भी नहींके बराबर है ॥ ९ ॥

द्वारपाल उवाच

वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला
गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः।
न हि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं
कस्माद् बालः स्थविर इव प्रभाषसे॥१०॥

द्वारपालने कहा—बालक बड़े-बूढ़ोंसे ही ज्ञान प्राप्त करते हैं और समयानुसार वे भी वृद्ध होते हैं। थोड़े समयमें ज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है, अतः तुम बालक होकर भी क्यों वृद्धकी-सी बातें करते हो? ॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः।
बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ ११ ॥

अष्टावक्र बोले—अमुक व्यक्तिके सिरके बाल पक गये हैं, इतने ही मात्रसे वह बूढ़ा नहीं होता है, अवस्थामें बालक होनेपर भी जो ज्ञानमें बढ़ा-चढ़ा है, उसीको देवगण वृद्ध मानते हैं ॥ ११ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १२ ॥

अधिक वर्षोंकी अवस्था होनेसे, बाल पकनेसे, धन बढ़ जानेसे और अधिक भाई-बन्धु हो जानेसे भी कोई बड़ा हो नहीं सकता; ऋषियोंने ऐसा नियम बनाया है कि हम ब्राह्मणोंमें जो अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका स्वाध्याय करनेवाला तथा वक्ता है, वही बड़ा है ॥ १२ ॥

दिदृक्षुरस्मि सम्प्राप्तो बन्दिनं राजसंसदि।
निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने ॥ १३ ॥

द्वारपाल! मैं राजसभामें बन्दीसे मिलनेके लिये आया हूँ। तुम कमलपुष्पकी माला धारण किये हुए महाराज जनकको मेरे आगमनकी सूचना दे दो ॥ १३ ॥

द्रष्टास्यद्य वदतोऽस्मान् द्वारपाल मनीषिभिः।
सह वादे विवृद्धे तु बन्दिनं चापि निर्जितम् ॥ १४ ॥

द्वारपाल! आज तुम हमें विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करते देखोगे, साथ ही विवाद बढ़ जानेपर बंदीको परास्त हुआ पाओगे ॥ १४ ॥

पश्यन्तु विप्राः परिपूर्णविद्याः
सहैव राज्ञा सपुरोधमुख्याः।
उताहो वाप्युच्चतां नीचतां वा
तूष्णींभूतेष्वेव सर्वेष्वथाद्य ॥ १५ ॥

आज सम्पूर्ण सभासद् चुपचाप बैठे रहें तथा राजा और उनके प्रधान पुरोहितोंके साथ पूर्णतः विद्वान् ब्राह्मण मेरी लघुता अथवा श्रेष्ठताको प्रत्यक्ष देखें ॥ १५ ॥

द्वारपाल उवाच

कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं
विनीतानां विदुषां सम्प्रवेशम्।
उपायतः प्रयतिष्ये तवाहं
प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत् ॥ १६ ॥

द्वारपालने कहा—जहाँ सुशिक्षित विद्वानोंका प्रवेश होता है; उस यज्ञमण्डपमें तुम-जैसे दस वर्षके बालकका प्रवेश होना कैसे सम्भव है। तथापि मैं किसी उपायसे तुम्हें उसके भीतर प्रवेश करानेका प्रयत्न करूँगा, तुम भी भीतर जानेके लिये यथोचित प्रयत्न करो ॥ १६ ॥

(एष राजा संश्रवणे स्थितस्ते
स्तुह्येनं त्वं वचसा संस्कृतेन।
स चानुज्ञां दास्यति प्रीतियुक्तः
प्रवेशने यच्च किंचित् तवेष्टम् ॥)

ये नरेश तुम्हारी बात सुन सकें, इतनी ही दूरीपर यज्ञमण्डपमें स्थित हैं, तुम अपने शुद्ध वचनोंद्वारा इनकी स्तुति करो। इससे ये प्रसन्न होकर तुम्हें प्रवेश करनेकी आज्ञा दे देंगे तथा तुम्हारी और भी कोई कामना हो तो वे पूरी करेंगे ॥

अष्टावक्र उवाच

भो भो राजञ्जनकानां वरिष्ठ
त्वं वै सम्राट् त्वयि सर्वं समृद्धम्।
त्वं वा कर्ता कर्मणां यज्ञियानां
ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात्॥ १७॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! आप जनकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, सम्राट् हैं। आपके यहाँ सभी प्रकारके ऐश्वर्य परिपूर्ण हैं, वर्तमान समयमें केवल आप ही उत्तम यज्ञकर्मोका अनुष्ठान करनेवाले हैं अथवा पूर्वकालमें एकमात्र राजा ययाति ऐसे हो चुके हैं॥ १७॥

वृद्धान् बन्दी वादविदो निगृह्य
वादे भग्नानप्रतिशङ्कमानः।
त्वयाभिसृष्टैः पुरुषैराप्तकृद्भि-
र्जले सर्वान् मज्जयतीति नः श्रुतम्॥ १८॥

हमने सुना है कि आपके यहाँ बन्दी नामसे प्रसिद्ध कोई विद्वान् हैं, जो वाद-विवादके मर्मको जाननेवाले कितने ही वृद्ध ब्राह्मणोंको शास्त्रार्थमें हराकर वशमें कर लेते हैं और फिर आपके ही दिये हुए विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा उन सबको निःशंक होकर पानीमें डुबवा देते हैं॥ १८॥

सोऽहं श्रुत्वा ब्राह्मणानां सकाशाद्
ब्रह्माद्वैतं कथयितुमागतोऽस्मि।
क्वासौ बन्दी यावदेनं समेत्य
नक्षत्राणीव सविता नाशयामि॥ १९॥

मैं ब्राह्मणोंके समीप यह समाचार सुनकर अद्वैत ब्रह्मके विषयमें वर्णन करनेके लिये यहाँ आया हूँ। वे बन्दी कहाँ हैं? मैं उनसे मिलकर उनके तेजको उसी प्रकार शान्त कर दूँगा, जैसे सूर्य ताराओंकी ज्योतिको विलुप्त कर देते हैं॥ १९॥

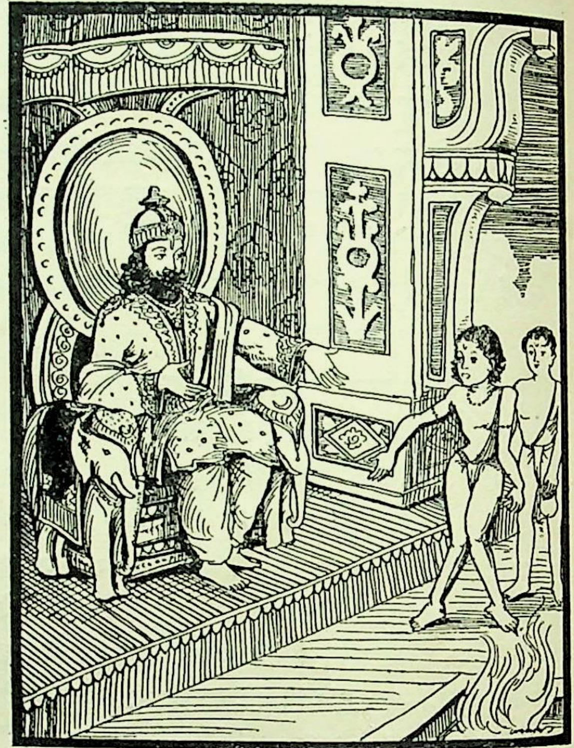
राजोवाच

नाशंससे बन्दिनं वै विजेतु-
मविज्ञाय त्वं वाक्यबलं परस्य।
विज्ञातवीर्यैः शक्यमेवं प्रवक्तुं
दृष्टश्चासौ ब्राह्मणैर्वेदशीलैः॥ २०॥

राजा बोले—ब्राह्मणकुमार! तुम अपने विपक्षीकी प्रवचन-शक्तिको जाने बिना ही बन्दीको जीतनेकी इच्छा रखते हो। जो प्रतिवादीके बलको जानते हों, वे ही ऐसी बातें कह सकते हैं। वेदोंका अनुशीलन करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण बन्दीका प्रभाव देख चुके हैं॥ २०॥

आशंससे त्वं बन्दिनं वै विजेतु-
मविज्ञाय तु बलं बन्दिनोऽस्य।
समागता ब्राह्मणास्तेन पूर्वं
न शोभन्ते भास्करेणेव ताराः॥ २१॥

तुम्हें इस बन्दीकी शक्तिका कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसीलिये उसे जीतनेकी इच्छा कर रहे हो। आजसे पहले कितने ही विद्वान् ब्राह्मण बन्दीसे मिले हैं और जैसे सूर्यके सामने ताराओंका प्रकाश फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार वे बन्दीके सामने हतप्रभ हो गये हैं॥ २१॥



आशंसन्तो बन्दिनं जेतुकामा-
स्तस्यान्तिकं प्राप्य विलुप्तशोभाः।
विज्ञानमत्ता निःसृताश्चैव तात
कथं सदस्यैर्वचनं विस्तरेयुः॥ २२॥

तात! कितने ही ज्ञानोन्मत्त ब्राह्मण बन्दीको जीतनेकी अभिलाषा रखकर शास्त्रार्थकी घोषणा करते हुए आये हैं; किंतु उनके निकट पहुँचते ही उनका प्रभाव नष्ट हो गया है। इतना ही नहीं, वे पराजित एवं तिरस्कृत हो चुपचाप राजसभासे निकल गये हैं। फिर वे अन्य सदस्योंके साथ वार्तालाप ही कैसे कर सकते हैं॥ २२॥

अष्टावक्र उवाच

विवादितोऽसौ न हि मादृशैर्हि
सिंहीकृतस्तेन वदत्यभीतः।
समेत्य मां निहतः शेष्यतेऽद्य
मार्गे भग्नं शकटमिवाचलाक्षम्॥ २३॥

अष्टावक्र बोले—महाराज! अभी बन्दीको हम-जैसोंके साथ शास्त्रार्थ करनेका अवसर नहीं मिला है, इसीलिये वह सिंह बना हुआ है और निडर होकर बातें करता है। आज मुझसे जब उसकी भेंट होगी, उस समय वह पराजित होकर

मुर्देकी भाँति सो जायगा। ठीक उसी तरह, जैसे रास्तेमें टूटा हुआ छकड़ा जहाँ-का-तहाँ पड़ा रह जाता है—उसका पहिया एक पग भी आगे नहीं बढ़ता है ॥ २३ ॥

राजोवाच

त्रिंशकद्द्वादशांशस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदार्थं स परः कविः ॥ २४ ॥

तब राजाने परीक्षा लेनेके लिये कहा—जो पुरुष तीस अवयव, बारह अंश, चौबीस पर्व और तीन सौ साठ अरोंवाले पदार्थको जानता है—उसके प्रयोजनको समझता है, वह उच्चकोटिका ज्ञानी है ॥ २४ ॥

अष्टावक्र उवाच

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्नाभि द्वादशप्रधि ।
तत् त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति ॥ २५ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! जिसमें बारह अमावास्या और बारह पूर्णिमारूपी चौबीस पर्व, ऋतुरूप छः नाभि, मासरूप बारह अंश और दिनरूप तीन सौ साठ अरे हैं, वह निरन्तर घूमनेवाला संवत्सररूप कालचक्र आपकी रक्षा करे॥

राजोवाच

वडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम् ।
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम् ॥ २६ ॥

राजाने पूछा—जो दो घोड़ियोंकी भाँति संयुक्त रहती हैं एवं जो बाज पक्षीकी भाँति हठात् गिरनेवाली हैं, उन दोनोंके गर्भको देवताओंमेंसे कौन धारण करता है तथा वे दोनों किस गर्भको उत्पन्न करती हैं? ॥ २६ ॥

अष्टावक्र उवाच

मा स्म ते ते गृहे राजञ्छात्रवाणामपि ध्रुवम् ।
वातसारथिरागन्ता गर्भं सुषुवतुश्च तम् ॥ २७ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! वे दोनों तुम्हारे शत्रुओंके घरपर भी कभी न गिरें। वायु जिसका सारथि है, वह मेघरूप देव ही इन दोनोंके गर्भको धारण करनेवाला है और ये दोनों उस मेघरूप गर्भको उत्पन्न करनेवाले हैं* ॥ २७ ॥

राजोवाच

किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद् वेगेन वर्धते ॥ २८ ॥

राजाने पूछा—सोते समय कौन नेत्र नहीं मूँदता, जन्म लेनेके बाद किसमें गति नहीं होती, किसके हृदय नहीं होता और कौन वेगसे बढ़ता है? ॥ २८ ॥

अष्टावक्र उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ २९ ॥

अष्टावक्र बोले—मछली सोते समय भी आँख नहीं मूँदती, अण्डा उत्पन्न होनेपर चेष्टा नहीं करता, पत्थरके हृदय नहीं होता और नदी वेगसे बढ़ती है ॥ २९ ॥

राजोवाच

न त्वां मन्ये मानुषं देवसत्त्वं
न त्वं बालः स्थविरः सम्मतो मे ।
न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे
तस्माद् द्वारं वितराम्येष बन्दी ॥ ३० ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! आपकी शक्ति तो देवताओंके समान है, मैं आपको मनुष्य नहीं मानता; आप बालक भी नहीं हैं। मैं तो आपको वृद्ध ही समझता हूँ। वाद-विवाद करनेमें आपके समान दूसरा कोई नहीं है, अतः आपको यज्ञ-मण्डपमें जानेके लिये द्वार प्रदान करता हूँ। यही बन्दी हैं (जिनसे आप मिलना चाहते थे)॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

---

* यहाँ अष्टावक्रजीने परोक्षरूपमें ही प्रश्नका उत्तर दिया है। भाव यह है कि दो तत्त्व, जिनको वैदिक भाषामें रयि और प्राणके नामसे कहा है (देखिये प्रश्नोपनिषद् १ । ४) एवं अंग्रेजीमें जिनको पोजिटिव (अनुलोम) और निगेटिव (प्रतिलोम) कहते हैं, स्वभावसे ही संयुक्त रहनेवाले हैं। इनका ही व्यक्त रूप विद्युत्-शक्ति है। उसे गर्भकी भाँति मेघ धारण किये रहता है। संघर्षसे वह प्रकट होती है और आकर्षण होनेपर बाजकी भाँति गिरती है। जहाँ गिरती है वहाँ सबको भस्म कर देती है; इसलिये यह कहा गया कि वह कभी आपके शत्रुओंके घरपर भी न पड़े। इन दो तत्त्वोंकी संयुक्त शक्तिसे ही मेघकी उत्पत्ति होती है। इसलिये यह कहा गया कि उस मेघरूप गर्भको ये उत्पन्न करते हैं।

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बन्दी और अष्टावक्रका शास्त्रार्थ, बन्दीकी पराजय तथा समङ्गामें स्नानसे अष्टावक्रके अङ्गोंका सीधा होना

अष्टावक्र उवाच

अत्रोग्रसेन समितेषु राजन्
समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु ।
नावैमि बन्दिं वरमत्र वादिनां
महाजले हंसमिवाददामि ॥ १ ॥

अष्टावक्र बोले--भयंकर सेनाओंसे युक्त महाराज जनक ! इस सभामें सब ओरसे अप्रतिम प्रभावशाली राजा आकर एकत्र हुए हैं; परंतु मैं इन सबके बीचमें वादियोंमें प्रधान बन्दीको नहीं पहचान पाता हूँ । यदि पहचान लूँ तो अगाध जलमें हंसकी भाँति उन्हें अवश्य पकड़ लूँगा ॥ १ ॥

न मेऽद्य वक्ष्यस्यतिवादिमानिन्
ग्लहं प्रपन्नः सरितामिवागमः ।
हुताशनस्येव समिद्धतेजसः
स्थिरो भवस्वेह ममाद्य बन्दिन् ॥ २ ॥

अपनेको अतिवादी माननेवाले बन्दी ! तुमने पराजित हुए पण्डितोंको पानीमें डुबवा देनेका नियम कर रखा है, किंतु आज मेरे सामने तुम्हारी बोली बंद हो जायगी । जैसे प्रलयकालके प्रज्वलित अग्निके समीप नदियोंका प्रवाह सूख जाता है, उसी प्रकार मेरे सामने आनेपर तुम भी सूख जाओगे—तुम्हारी वादशक्ति नष्ट हो जायगी । बन्दी ! आज मेरे सामने स्थिर होकर बैठो ॥ २ ॥

बन्धुवाच

व्याघ्रं शयानं प्रति मा प्रबोधय
आशीविषं सृक्किणी लेलिहानम् ।
पदाहतस्येह शिरोऽभिहत्य
नादष्टो वै मोक्ष्यसे तन्निबोध ॥ ३ ॥

बन्दीने कहा—मुझे सोता हुआ सिंह समझकर न जगाओ (न छेड़ो); अपने जबड़ोंको चाटता हुआ विषैला सर्प मानो। तुमने पैरोंसे ठोकर मारकर मेरे मस्तकको कुचल दिया है। अब जबतक तुम डँस लिये नहीं जाते तबतक तुम्हें छुटकारा नहीं मिल सकता, इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ ३ ॥

यो वै दर्पात् संहननोपपन्नः
सुदुर्बलः पर्वतमाविहन्ति ।
तस्यैव पाणिः सनखो विदीर्यते
न चैव शैलस्य हि दृश्यते व्रणः ॥ ४ ॥

जो देहधारी अत्यन्त दुर्बल होकर भी अहंकारवश अपने हाथसे पर्वतपर चोट करता है, उसीके हाथ और नख विदीर्ण हो जाते हैं; उस चोटसे पर्वतमें घाव होता नहीं देखा जाता है ॥ ४ ॥

अष्टावक्र उवाच

सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः ।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा अनडुहो यथा ॥ ५ ॥

अष्टावक्र बोले--जैसे सब पर्वत मैनाकसे छोटे हैं, सारे बछड़े बैलोंसे लघुतर हैं, उसी प्रकार भूमण्डलके समस्त राजा मिथिलानरेश महाराज जनककी अपेक्षा निम्न श्रेणीमें हैं ॥५॥

यथा महेन्द्रः प्रवरः सुराणां
नदीषु गङ्गा प्रवरा यथैव ।
तथा नृपाणां प्रवरस्त्वमेको
बन्दिं समभ्यानय मत्सकाशम् ॥ ६ ॥

राजन् ! जैसे देवताओंमें महेन्द्र श्रेष्ठ हैं और नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सब राजाओंमें एकमात्र आप ही उत्तम हैं । अब बन्दीको मेरे निकट बुलवाइये ॥ ६ ॥

लोमश उवाच

एवमष्टावक्रः समितौ हि गर्ज-
ञ्जातक्रोधो बन्दिनमाह राजन् ।
उक्ते वाक्ये चोत्तरं मे ब्रवीहि
वाक्यस्य चाप्युत्तरं ते ब्रवीमि ॥ ७ ॥

लोमशजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! (बन्दीके सामने आ जानेपर) राजसभामें गर्जते हुए अष्टावक्रने बन्दीसे कुपित होकर इस प्रकार कहा—'मेरी पूछी हुई बातका उत्तर तुम दो और तुम्हारी बातका उत्तर मैं देता हूँ' ॥ ७ ॥

बन्धुवाच

एक एवाग्निर्बहुधा समिध्यते
एकः सूर्यः सर्वमिदं विभाति ।
एको वीरो देवराजोऽरिहन्ता
यमः पितॄणामीश्वरश्चैक एव ॥ ८ ॥

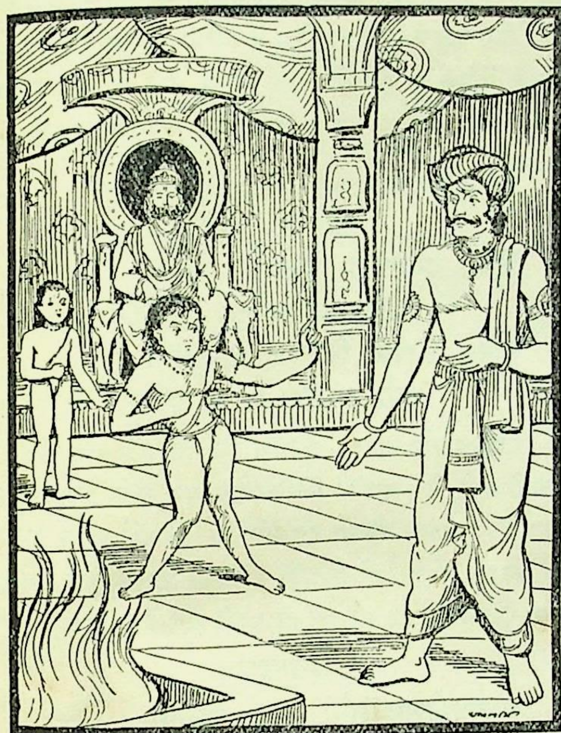
तब बन्दीने कहा—अष्टावक्र ! एक ही अग्नि अनेक प्रकारसे प्रकाशित होती है, एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है । शत्रुओंका नाश करनेवाला देवराज इन्द्र एक ही वीर है तथा पितरोंका स्वामी यमराज भी एक ही है ॥

अष्टावक्र उवाच

द्वाविन्द्राग्नी चरतो वै सखायौ
द्वौ देवर्षी नारदपर्वतौ च ।
द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे
भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा ॥ ९ ॥

अष्टावक्र बोले--जो दो मित्रोंकी भाँति सदा साथ विचरते हैं, वे इन्द्र और अग्नि दो देवता हैं । परस्पर मित्रभाव

रखनेवाले देवर्षि नारद और पर्वत भी दो ही हैं। अश्विनीकुमारोंकी भी संख्या दो ही है, रथके पहिये भी दो ही होते हैं तथा विधाताने (एक दूसरेके जीवनसंगी) पति और पत्नी भी दो ही बनाये हैं ॥ ९ ॥



वन्द्युवाच

त्रिः सूयते कर्मणा वै प्रजेयं
त्रयो युक्ता वाजपेयं वहन्ति ।
अध्वर्यवस्त्रिसवनानि तन्वते
त्रयो लोकास्त्रीणि ज्योतींषि चाहुः॥ १०॥

बन्दीने कहा--यह सम्पूर्ण प्रजा कर्मवश देवता, मनुष्य और तिर्यक्‌रूप तीन प्रकारका जन्म धारण करती है, ऋक्, साम, और यजु---ये तीन वेद ही परस्पर संयुक्त हो वाजपेय आदि यज्ञ-कर्मोंका निर्वाह करते हैं। अध्वर्युलोग भी प्रातःसवन, मध्याह्नसवन और सायंसवनके भेदसे तीन सवनों (यज्ञों) का ही अनुष्ठान करते हैं। (कर्मानुसार प्राप्त होनेवाले भोगोंके लिये) स्वर्ग, मृत्यु और नरक-ये लोक भी तीन ही बताये गये हैं और मुनियोंने सूर्य, चन्द्र और अग्निरूप तीन ही प्रकारकी ज्योतियाँ बतलायी हैं ॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच

चतुष्टयं ब्राह्मणानां निकेतं
चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति।
दिशश्चतस्रो वर्णचतुष्टयं च
चतुष्पदा गौरपि शश्वदुक्ता ॥ ११ ॥

अष्टावक्र बोले--ब्राह्मणोंके लिये आश्रम[1] चार हैं। वर्ण[2] भी चार ही हैं, जो इस यज्ञका भार वहन करते हैं। मुख्य दिशाएँ[3] भी चार ही हैं। वर्ण[4] भी चार ही हैं तथा गो अर्थात् वाणी भी सदा चार ही चरणों[5]से युक्त बतायी गयी है ॥

वन्द्युवाच

पञ्चाग्नयः पञ्चपदा च पङ्क्ति-
र्यज्ञाः पञ्चैवाप्यथ पञ्चेन्द्रियाणि।
दृष्टा वेदे पञ्चचूडाप्सराश्च
लोके ख्यातं पञ्चनदं च पुण्यम् ॥ १२ ॥

वन्दीने कहा--यज्ञकी अग्नि गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्यके भेदसे पाँच प्रकारकी कही गयी हैं। पंक्ति छन्द भी पाँच पादों[6]से ही बनता है, यज्ञ भी पाँच ही हैं—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। इसी प्रकार इन्द्रियों[7]की संख्या भी पाँच ही है। वेदमें पाँच वेणीवाली (पञ्चचूड़ा[8]) अप्सराका वर्णन देखा गया है तथा लोकमें पाँच नदियों[9]से विशिष्ट पुण्यमय पञ्चनद प्रदेश विख्यात है ॥ १२ ॥

अष्टावक्र उवाच

षडाधाने दक्षिणामाहुरेके
षट् चैवेमे ऋतवः कालचक्रम्।
षडिन्द्रियाण्युत षट् कृत्तिकाश्च
षट् साद्यस्काः सर्ववेदेषु दृष्टाः ॥ १३ ॥

अष्टावक्र बोले--कुछ विद्वानोंका मत है कि अग्निकी स्थापनाके समय दक्षिणामें छः गौ ही देनी चाहिये। ये छः ऋतुएँ ही संवत्सररूप कालचक्रकी सिद्धि करती हैं। मनसहित ज्ञानेन्द्रियाँ भी छः ही हैं। कृत्तिकाओंकी संख्या छः ही है तथा सम्पूर्ण वेदोंमें साद्यस्क नामक यज्ञ भी छः ही देखे गये हैं ॥ १३ ॥

वन्द्युवाच

सप्त ग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः
सप्तच्छन्दांसि क्रतुमेकं वहन्ति।

१—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। २—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ३—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर। ४—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और हल्। ५—परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी—ये वाणीके चार पैर हैं। ६—आठ-आठ अक्षरके पाँच पादोंसे पंक्तिछन्दकी सिद्धि होती है। ७—त्वचा, श्रोत्र, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ८—पञ्चचूड़ा अप्सराका उल्लेख महाभारतके अनुशासनपर्वमें ३८ वें अध्यायमें भी आया है। ९—विपाशा (व्यास), इरावती (रावी), वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चनाव) और शतद्रु (शतलज) ये ही पञ्चनद प्रदेशकी पाँच नदियाँ हैं।

सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि
सप्ततन्त्री प्रथिता चैव वीणा ॥ १४ ॥

बन्दीने कहा—ग्राम्य पशु सात हैं (जिनके नाम इस प्रकार हैं)—गाय, भैंस, बकरी, भेंड़, घोड़ा, कुत्ता और गदहा। जंगली पशु भी सात हैं (यथा–सिंह, बाघ, भेड़िया, हाथी, वानर, भालू और मृग[1])। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती–ये सात ही छन्द एक-एक यज्ञका निर्वाह करते हैं। सप्तर्षि नामसे प्रसिद्ध ऋषियोंकी[2] संख्या भी सात ही है (यथा—मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अङ्गिरा और वसिष्ठ), पूजनके संक्षिप्त उपचार भी सात हैं (यथा—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन और ताम्बूल) तथा वीणाके भी सात ही तार विख्यात हैं ॥ १४ ॥

अष्टावक्र उवाच

अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति
तथाष्टपादः शरभः सिंहघाती।
अष्टौ वसूञ्शुश्रुम देवतासु
यूपश्चाष्टास्त्रिर्विहितः सर्वयज्ञे ॥ १५ ॥

अष्टावक्र बोले—तराजूमें लगी हुई सनकी डोरियाँ भी आठ ही होती हैं, जो सैकड़ोंका मान(तौल) करती हैं। सिंहको भी मार गिरानेवाले शरभके आठ ही पैर होते हैं। देवताओंमें वसुओंकी* संख्या भी आठ ही सुनी गयी है और सम्पूर्ण यज्ञोंमें आठ कोणके ही यूपका निर्माण किया जाता है ॥ १५ ॥

बन्द्युवाच

नवैवोक्ताः सामिधेन्यः पितॄणां
तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम् ।
नवाक्षरा बृहती सम्प्रदिष्टा
नवयोगो गणनामेति शश्वत् ॥ १६ ॥

बन्दीने कहा—पितृयज्ञमें समिधा देकर अग्निको उद्दीप्त करनेके लिये जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उन्हें सामिधेनी ऋचा कहते हैं, उनकी संख्या नौ ही बतायी गयी है। यह जो नाना प्रकारकी सृष्टि दिखायी देती है, इसमें प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा–इन नौ पदार्थोंका संयोग कारण है, ऐसा विज्ञ पुरुषोंका कथन है। बृहती-छन्दके प्रत्येक चरणमें नौ अक्षर बताये गये हैं और एकसे लेकर नौ अङ्कोंका योग ही सदा गणनाके उपयोगमें आता है ॥ १६ ॥

अष्टावक्र उवाच

दिशो दशोक्ताः पुरुषस्य लोके
सहस्रमाहुर्दशपूर्णं शतानि ।
दशैव मासान् बिभ्रति गर्भवत्यो
दशैरका दश दाशा दशार्हाः ॥ १७ ॥

अष्टावक्रने कहा—पुरुषके लिये संसारमें दस दिशाएँ बतायी गयी हैं। दस सौ मिलकर ही पूरा एक सहस्र कहा जाता है, गर्भवती स्त्रियाँ दस मासतक ही गर्भ धारण करती हैं, निन्दक भी दस[1] ही होते हैं, शरीरकी अवस्थाएँ भी दस[2] हैं तथा पूजनीय पुरुष भी दस[3] ही बताये गये हैं ॥ १७ ॥

बन्द्युवाच

एकादशैकादशिनः पशूना-
मेकादशैवात्र भवन्ति यूपाः ।
एकादश प्राणभृतां विकारा
एकादशोक्ता दिवि देवेषु रुद्राः ॥ १८ ॥

बन्दीने कहा—प्राणधारी पशुओं (जीवों) के लिये ग्यारह विषय[4] हैं। उन्हें प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ भी

१–हिरन, शूकर, खरगोश, गीदड़ आदि जन्तुओंका ग्रहण मृग नामसे ही हो जाता है। २–सप्तर्षि ये हैं—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥
(महा० शान्ति० ३४० । ६९)

'(भगवान्ने स्वयं ब्रह्माजीसे कहा है कि) मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं।'

* धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥
(महा० आदि० ६६ । १८)

'धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास–ये आठ वसु कहे गये हैं।'

१–यथा रोगी, दरिद्र, शोकार्त्त, राजदण्डित, शठ, खल, वृत्तिसे वञ्चित, उन्मत्त, ईर्ष्यापरायण और कामी—ये दस निन्दक होते हैं। जैसा कि निम्नाङ्कित श्लोकसे सिद्ध होता है—'आमयी दुर्मतः शोकी दण्डितश्च शठः खलः । नष्टवृत्तिर्मदी चेर्ष्या कामी च दश निन्दकाः ॥' (इति नीतिशास्त्रोक्तिः) २–उन दसों अवस्थाओंके नाम इस प्रकार हैं—गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, कैशोर, यौवन, प्रौढ़, वार्द्धक्य तथा मृत्यु। ३–अध्यापक, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, राजा, मामा, श्वसुर, नाना, दादा अपनेसे बड़ी अवस्थावाले कुटुम्बी तथा पितृव्य (चाचा-ताऊ)—ये दस पूजनीय पुरुष माने गये हैं। जैसा कि कूर्मपुराणका वचन है—उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः । मातुलः श्वसुरश्चैव मातामहपितामहौ ॥ वन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवो मताः ॥ ४–वाक्य बोलना, ग्रहण करना, चलना-फिरना, मलत्याग करना और मैथुनजनित सुखका अनुभव करना—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध–ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं और इन सबका मनन–मनका विषय है। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह विषय हैं।

ग्यारह ही हैं, यज्ञ, याग आदिमें यूप भी ग्यारह ही होते हैं, प्राणियोंके विकार[1] भी ग्यारह हैं, तथा स्वर्गीय देवताओंमें जो रुद्र[2] कहलाते हैं; उनकी संख्या भी ग्यारह ही है ॥ १८ ॥

अष्टावक्र उवाच

संवत्सरं द्वादशमासमाहु-
र्जगत्याः पादो द्वादशैवाक्षराणि ।
द्वादशाहः प्राकृतो यज्ञ उक्तो
द्वादशादित्यान् कथयन्तीह धीराः ॥ १९ ॥

अष्टावक्र बोले—एक संवत्सरमें बारह महीने बताये गये हैं, जगती छन्दका प्रत्येक पाद बारह अक्षरोंका होता है, प्राकृत यज्ञ बारह दिनोंका माना गया है, ज्ञानी पुरुष यहाँ बारह[3] आदित्योंका वर्णन करते हैं ॥ १९ ॥

बन्द्युवाच

त्रयोदशी तिथिरुक्ता प्रशस्ता
त्रयोदशद्वीपवती मही च ।

बन्दीने कहा—त्रयोदशी तिथि उत्तम बतायी गयी है तथा यह पृथ्वी तेरह द्वीपोंसे युक्त है ।

लोमश उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम बन्दी
श्लोकस्यार्धं व्याजहाराष्टवक्रः ।

लोमशजी कहते हैं—इतना कहकर बन्दी चुप हो गया। तब शेष आधे श्लोककी पूर्ति अष्टावक्रने इस प्रकार की ।

अष्टावक्र उवाच

त्रयोदशाहानि ससार केशी
त्रयोदशादीन्यतिच्छन्दांसि चाहुः ॥ २० ॥

अष्टावक्र बोले—केशी नामक दानवने भगवान् विष्णु-के साथ तेरह[1] दिनोंतक युद्ध किया था । वेदमें जो अतिशब्द-विशिष्ट छन्द बताये गये हैं, उनका एक-एक पाद तेरह आदि अक्षरोंसे सम्पन्न होता है (अर्थात् अतिजगती छन्दका एक पाद तेरह अक्षरोंका, अतिशक्करीका एक पाद पन्द्रह अक्षरोंका, अत्यष्टिका प्रत्येक पाद सत्रह अक्षरोंका तथा अतिधृतिका हर-एक पाद उन्नीस अक्षरोंका होता है) ॥

ततो महानुदतिष्ठन्निनाद-
स्तूष्णींभूतं सूतपुत्रं निशम्य ।
अधोमुखं ध्यानपरं तदानी-
मष्टावक्रं चाप्युदीर्यन्तमेव ॥ २१ ॥

लोमशजी कहते हैं—इतना सुनते ही सूतपुत्र बन्दी चुप हो गया और मुँह नीचा किये किसी भारी सोच-विचारमें पड़ गया । इधर अष्टावक्र बोलते ही रहे, यह सब देख दर्शकों और श्रोताओंमें महान् कोलाहल मच गया ॥ २१ ॥

तस्मिंस्तथा संकुले वर्तमाने
स्फीते यज्ञे जनकस्योत राज्ञः ।
अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयु-
र्विप्राः सर्वे प्राञ्जलयः प्रतीताः ॥ २२ ॥

महाराज जनकके उस समृद्धिशाली यज्ञमें जब कि चारों ओर कोलाहल व्याप्त हो रहा था, सब ब्राह्मण हाथ जोड़े हुए श्रद्धापूर्वक अष्टावक्रके समीप आये और उनका आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया ॥ २२ ॥

अष्टावक्र उवाच

अनेनैव ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो
वादे जित्वा सलिले मज्जिताः प्राक् ।
तानेव धर्मानयमद्य बन्दी
प्राप्नोतु गृह्याप्सु निमज्जयैनम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् अष्टावक्रने कहा—महाराज ! इसी बन्दीने पहले बहुत-से शास्त्रज्ञ (विद्वान्) ब्राह्मणोंको शास्त्रार्थमें पराजित करके पानीमें डुबवाया है, अतः इसकी भी वही गति होनी चाहिये, जो इसके द्वारा दूसरोंकी हुई । इसलिये इसे पकड़कर शीघ्र पानीमें डुबवा दीजिये ॥ २३ ॥

१–काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, हर्ष-शोक, राग-द्वेष और अहंकार—ये ग्यारह विकार होते हैं ।

२—एकादश रुद्र ये हैं—

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥

(महाभारत० आदि० ६६ । २–३)

'मृगव्याध, सर्प, महायशस्वी निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, शत्रु-संतापन पिनाकी, दहन, ईश्वर, परमकान्तिमान् कपाली, स्थाणु और भगवान् भव—ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं ।

३—द्वादश आदित्य ये हैं—

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।

(महा० आदि० ६५ । १५–१६)

'धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, दसवें सविता, ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहे गये हैं ।'

१–नृसिंहपुराणमें यही बात कही गयी है—'युयुधे विष्णुना सार्धं त्रयोदश दिनान्यसौ ।'

बन्द्युवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञ-
स्तत्रास सत्रं द्वादशवार्षिकं वै।
सत्रेण ते जनक तुल्यकालं
तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्याः ॥ २४ ॥

बन्दी बोला—महाराज जनक ! मैं राजा वरुणका पुत्र हूँ। मेरे पिताके यहाँ भी आपके इस यज्ञके समान ही बारह वर्षोंमें पूर्ण होनेवाला यज्ञ हो रहा था। उस यज्ञके अनुष्ठानके लिये ही (जलमें डुबानेके बहाने) कुछ चुने हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मैंने वरुणलोकमें भेज दिया था।२४।

ते तु सर्वे वरुणस्योत यज्ञं
द्रष्टुं गता इह आयान्ति भूयः।
अष्टावक्रं पूजये पूजनीयं
यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये ॥ २५ ॥

वे सब-के-सब वरुणका यज्ञ देखनेके लिये गये हैं और अब पुनः लौटकर आ रहे हैं। मैं पूजनीय ब्राह्मण अष्टावक्र-जीका सत्कार करता हूँ; जिनके कारण मेरा अपने पिताजीसे मिलना होगा ॥ २५ ॥

अष्टावक्र उवाच

विप्राः समुद्राम्भसि मज्जिता ये
वाचा जिता मेधया वा विदानाः।
तां मेधया वाचमथोज्जहार
यथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २६ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन् ! बन्दीने अपनी जिस वाणी (प्रवचनपटुता अथवा मेधा—बुद्धिबल) से विद्वान् ब्राह्मणों-को भी परास्त किया और समुद्रके जलमें डुबोया है, उसकी उस वाक्शक्तिको मैंने अपनी बुद्धिसे किस प्रकार उखाड़ फेंका है, यह सब इस सभामें बैठे हुए विद्वान् पुरुष मेरी बातें सुनकर ही जान गये होंगे ॥ २६ ॥

अग्निर्दहञ्जातवेदाः सतां गृहान्
विसर्जयंस्तेजसा न स्म धाक्षीत्।
बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु
तथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २७ ॥

अग्नि स्वभावसे ही दहन करनेवाला है तो भी वह ज्ञेय विषयको तत्काल जाननेमें समर्थ है। इस कारण परीक्षाके समय जो सदाचारी और सत्यवादी होते हैं, उनके घरोंको (शरीरोंको) छोड़ देता है, जलाता नहीं। वैसे ही संत लोग भी विनम्रभावसे बोलनेवाले बालक पुत्रोंके वचनोंमेंसे जो सत्य और हितकर बात होती है, उसे चुन लेते हैं—(उसे मान लेते हैं, उनकी अवहेलना नहीं करते)। भाव यह कि तुमको मेरे वचनोंका भाव समझकर उन्हें ग्रहण करना चाहिये ॥ २७ ॥

श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि
उताहो त्वां स्तुतयो मादयन्ति।
हस्तीव त्वं जनक वितुद्यमानो
न मामिकां वाचमिमां शृणोषि ॥ २८ ॥

राजन् ! जान पड़ता है, तुमने लसोड़ेके पत्तोंपर भोजन किया है या उसका फल खा लिया है, इसीसे तुम्हारा तेज क्षीण हो गया है; अतः तुम बन्दीकी बात सुन रहे हो, अथवा इस बन्दीद्वारा की गयी स्तुतियाँ तुम्हें उन्मत्त कर रही हैं, यही कारण है कि अंकुशकी मार खाकर भी न माननेवाले मतवाले हाथीकी भाँति तुम मेरी इन बातोंको नहीं सुन रहे हो ॥ २८ ॥

जनक उवाच

शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपा-
ममानुषीं दिव्यरूपोऽसि साक्षात्।
अजैषीर्यद् बन्दिनं त्वं विवादे
निसृष्ट एष तव कामोऽद्य बन्दी ॥ २९॥

जनकने कहा—ब्रह्मन् ! मैं आपकी दिव्य एवं अलौकिक वाणी सुन रहा हूँ, आप साक्षात् दिव्यस्वरूप हैं, आपने शास्त्रार्थमें बन्दीको जीत लिया है। आपकी इच्छा अभी पूरी की जा रही है। देखिये यह है आपके द्वारा जीता हुआ बन्दी ॥ २९ ॥

अष्टावक्र उवाच

नानेन जीवता कश्चिदर्थो मे बन्दिना नृप।
पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये ॥ ३० ॥

अष्टावक्र बोले—महाराज ! इस बन्दीके जीवित रहनेसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। यदि इसके पिता वरुणदेव हैं तो उनके पास जानेके लिये इसे निश्चय ही जलाशयमें डुबो दीजिये ॥ ३० ॥

बन्द्युवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो
न मे भयं विद्यते मज्जितस्य।
इमं मुहूर्तं पितरं द्रक्ष्यतेऽय-
मष्टावक्रश्चिरनष्टं कहोडम् ॥ ३१ ॥

बन्दीने कहा—राजन् ! मैं वास्तवमें राजा वरुणका पुत्र हूँ, अतः जलमें डुबाये जानेका मुझे कोई भय नहीं है। ये अष्टावक्र दीर्घकालसे नष्ट हुए अपने पिता कहोडको, इसी समय देखेंगे ॥ ३१ ॥

लोमश उवाच

ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महात्मना।
उदतिष्ठंस्ततः सर्वे जनकस्य समीपतः ॥ ३२ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर महामना वरुणद्वारा पूजित हुए वे समस्त ब्राह्मण (जो बन्दीद्वारा जलमें डुबोये गये थे,) सहसा राजा जनकके समीप प्रकट हो गये ॥ ३२ ॥

कहोड उवाच

इत्यर्थमिच्छन्ति सुताञ्जना जनक कर्मणा ।
यदहं नाशकं कर्तुं तत् पुत्रः कृतवान् मम ॥ ३३ ॥

उस समय कहोडने कहा—जनकराज ! लोग इसीलिये अच्छे कर्मोंद्वारा पुत्र पानेकी इच्छा रखते हैं, क्योंकि जो कार्य मैं नहीं कर सका, उसे मेरे पुत्रने कर दिखाया॥

उताबलस्य बलवानुत बालस्य पण्डितः ।
उत वाविदुषो विद्वान् पुत्रो जनक जायते ॥ ३४ ॥

जनकराज ! कभी-कभी निर्बलके भी बलवान्, मूर्खके भी पण्डित तथा अज्ञानीके भी ज्ञानी पुत्र उत्पन्न हो जाता है ॥

शितेन ते परशुना स्वयमेवान्तको नृप ।
शिरांस्यपाहरत्वाजौ रिपूणां भद्रमस्तु ते ॥ ३५ ॥

राजन् ! आपका कल्याण हो, युद्धमें स्वयं ही यमराज तीखे फरसेसे आपके शत्रुओंके मस्तक काटते रहें ॥ ३५ ॥

महदौक्थ्यं गीयते साम चाग्र्यं
सम्यक् सोमः पीयते चात्र सत्रे ।
शुचीन् भगान् प्रतिजगृहुश्च हृष्टाः
साक्षाद् देवा जनकस्योत राज्ञः ॥ ३६ ॥

महाराज जनकके इस यज्ञमें उत्तम एवं महत्त्वपूर्ण और औक्थ्य[1] सामकागान किया जाता है, विधिपूर्वक सोमरसका पान हो रहा है, देवगण प्रत्यक्ष दर्शन देकर बड़े हर्षके साथ अपने-अपने पवित्र भाग ग्रहण कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

लोमश उवाच

समुत्थितेष्वथ सर्वेषु राजन्
विप्रेषु तेष्वधिकं सुप्रभेषु ।
अनुज्ञातो जनकेनाथ राज्ञा
विवेश तोयं सागरस्योत बन्दी ॥ ३७ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! बन्दीद्वारा जलमें डुबोये हुए वे सभी ब्राह्मण जब वहाँ अधिक तेजस्वी रूपसे प्रकट हो गये, तब राजाकी आज्ञा लेकर बन्दी स्वयं ही समुद्रके जलमें समा गया ॥ ३७ ॥

अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा
सम्पूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत् ।
प्रत्याजगामाश्रममेव चाग्र्यं
जित्वा सौतिं सहितो मातुलेन ॥ ३८ ॥

अष्टावक्र अपने पिताकी पूजा करके स्वयं भी दूसरे ब्राह्मणोंद्वारा यथोचित रूपसे सम्मानित हुए और इस प्रकार बन्दीपर विजय पाकर पिता एवं मामाके साथ अपने श्रेष्ठ आश्रमपर ही लौट आये ॥ ३८ ॥

ततोऽष्टावक्रमातुरथान्तिके पिता
नदीं समङ्गां शीघ्रमिमां विशस्व ।
प्रोवाच चैनं स तथा विवेश
समैरङ्गैश्चापि बभूव सद्यः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर पिता कहोडने अष्टावक्रकी माता सुजाताके निकट पुत्र अष्टावक्रसे कहा—'बेटा ! तुम शीघ्र ही इस 'समङ्गा' नदीमें स्नानके लिये प्रवेश करो ।' पिताकी आज्ञाके अनुसार उन्होंने उस नदीमें स्नानके लिये प्रवेश किया । उसके जलका स्पर्श होनेपर तत्काल ही उनके सब अङ्ग सीधे हो गये ॥ ३९ ॥

नदी समङ्गा च बभूव पुण्या
यस्यां स्नातो मुच्यते किल्बिषाद्धि ।
त्वमप्येनां स्नानपानावगाहैः
सभ्रातृकः सहभार्यो विशस्व ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! इसीसे समङ्गा नदी पुण्यमयी हो गयी । इसमें स्नान करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । तुम भी स्नान, पान (आचमन) और अवगाहनके लिये अपनी पत्नी और भाइयोंके साथ इस नदीमें प्रवेश करो ॥ ४० ॥

अत्र कौन्तेय सहितो भ्रातृभिस्त्वं
सुखोषितः सह विप्रैः प्रतीतः ।
पुण्यान्यन्यानि शुचिकर्मैकभक्ति-
र्मया सार्धं चरितास्याजमीढ ॥ ४१ ॥

अजमीढकुलभूषण कुन्तीनन्दन ! तुम विश्वासपूर्वक अपने भाइयों और ब्राह्मणोंके साथ यहाँ एक रात सुखसे रहकर कलसे पुनः मेरे साथ पवित्र कर्मोंमें अविचल श्रद्धा-भक्ति रखते हुए दूसरे-दूसरे पुण्यतीर्थोंकी यात्रा करना ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

१–उक्थ नाम यज्ञविशेषमें गाये जाने योग्य सामको औक्थ्य कहते हैं ।

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्दमिलक्षेत्र आदि तीर्थोंकी महिमा, रैभ्य एवं भरद्वाजपुत्र यवक्रीत मुनिकी कथा तथा ऋषियोंका अनिष्ट करनेके कारण मेधावीकी मृत्यु

लोमश उवाच

**एषा मधुविला राजन् समङ्गा सम्प्रकाशते।
एतत् कर्दमिलं नाम भरतस्याभिषेचनम्॥ १॥**

लोमशजी कहते हैं—राजन्! यह मधुविला नदी प्रकाशित हो रही है। इसीका दूसरा नाम समङ्गा है और यह कर्दमिल नामक क्षेत्र है, जहाँ राजा भरतका अभिषेक किया गया था॥ १॥

**अलक्ष्म्या किल संयुक्तो वृत्रं हत्वा शचीपतिः।
आप्लुतः सर्वपापेभ्यः समङ्गायां व्यमुच्यत॥ २॥**

कहते हैं, वृत्रासुरका वध करके जब शचीपति इन्द्र श्रीहीन हो गये थे, उस समय उस समङ्गा नदीमें गोता लगाकर ही वे अपने सब पापोंसे छुटकारा पा सके थे॥ २॥

**एतद् विनशनं कुक्षौ मैनाकस्य नरर्षभ।
अदितिर्यत्र पुत्रार्थं तदन्नमपचत् पुरा॥ ३॥**

नरश्रेष्ठ! मैनाक पर्वतके कुक्षि-भागमें यह विनशन नामक तीर्थ है, जहाँ पूर्वकालमें अदिति देवीने पुत्र-प्राप्तिके लिये साध्य देवताओंके उद्देश्यसे अन्न[1] तैयार किया था॥ ३॥

**एनं पर्वतराजानमारुह्य भरतर्षभाः।
अयशस्यामसंशब्द्यामलक्ष्मीं व्यपनोत्स्यथ॥ ४॥**

भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुषो! इस पर्वतराज हिमालयपर आरूढ़ होकर तुम सब अयश फैलानेवाली और नाम लेनेके अयोग्य अपनी श्रीहीनताको शीघ्र ही दूर भगा दोगे॥ ४॥

**एते कनखला राजन्नृषीणां दयिता नगाः।
एषा प्रकाशते गङ्गा युधिष्ठिर महानदी॥ ५॥**

युधिष्ठिर! ये कनखलकी पर्वत-मालाएँ हैं, जो ऋषियोंको बहुत प्रिय लगती हैं। ये महानदी गङ्गा सुशोभित हो रही हैं॥

**सनत्कुमारो भगवानत्र सिद्धिमगात् पुरा।
आजमीढावगाह्यैनां सर्वपापैः प्रमोक्ष्यसे॥ ६॥**

यहीं पूर्वकालमें भगवान् सनत्कुमारने सिद्धि प्राप्त की थी। अजमीढनन्दन! इस गङ्गामें स्नान करके तुम सब पापोंसे छुटकारा पा जाओगे॥ ६॥

**अपां ह्रदं च पुण्याख्यं भृगुतुङ्गं च पर्वतम्।
उष्णीगङ्गे च कौन्तेय सामात्यः समुपस्पृश॥ ७॥**

कुन्तीकुमार! जलके इस पुण्य सरोवर, भृगुतुङ्ग पर्वतपर तथा 'उष्णीगङ्ग' नामक तीर्थमें जाकर तुम अपने मन्त्रियोंसहित स्नान और आचमन करो॥ ७॥

**आश्रमः स्थूलशिरसो रमणीयः प्रकाशते।
अत्र मानं च कौन्तेय क्रोधं चैव विवर्जय॥ ८॥**

यह स्थूलशिरा मुनिका रमणीय आश्रम शोभा पा रहा है। कुन्तीनन्दन! यहाँ अहंकार और क्रोधको त्याग दो॥८॥

**एष रैभ्याश्रमः श्रीमान् पाण्डवेय प्रकाशते।
भारद्वाजो यत्र कविर्यवक्रीतो व्यनश्यत॥ ९॥**

पाण्डुनन्दन! यह रैभ्यका सुन्दर आश्रम प्रकाशित हो रहा है, जहाँ विद्वान् भरद्वाजपुत्र यवक्रीत नष्ट हो गये थे॥९॥

युधिष्ठिर उवाच

**कथं युक्तोऽभवदृषिर्भरद्वाजः प्रतापवान्।
किमर्थं च यवक्रीतः पुत्रोऽनश्यत वै मुनेः॥ १०॥**

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन्! प्रतापी भरद्वाज मुनि कैसे योगयुक्त हुए थे और उनके पुत्र यवक्रीत किसलिये नष्ट हो गये थे?॥ १०॥

**एतत् सर्वं यथावृत्तं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
कर्मभिर्देवकल्पानां कीर्त्यमानैर्भृशं रमे॥ ११॥**

ये सब बातें मैं यथार्थरूपसे ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ। उन देवोपम मुनियोंके चरित्रोंका वर्णन सुनकर मेरे मनको बड़ा सुख मिलता है॥ ११॥

लोमश उवाच

**भरद्वाजश्च रैभ्यश्च सखायौ सम्बभूवतुः।
तावूषतुरिहात्यन्तं प्रीयमाणावनन्तरम्॥ १२॥**

लोमशजीने कहा—राजन्! भरद्वाज तथा रैभ्य दोनों एक दूसरेके सखा थे और निरन्तर इसी आश्रममें बड़े प्रेमसे रहा करते थे॥ १२॥

**रैभ्यस्य तु सुतावास्तामर्वावसुपरावसू।
आसीद् यवक्रीः पुत्रस्तु भरद्वाजस्य भारत॥ १३॥**

रैभ्यके दो पुत्र थे—अर्वावसु और परावसु। भारत! भरद्वाजके पुत्रका नाम 'यवक्री' अथवा 'यवक्रीत' था॥ १३॥

**रैभ्यो विद्वान् सहापत्यस्तपस्वी चेतरोऽभवत्।
तयोश्चाप्यतुला कीर्तिर्बाल्यात् प्रभृति भारत॥ १४॥**

भारत! पुत्रोंसहित रैभ्य बड़े विद्वान् थे।

---

[1] इस अन्नको ब्रह्मौदन कहते हैं, जैसा कि श्रुतिका कथन है—'साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत्' इति।

परंतु भरद्वाज केवल तपस्यामें संलग्न रहते थे। युधिष्ठिर ! बाल्यावस्थासे ही इन दोनों महात्माओंकी अनुपम कीर्ति सब ओर फैल रही थी ॥ १४ ॥

यवक्रीः पितरं दृष्ट्वा तपस्विनमसत्कृतम् ।
दृष्ट्वा च सत्कृतं विप्रै रैभ्यं पुत्रैः सहानघ ॥ १५ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! यवक्रीतने देखा, मेरे तपस्वी पिताका लोग सत्कार नहीं करते हैं; परंतु पुत्रोंसहित रैभ्यका ब्राह्मणोंद्वारा बड़ा आदर होता है ॥ १५ ॥

पर्यतप्यत तेजस्वी मन्युनाभिपरिप्लुतः ।
तपस्तेपे ततो घोरं वेदज्ञानाय पाण्डव ॥ १६ ॥

यह देख तेजस्वी यवक्रीतको बड़ा संताप हुआ। पाण्डुनन्दन ! वे क्रोधसे आविष्ट हो वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये घोर तपस्यामें लग गये ॥ १६ ॥

स समिद्धे महत्यग्नौ शरीरमुपतापयन् ।
जनयामास संतापमिन्द्रस्य सुमहातपाः ॥ १७ ॥

उन महातपस्वीने अत्यन्त प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरको तपाते हुए इन्द्रके मनमें संताप उत्पन्न कर दिया ॥

तत इन्द्रो यवक्रीतमुपगम्य युधिष्ठिर ।
अब्रवीत् कस्य हेतोस्त्वमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! तब इन्द्र यवक्रीतके पास आकर बोले—'तुम किसलिये यह उच्चकोटिकी तपस्या कर रहे हो ?' ॥ १८ ॥

यवक्रीत उवाच

द्विजानामनधीता वै वेदाः सुरगणार्चित ।
प्रतिभान्त्विति तप्येऽहमिदं परमकं तपः ॥ १९ ॥

यवक्रीतने कहा—देववृन्दपूजित महेन्द्र ! मैं यह उच्चकोटिकी तपस्या इसलिये करता हूँ कि द्विजातियोंको बिना पढ़े ही सब वेदोंका ज्ञान हो जाय ॥ १९ ॥

स्वाध्यायार्थं समारम्भो ममायं पाकशासन ।
तपसा ज्ञातुमिच्छामि सर्वज्ञानानि कौशिक ॥ २० ॥

पाकशासन ! मेरा यह आयोजन स्वाध्यायके लिये ही है। कौशिक ! मैं तपस्याद्वारा सब बातोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ २० ॥

कालेन महता वेदाः शक्या गुरुमुखाद् विभो ।
प्राप्तुं तस्मादयं यत्नः परमो मे समास्थितः ॥ २१ ॥

प्रभो ! गुरुके मुखसे दीर्घकालके पश्चात् वेदोंका ज्ञान हो सकता है। अतः मेरा यह महान् प्रयत्न शीघ्र ही सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये है ॥ २१ ॥

इन्द्र उवाच

अमार्ग एष विप्रर्षे येन त्वं यातुमिच्छसि ।
किं विघातेन ते विप्र गच्छाधीहि गुरोर्मुखात् ॥ २२ ॥

इन्द्र बोले—विप्रर्षे ! तुम जिस राहसे जाना चाहते हो, वह अध्ययनका मार्ग नहीं है। स्वाध्यायके समुचित मार्गको नष्ट करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? अतः जाओ गुरुके मुखसे ही अध्ययन करो ॥ २२ ॥

लोमश उवाच

एवमुक्त्वा गतः शक्रो यवक्रीरपि भारत ।
भूय एवाकरोद् यत्नं तपस्यमितविक्रमः ॥ २३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर इन्द्र चले गये; तब अत्यन्त पराक्रमी यवक्रीतने भी पुनः तपस्याके लिये ही घोर प्रयास आरम्भ कर दिया ॥ २३ ॥

घोरेण तपसा राजंस्तप्यमानो महत् तपः ।
संतापयामास भृशं देवेन्द्रमिति नः श्रुतम् ॥ २४ ॥

राजन् ! उसने घोर तपस्याद्वारा महान् तपका संचय करते हुए देवराज इन्द्रको अत्यन्त संतप्त कर दिया; यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥ २४ ॥

तं तथा तप्यमानं तु तपस्तीव्रं महामुनिम् ।
उपेत्य बलभिद् देवो वारयामास वै पुनः ॥ २५ ॥
अशक्योऽर्थः समारब्धो नैतद् बुद्धिकृतं तव ।
प्रतिभास्यन्ति वै वेदास्तव चैव पितुश्च ते ॥ २६ ॥

महामुनि यवक्रीतको इस प्रकार तपस्या करते देख इन्द्रने उनके पास जाकर पुनः मना किया और कहा—'मुने ! तुमने ऐसे कार्यका आरम्भ किया है, जिसकी सिद्धि होनी असम्भव है। तुम्हारा यह (द्विजमात्रके लिये बिना पढ़े वेदका ज्ञान होनेका) आयोजन बुद्धि-संगत नहीं है; किंतु केवल तुमको और तुम्हारे पिताको ही वेदोंका ज्ञान होगा' ॥२५-२६॥

यवक्रीत उवाच

न चैतदेवं क्रियते देवराज ममेप्सितम् ।
महता नियमेनाहं तप्स्ये घोरतरं तपः ॥ २७ ॥

यवक्रीतने कहा—देवराज ! यदि इस प्रकार आप मेरे इष्ट मनोरथकी सिद्धि नहीं करते हैं, तो मैं और भी कठोर नियम लेकर अत्यन्त भयंकर तपस्यामें लग जाऊँगा ॥ २७ ॥

समिद्धेऽग्नावुपकृत्याङ्गमङ्गं
होष्यामि वा मघवंस्तन्निबोध ।
यद्येतदेवं न करोषि कामं
ममेप्सितं देवराजेह सर्वम् ॥ २८ ॥

देवराज इन्द्र ! यदि आप यहाँ मेरी सारी मनोवाञ्छित कामना पूरी नहीं करते हैं, तो मैं प्रज्वलित अग्निमें अपने एक-एक अङ्गको होम दूँगा। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ २८ ॥

लोमश उवाच

निश्चयं तमभिज्ञाय मुनेस्तस्य महात्मनः ।
प्रतिवारणहेत्वर्थं बुद्ध्या संचिन्त्य बुद्धिमान् ॥ २९ ॥

तत इन्द्रोऽकरोद् रूपं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अनेकशतवर्षस्य दुर्बलस्य सयक्ष्मणः ॥ ३० ॥

लोमशजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! उन महामुनिके उस निश्चयको जानकर बुद्धिमान् इन्द्रने उन्हें रोकनेके लिये बुद्धिपूर्वक कुछ विचार किया और एक ऐसे तपस्वी ब्राह्मणका रूप धारण कर लिया, जिसकी उम्र कई सौ वर्षोंकी थी तथा जो यक्ष्माका रोगी और दुर्बल दिखायी देता था ॥ २९-३० ॥

यवक्रीतस्य यत् तीर्थमुचितं शौचकर्मणि ।
भागीरथ्यां तत्र सेतुं वालुकाभिश्चकार सः ॥ ३१ ॥

गङ्गाके जिस तीर्थमें यवक्रीत मुनि स्नान आदि किया करते थे, उसीमें वे ब्राह्मण देवता बालूद्वारा पुल बनाने लगे ॥ ३१ ॥

यदास्य वदतो वाक्यं न स चक्रे द्विजोत्तमः ।
वालुकाभिस्ततः शक्रो गङ्गां समभिपूरयन् ॥ ३२ ॥

द्विजश्रेष्ठ यवक्रीतने जब इन्द्रका कहना नहीं माना, तब वे बालूसे गङ्गाजीको भरने लगे ॥ ३२ ॥

वालुकामुष्टिमनिशं भागीरथ्यां व्यसर्जयत् ।
सेतुमभ्यारभच्छक्रो यवक्रीतं निदर्शयन् ॥ ३३ ॥

वे निरन्तर एक-एक मुट्ठी बालू गङ्गाजीमें छोड़ते थे और इस प्रकार उन्होंने यवक्रीतको दिखाकर पुल बाँधनेका कार्य आरम्भ कर दिया ॥ ३३ ॥

तं ददर्श यवक्रीतो यत्नवन्तं निबन्धने ।
प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥ ३४ ॥

मुनिवर यवक्रीतने देखा, ब्राह्मण देवता पुल बाँधनेके लिये बड़े यत्नशील हैं, तब उन्होंने हँसते हुए इस प्रकार कहा--॥ ३४ ॥

किमिदं वर्तते ब्रह्मन् किं च ते ह चिकीर्षितम् ।
अतीव हि महान् यत्नः क्रियतेऽयं निरर्थकः ॥ ३५ ॥

'ब्रह्मन् ! यह क्या है ? आप क्या करना चाहते हैं ? आप प्रयत्न तो महान् कर रहे हैं, परंतु यह व्यर्थ है' ॥ ३५ ॥

इन्द्र उवाच

बन्धिष्ये सेतुना गङ्गां सुखः पन्था भविष्यति ।
क्लिश्यते हि जनस्तात तरमाणः पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

इन्द्र बोले--तात ! मैं गङ्गाजीपर पुल बाँधूँगा । इससे पार जानेके लिये सुखद मार्ग बन जायगा; क्योंकि पुलके न होनेसे इधर आने-जानेवाले लोगोंको बार-बार तैरनेका कष्ट उठाना पड़ता है ॥ ३६ ॥

यवक्रीत उवाच

नायं शक्यस्त्वया बद्धुं महानोघस्तपोधन ।
अशक्याद् विनिवर्तस्व शक्यमर्थं समारभ ॥ ३७ ॥

यवक्रीतने कहा--तपोधन ! यहाँ अगाध जलराशि भरी है; अतः तुम पुल बाँधनेमें सफल नहीं हो सकोगे । इसलिये इस असम्भव कार्यसे मुँह मोड़ लो और ऐसे कार्यमें हाथ डालो, जो तुमसे हो सके ॥ ३७ ॥

इन्द्र उवाच

यथैव भवता चेदं तपो वेदार्थमुद्यतम् ।
अशक्यं तद्वदस्माभिरयं भारः समाहितः ॥ ३८ ॥

इन्द्र बोले--मुने ! जैसे आपने बिना पढ़े वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये यह तपस्या प्रारम्भ की है, जिसकी सफलता असम्भव है, उसी प्रकार मैंने भी यह पुल बाँधनेका भार उठाया है ॥ ३८ ॥

यवक्रीत उवाच

यथा तव निरर्थोऽयमारम्भस्त्रिदशेश्वर ।
तथा यदि समाप्तीदं मन्यसे पाकशासन ॥ ३९ ॥
क्रियतां यद् भवेच्छक्यं त्वया सुरगणेश्वर ।
वरांश्च मे प्रयच्छान्यान् यैरन्यान् भवितास्म्यति ॥ ४० ॥

यवक्रीतने कहा--देवेश्वर पाकशासन ! जैसे आपका वह पुल बाँधनेका आयोजन व्यर्थ है, उसी प्रकार यदि मेरी इस तपस्याको भी आप निरर्थक मानते हैं तो वही कार्य कीजिये जो सम्भव हो, मुझे ऐसे उत्तम वर प्रदान कीजिये, जिनके द्वारा मैं दूसरोंसे बढ़-चढ़कर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकूँ ॥

लोमश उवाच

तस्मै प्रादाद् वरानिन्द्र उक्तवान् यान् महातपाः ।
प्रतिभास्यन्ति ते वेदाः पित्रा सह यथेप्सिताः ॥ ४१ ॥
यच्चान्यत् काङ्क्षसे कामं यवक्रीर्गम्यतामिति ।
स लब्धकामः पितरं समेत्याथेदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

लोमशजी कहते हैं--राजन् ! तब इन्द्रने महातपस्वी यवक्रीतके कथनानुसार उन्हें वर देते हुए कहा--'यवक्रीत ! तुम्हारे पितासहित तुम्हें वेदोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो जायगा । साथ ही और भी जो तुम्हारी कामना हो, वह पूर्ण हो जायगी । अब तुम तपस्या छोड़कर अपने आश्रमको लौट जाओ ।'

इस प्रकार पूर्णकाम होकर, यवक्रीत अपने पिताके पास गये और इस प्रकार बोले ॥ ४१-४२ ॥

यवक्रीत उवाच

प्रतिभास्यन्ति वै वेदा मम तातस्य चोभयोः ।
अति चान्यान् भविष्यावो वरा लब्धास्तदा मया ॥ ४३ ॥

यवक्रीतने कहा--पिताजी ! आपको और मुझे दोनोंको ही सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान हो जायगा । साथ ही हम दोनों दूसरोंसे ऊँची स्थितिमें हो जायँगे--ऐसा वर मैंने प्राप्त किया है ॥ ४३ ॥

भरद्वाज उवाच

दर्पस्ते भविता तात वराँल्लब्ध्वा यथेप्सितान् ।
स दर्पपूर्णः कृपणः क्षिप्रमेव विनङ्क्ष्यसि ॥ ४४ ॥

भरद्वाज बोले—तात ! इस तरह मनोवाञ्छित वर प्राप्त करनेके कारण तुम्हारे मनमें अहंकार उत्पन्न हो जायगा और अहंकारसे युक्त होनेपर तुम कृपण होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ ४४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा देवैरुदाहृताः ।
मुनिरासीत् पुरा पुत्र बालधिर्नाम वीर्यवान् ॥ ४५ ॥

इस विषयमें विज्ञजन देवताओंकी कही हुई यह गाथा सुनाया करते हैं—प्राचीनकालमें बालधि नामसे प्रसिद्ध एक शक्तिशाली मुनि थे ॥ ४५ ॥

स पुत्रशोकादुद्विग्नस्तपस्तेपे सुदुष्करम् ।
भवेन्मम सुतोऽमर्त्य इति तं लब्धवांश्च सः ॥ ४६ ॥

उन्होंने पुत्र-शोकसे संतप्त होकर अत्यन्त कठोर तपस्या की। तपस्याका उद्देश्य यह था कि मुझे देवोपम पुत्र प्राप्त हो। अपनी उस अभिलाषाके अनुसार बालधिको एक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ४६ ॥

तस्य प्रसादो वै देवैः कृतो न त्वमरैः समः ।
नामर्त्यो विद्यते मर्त्यो निमित्तायुर्भविष्यति ॥ ४७ ॥

देवताओंने उनपर कृपा अवश्य की, परंतु उनके पुत्रको देवतुल्य नहीं बनाया और वरदान देते हुए यह कहा 'कि मरणधर्मा मनुष्य कभी देवताके समान अमर नहीं हो सकता। अतः उसकी आयु निमित्त (कारण) के अधीन होगी' ॥

बालधिरुवाच

यथेमे पर्वताः शश्वत् तिष्ठन्ति सुरसत्तमाः ।
अक्षयास्तन्निमित्तं मे सुतस्यायुर्भविष्यति ॥ ४८ ॥

बालधि बोले—देववरो ! जैसे ये पर्वत सदा अक्षय भावसे खड़े रहते हैं, वैसे ही मेरा पुत्र भी सदा अक्षय बना रहे। ये पर्वत ही उसकी आयुके निमित्त होंगे। अर्थात् जबतक ये पर्वत यहाँ बने रहें तबतक मेरा पुत्र भी जीवित रहे ॥ ४८ ॥

भरद्वाज उवाच

तस्य पुत्रस्तदा जज्ञे मेधावी क्रोधनस्तदा ।
स तच्छ्रुत्वाकरोद् दर्पमृषींश्चैवावमन्यत ॥ ४९ ॥

भरद्वाज कहते हैं—यवक्रीत ! तदनन्तर बालधिके पुत्रका जन्म हुआ, जो मेधायुक्त होनेके कारण मेधावी नामसे विख्यात था। वह स्वभावका बड़ा क्रोधी था। अपनी आयुके विषयमें देवताओंके वरदानकी बात सुनकर मेधावी घमण्डमें भर गया और ऋषियोंका अपमान करने लगा ॥ ४९ ॥

विकुर्वाणो मुनीनां च व्यचरत् स महीमिमाम् ।
आससाद महावीर्यं धनुषाक्षं मनीषिणम् ॥ ५० ॥

इतना ही नहीं, वह ऋषि-मुनियोंको सतानेके उद्देश्यसे ही इस पृथ्वीपर सब ओर विचरा करता था। एक दिन मेधावी महान् शक्तिशाली एवं मनीषी धनुषाक्षके पास जा पहुँचा ॥ ५० ॥

तस्यापचक्रे मेधावी तं शशाप स वीर्यवान् ।
भव भस्मेति चोक्तः स न भस्म समपद्यत ॥ ५१ ॥

और उनका तिरस्कार करने लगा। तब तपोबलसम्पन्न ऋषि धनुषाक्षने उसे शाप देते हुए कहा—'अरे तू जलकर भस्म हो जा।' परंतु उनके कहनेपर भी वह भस्म नहीं हुआ ॥

धनुषाक्षस्तु तं दृष्ट्वा मेधाविनमनामयम् ।
निमित्तमस्य महिषैर्भेदयामास वीर्यवान् ॥ ५२ ॥

शक्तिशाली धनुषाक्षने ध्यानमें देखा कि मेधावी रोग एवं मृत्युसे रहित है। तब उसकी आयुके निमित्तभूत पर्वतोंको उन्होंने भैंसोंद्वारा विदीर्ण करा दिया ॥ ५२ ॥

स निमित्ते विनष्टे तु ममार सहसा शिशुः ।
तं मृतं पुत्रमादाय विललाप ततः पिता ॥ ५३ ॥

निमित्तका नाश होते ही उस मुनिकुमारकी सहसा मृत्यु हो गयी। तदनन्तर पिता उस मरे हुए पुत्रको लेकर अत्यन्त विलाप करने लगे ॥ ५३ ॥

लालप्यमानं तं दृष्ट्वा मुनयः पुनरार्तवत् ।
ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे ॥ ५४ ॥

अधिक पीड़ित मनुष्योंकी भाँति उन्हें विलाप करते देख वहाँके समस्त वेदवेत्ता मुनिगण एकत्र हो जिस गाथाको गाने लगे, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५४ ॥

न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथंचन ।
महिषैर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ॥ ५५ ॥

'मरणधर्मा मनुष्य किसी तरह दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकता, तभी तो धनुषाक्षने उस बालककी आयुके निमित्तभूत पर्वतोंका भैंसोंद्वारा भेदन करा दिया' ॥ ५५ ॥

एवं लब्ध्वा वरान् बाला दर्पपूर्णास्तपस्विनः ।
क्षिप्रमेव विनश्यन्ति यथा न स्यात् तथा भवान् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार बालक तपस्वी वर पाकर घमण्डमें भर जाते हैं और (अपने दुर्व्यवहारोंके कारण) शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। तुम्हारी भी यही अवस्था न हो (इसलिये सावधान किये देता हूँ) ॥ ५६ ॥

एष रैभ्यो महावीर्यः पुत्रौ चास्य तथाविधौ ।
तं यथा पुत्र नाभ्येषि तथा कुर्यास्त्वतन्द्रितः ॥ ५७ ॥

ये रैभ्य मुनि महान् शक्तिशाली हैं। इनके दोनों पुत्र

भी इन्हींके समान हैं। बेटा ! तुम उन रैभ्यमुनिके पास कदापि न जाना और आलस्य छोड़कर इसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना ॥ ५७ ॥

स हि क्रुद्धः समर्थस्त्वां पुत्र पीडयितुं रुषा ।
रैभ्यश्चापि तपस्वी च कोपनश्च महानृषिः ॥ ५८ ॥

बेटा ! तुम्हें सावधान करनेका कारण यह है कि शक्तिशाली तपस्वी महर्षि रैभ्य बड़े क्रोधी हैं। वे कुपित होकर रोषसे तुम्हें पीड़ा दे सकते हैं ॥ ५८ ॥

यवक्रीत उवाच

एवं करिष्ये मा तापं तात कार्षीः कथंचन ।
यथा हि मे भवान् मान्यस्तथा रैभ्यः पिता मम ॥ ५९ ॥

यवक्रीत बोले—पिताजी ! मैं ऐसा ही करूँगा, आप किसी तरह मनमें संताप न करें। जैसे आप मेरे माननीय हैं, वैसे रैभ्यमुनि मेरे लिये पिताके समान हैं ॥ ५९ ॥

लोमश उवाच

उक्त्वा स पितरं श्लक्ष्णं यवक्रीरकुतोभयः ।
विप्रकुर्वन्नृषीनन्यानतुष्यत् परया मुदा ॥ ६० ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पितासे यह मीठी बातें कहकर यवक्रीत निर्भय विचरने लगे। दूसरे ऋषियोंको सतानेमें उन्हें अधिक सुख मिलता था। वैसा करके वे बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

यवक्रीतका रैभ्यमुनिकी पुत्रवधूके साथ व्यभिचार और रैभ्यमुनिके क्रोधसे उत्पन्न राक्षसके द्वारा उसकी मृत्यु

लोमश उवाच

चङ्क्रम्यमाणः स तदा यवक्रीरकुतोभयः ।
जगाम माधवे मासि रैभ्याश्रमपदं प्रति ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उन दिनों यवक्रीत सर्वथा भयशून्य होकर चारों ओर चक्कर लगाता था। एक दिन वैशाखमासमें वह रैभ्यमुनिके आश्रममें गया ॥ १ ॥

स ददर्शाश्रमे रम्ये पुष्पितद्रुमभूषिते ।
विचरन्तीं स्नुषां तस्य किन्नरीमिव भारत ॥ २ ॥

भारत ! वह आश्रम खिले हुए वृक्षोंकी श्रेणियोंसे सुशोभित हो अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता था। उस आश्रममें रैभ्य मुनिकी पुत्रवधू किन्नरीके समान विचर रही थी। यवक्रीतने उसे देखा ॥ २ ॥

यवक्रीस्तामुवाचेदमुपातिष्ठस्व मामिति ।
निर्लज्जो लज्जया युक्तां कामेन हृतचेतनः ॥ ३ ॥

देखते ही वह कामदेवके वशीभूत हो अपनी विचार-शक्ति खो बैठा और लजाती हुई उस मुनिवधूसे निर्लज्ज होकर बोला—'सुन्दरी ! तू मेरी सेवामें उपस्थित हो' ॥ ३ ॥

सा तस्य शीलमाज्ञाय तस्माच्छापाच्च बिभ्यती ।
तेजस्वितां च रैभ्यस्य तथेत्युक्त्वाऽऽजगाम ह ॥ ४ ॥

वह यवक्रीतके शील-स्वभावको जानकर भी उसके शापसे डरती थी। साथ ही उसे रैभ्य मुनिकी तेजस्विताका भी स्मरण था। अतः 'बहुत अच्छा' कहकर उसके पास चली आयी ॥ ४ ॥

तत एकान्तमुन्नीय मज्जयामास भारत ।
आजगाम तदा रैभ्यः स्वमाश्रममरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुविनाशन भारत ! तब यवक्रीतने उसे एकान्तमें ले जाकर पापके समुद्रमें डुबो दिया। (उसके साथ रमण किया।) इतनेहीमें रैभ्य मुनि अपने आश्रममें आ गये ॥ ५ ॥

रुदतीं च स्नुषां दृष्ट्वा भार्यामार्तां परावसोः ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा पर्यपृच्छद् युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

सा तस्मै सर्वमाचष्ट यवक्रीभाषितं शुभा ।
प्रत्युक्तं च यवक्रीतं प्रेक्षापूर्वं तथाऽऽत्मना ॥ ७ ॥

आकर उन्होंने देखा कि मेरी पुत्रवधू एवं परावसुकी पत्नी आर्तभावसे रो रही है। युधिष्ठिर ! यह देखकर रैभ्यने मधुर वाणीद्वारा उसे सान्त्वना दी तथा रोनेका कारण पूछा। उस शुभलक्षणा बहूने यवक्रीतकी कही हुई सारी बातें श्वशुरके सामने कह सुनायीं एवं स्वयं उसने भलीभाँति सोच-विचारकर यवक्रीतकी बातें माननेसे जो अस्वीकार कर दिया था, वह सारा वृत्तान्त भी बता दिया ॥ ६-७ ॥

शृण्वानस्यैव रैभ्यस्य यवक्रीत विचेष्टितम् ।
दहन्निव तदा चेतः क्रोधः समभवन्महान् ॥ ८ ॥

यवक्रीतकी यह कुचेष्टा सुनते ही रैभ्यके हृदयमें क्रोधकी प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो उठी, जो उनके अन्तःकरणको मानो भस्म किये दे रही थी ॥ ८ ॥

स तदा मन्युनाऽऽविष्टस्तपस्वी कोपनो भृशम्।
अवलुच्य जटामेकां जुहावाग्नौ सुसंस्कृते ॥ ९ ॥

तपस्वी रैभ्य स्वभावसे ही बड़े क्रोधी थे, तिसपर भी उस समय उनके ऊपर क्रोधका आवेश छा रहा था। अतः उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़कर संस्कारपूर्वक स्थापित की हुई अग्निमें होम दी ॥ ९ ॥

ततः समभवन्नारी तस्या रूपेण सम्मिता।
अवलुच्यापरां चापि जुहावाग्नौ जटां पुनः ॥ १० ॥

उससे एक नारीके रूपमें कृत्या प्रकट हुई, जो रूपमें उनकी पुत्रवधूके ही समान थी। तत्पश्चात् एक दूसरी जटा उखाड़कर उन्होंने पुनः उसी अग्निमें डाल दी ॥ १० ॥

ततः समभवद् रक्षो घोराक्षं भीमदर्शनम्।
अब्रूतां तौ तदा रैभ्यं किं कार्यं करवावहै ॥ ११ ॥

उससे एक राक्षस प्रकट हुआ, जिसकी आँखें बड़ी डरावनी थीं। वह देखनेमें बड़ा भयानक प्रतीत होता था। उस समय उन दोनोंने रैभ्य मुनिसे पूछा—'हम आपकी किस आज्ञाका पालन करें?' ॥ ११ ॥

तावब्रवीदृषिः क्रुद्धो यवक्रीर्वध्यतामिति।
जग्मतुस्तौ तथेत्युक्त्वा यवक्रीतजिघांसया ॥ १२ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए महर्षिने कहा—'यवक्रीतको मार डालो।' उस समय 'बहुत अच्छा' कहकर वे दोनों यवक्रीतके वधकी इच्छासे उसका पीछा करने लगे ॥ १२ ॥

ततस्तं समुपास्थाय कृत्या सृष्टा महात्मना।
कमण्डलुं जहारास्य मोहयित्वेव भारत ॥ १३ ॥

भारत! महामना रैभ्यकी रची हुई कृत्यारूप सुन्दरी नारीने पहले यवक्रीतके पास उपस्थित हो उसे मोहमें डालकर उसका कमण्डलु हर लिया ॥ १३ ॥

उच्छिष्टं तु यवक्रीतमपकृष्टकमण्डलुम्।
तत उद्यतशूलः स राक्षसः समुपाद्रवत् ॥ १४ ॥

कमण्डलु खो जानेसे यवक्रीतका शरीर उच्छिष्ट (जूठा या अपवित्र) रहने लगा। उस दशामें वह राक्षस हाथमें त्रिशूल उठाये यवक्रीतकी ओर दौड़ा ॥ १४ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य शूलहस्तं जिघांसया।
यवक्रीः सहसोत्थाय प्राद्रवद् येन वै सरः ॥ १५ ॥

राक्षस शूल हाथमें लिये मुझे मार डालनेकी इच्छासे मेरी ओर दौड़ा आ रहा है, यह देखकर यवक्रीत सहसा उठे और उस मार्गसे भागे, जो एक सरोवरकी ओर जाता था ॥

जलहीनं सरो दृष्ट्वा यवक्रीस्त्वरितः पुनः।
जगाम सरितः सर्वास्ताश्चाप्यासन् विशोषिताः ॥ १६ ॥

इसके जाते ही सरोवरका पानी सूख गया। सरोवरको जलहीन हुआ देख यवक्रीत फिर तुरंत ही समस्त सरिताओंके पास गया; परंतु इसके जानेपर वे सब भी सूख गयीं ॥ १६ ॥

स काल्यमानो घोरेण शूलहस्तेन रक्षसा।
अग्निहोत्रं पितुर्भीतः सहसा प्रविवेश ह ॥ १७ ॥

तब हाथमें शूल लिये उस भयानक राक्षसके खदेड़नेपर यवक्रीत अत्यन्त भयभीत हो सहसा अपने पिताके अग्निहोत्र-गृहमें घुसने लगा ॥ १७ ॥

स वै प्रविशमानस्तु शूद्रेणान्धेन रक्षिणा।
निगृहीतो बलाद् द्वारि सोऽवातिष्ठत पार्थिव ॥ १८ ॥

राजन्! उस समय अग्निहोत्रगृहके अंदर एक शूद्र-जातीय रक्षक नियुक्त था, जिसकी दोनों आँखें अंधी थीं। उसने दरवाजेके भीतर घुसते ही यवक्रीतको बलपूर्वक पकड़ लिया और यवक्रीत वहीं खड़ा हो गया ॥ १८ ॥

निगृहीतं तु शूद्रेण यवक्रीतं स राक्षसः।
ताडयामास शूलेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥ १९ ॥

शूद्रके द्वारा पकड़े गये यवक्रीतपर उस राक्षसने शूलसे प्रहार किया। इससे उसकी छाती फट गयी और वह प्राण-शून्य होकर वहीं गिर पड़ा ॥ १९ ॥

यवक्रीतं स हत्वा तु राक्षसो रैभ्यमागमत्।
अनुज्ञातस्तु रैभ्येण तया नार्या सहावसत् ॥ २० ॥

इस प्रकार यवक्रीतको मारकर राक्षस रैभ्यके पास लौट आया और उनकी आज्ञा ले उस कृत्यास्वरूपा रमणीके साथ उनकी सेवामें रहने लगा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भरद्वाजका पुत्रशोकसे विलाप करना, रैभ्यमुनिको शाप देना एवं स्वयं अग्निमें प्रवेश करना

लोमश उवाच

भरद्वाजस्तु कौन्तेय कृत्वा स्वाध्यायमाह्निकम्।
समित्कलापमादाय प्रविवेश स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

तं स्म दृष्ट्वा पुरा सर्वे प्रत्युत्तिष्ठन्ति पावकाः।
न त्वेनमुपतिष्ठन्ति हतपुत्रं तदाग्नयः ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! भरद्वाज मुनि

प्रतिदिनका स्वाध्याय पूरा करके बहुत-सी समिधाएँ लिये आश्रममें आये। उस दिनसे पहले सभी अग्नियाँ उनको देखते ही उठकर स्वागत करती थीं, परंतु उस समय उनका पुत्र मारा गया था; इसलिये अशौचयुक्त होनेके कारण उनका अग्नियोंने पूर्ववत् खड़े होकर स्वागत नहीं किया ॥ १-२ ॥

वैकृतं त्वग्निहोत्रे स लक्षयित्वा महातपाः।
तमन्धं शूद्रमासीनं गृहपालमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रगृहमें यह विकृति देखकर उन महातपस्वी भरद्वाजने वहाँ बैठे हुए अन्धे गृहरक्षक शूद्रसे पूछा— ॥ ३ ॥

किं नु मे नाग्नयः शूद्र प्रतिनन्दन्ति दर्शनम्।
त्वं चापि न यथापूर्वं कच्चित् क्षेममिहाश्रमे ॥ ४ ॥
कच्चिन्न रैभ्यं पुत्रो मे गतवानल्पचेतनः।
एतदाचक्ष्व मे शीघ्रं न हि शुद्ध्यति मे मनः ॥ ५ ॥

'दास ! क्या कारण है कि आज अग्नियाँ पूर्ववत् मेरा दर्शन करके प्रसन्नता नहीं प्रकट करती हैं। इधर तुम भी पहले-जैसे समादरका भाव नहीं दिखाते हो। इस आश्रममें कुशल तो है न ? कहीं मेरा मन्दबुद्धि पुत्र रैभ्यके पास तो नहीं चला गया ? यह बात मुझे शीघ्र बताओ; क्योंकि मेरा मन शान्त नहीं हो रहा है' ॥ ४-५ ॥

शूद्र उवाच

रैभ्यं यातो नूलमयं पुत्रस्ते मन्दचेतनः।
तथा हि निहतः शेते राक्षसेन बलीयसा ॥ ६ ॥

शूद्र बोला—भगवन् ! अवश्य ही आपका यह मन्दमति पुत्र रैभ्यके यहाँ गया था। उसीका यह फल है कि एक महाबली राक्षसके द्वारा मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा है ॥ ६ ॥

प्रकाल्यमानस्तेनायं शूलहस्तेन रक्षसा।
अग्न्यागारं प्रति द्वारि मया दोर्भ्यां निवारितः ॥ ७ ॥

राक्षस अपने हाथमें शूल लेकर इसका पीछा कर रहा था और यह अग्निशालामें घुसा जा रहा था। उस समय मैंने दोनों हाथोंसे पकड़कर इसे द्वारपर ही रोक लिया ॥ ७ ॥

ततः स विहताशोऽत्र जलकामोऽशुचिर्ध्रुवम्।
निहतः सोऽतिवेगेन शूलहस्तेन रक्षसा ॥ ८ ॥

निश्चय ही अपवित्र होनेके कारण यह शुद्धिके लिये जल लेनेकी इच्छा रखकर यहाँ आया था, परंतु मेरे रोक देनेसे यह हताश हो गया। उस दशामें उस शूलधारी राक्षसने इसके ऊपर बड़े वेगसे प्रहार करके इसे मार डाला ॥ ८ ॥

भरद्वाजस्तु तच्छ्रुत्वा शूद्रस्य विप्रियं महत्।
गतासुं पुत्रमादाय विललाप सुदुःखितः ॥ ९ ॥

शूद्रका कहा हुआ यह अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर भरद्वाज बड़े दुखी हो गये और अपने प्राणशून्य पुत्रको लेकर विलाप करने लगे ॥ ९ ॥

भरद्वाज उवाच

ब्राह्मणानां किलार्थाय ननु त्वं तप्तवांस्तपः।
द्विजानामनधीता वै वेदाः सम्प्रतिभान्त्विति ॥ १० ॥

भरद्वाजने कहा—बेटा ! तुमने ब्राह्मणोंके हितके लिये भारी तपस्या की थी। तुम्हारी तपस्याका यह उद्देश्य था कि द्विजोंको बिना पढ़े ही सब वेदोंका ज्ञान हो जाय ॥ १० ॥

तथा कल्याणशीलस्त्वं ब्राह्मणेषु महात्मसु।
अनागाः सर्वभूतेषु कर्कशत्वमुपेयिवान् ॥ ११ ॥

इस प्रकार महात्मा ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त कल्याणकारी था। किसी भी प्राणीके प्रति तुम कोई अपराध नहीं करते थे। फिर भी तुम्हारा स्वभाव कुछ कठोर हो गया था ॥ ११ ॥

प्रतिषिद्धो मया तात रैभ्यावसथदर्शनात्।
गतवानेव तं द्रष्टुं कालान्तकयमोपमम् ॥ १२ ॥
यः स जानन् महातेजा वृद्धस्यैकं ममात्मजम्।
गतवानेव कोपस्य वशं परमदुर्मतिः ॥ १३ ॥

तात ! मैंने तुम्हें बार-बार मना किया था कि तुम रैभ्यके आश्रमकी ओर न देखना, परंतु तुम उसे देखने चले ही गये और वह तुम्हारे लिये काल, अन्तक एवं यमराजके समान हो गया। महान् तेजस्वी होनेपर भी उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है। वह जानता था कि मुझ बूढ़ेके तुम एक ही पुत्र हो तो भी वह दुष्ट क्रोधके वशीभूत हो ही गया ॥ १२-१३ ॥

पुत्रशोकमनुप्राप्त एष रैभ्यस्य कर्मणा।
त्यक्ष्यामि त्वामृते पुत्र प्राणानिष्टतमान् भुवि ॥ १४ ॥

बेटा ! आज रैभ्यके इस कठोर कर्मसे मुझे पुत्रशोक प्राप्त हुआ है। तुम्हारे बिना मैं इस पृथ्वीपर अपने परम प्रिय प्राणोंका भी परित्याग कर दूँगा ॥ १४ ॥

यथाहं पुत्रशोकेन देहं त्यक्ष्यामि किल्बिषी।
तथा ज्येष्ठः सुतो रैभ्यं हिंस्याच्छीघ्रमनागसम् ॥ १५ ॥

जैसे मैं पापी अपने पुत्रके शोकसे व्याकुल हो अपने शरीरका त्याग कर रहा हूँ, उसी प्रकार रैभ्यका ज्येष्ठ पुत्र अपने निरपराध पिताकी शीघ्र हत्या कर डालेगा ॥ १५ ॥

सुखिनो वै नरा येषां जात्या पुत्रो न विद्यते।
ते पुत्रशोकमप्राप्य विचरन्ति यथासुखम् ॥ १६ ॥

संसारमें वे मनुष्य सुखी हैं, जिन्हें पुत्र पैदा ही नहीं हुआ है; क्योंकि वे पुत्रशोकका अनुभव न करके सदा सुखपूर्वक विचरते हैं ॥ १६ ॥

ये तु पुत्रकृताच्छोकाद् भृशं व्याकुलचेतसः।
शपन्तीष्टान् सखीनार्तास्तेभ्यः पापतरो नु कः ॥ १७ ॥

जो पुत्रशोकसे मन-ही-मन व्याकुल हो गहरी व्यथाका

अनुभव करते हुए अपने प्रिय मित्रोंको भी शाप दे डालते हैं, उनसे बढ़कर महापापी दूसरा कौन हो सकता है? ॥ १७॥

परासुश्च सुतो दृष्टः शप्तश्चेष्टः सखा मया।
ईदृशीमापदं कोऽत्र द्वितीयोऽनुभविष्यति ॥ १८ ॥

मैंने अपने पुत्रकी मृत्यु देखी और प्रिय मित्रको शाप दे दिया। मेरे सिवा संसारमें दूसरा कौन-सा मनुष्य है, जो ऐसी विपत्तिका अनुभव करेगा ॥१८॥

लोमश उवाच

विलप्यैवं बहुविधं भरद्वाजोऽदहत् सुतम्।
सुसमिद्धं ततः पश्चात् प्रविवेश हुताशनम् ॥ १९ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस तरह भाँति-भाँतिके विलाप करके भरद्वाजने अपने पुत्रका दाह-संस्कार किया तत्पश्चात् स्वयं भी वे जलती आगमें प्रवेश कर गये ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्वावसुकी तपस्याके प्रभावसे परावसुका ब्रह्महत्यासे मुक्त होना और रैभ्य, भरद्वाज तथा यवक्रीत आदिका पुनर्जीवित होना

लोमश उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु बृहद्द्युम्नो महीपतिः।
सत्रं तेने महाभागो रैभ्ययाज्यः प्रतापवान् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इन्हीं दिनों महान् सौभाग्यशाली एवं प्रतापी नरेश बृहद्द्युम्नने एक यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया। वे रैभ्यके यजमान थे ॥१॥

तेन रैभ्यस्य वै पुत्रावर्वावसुपरावसू।
वृतौ सहायौ सत्रार्थे बृहद्द्युम्नेन धीमता ॥ २ ॥

बुद्धिमान् बृहद्द्युम्नने यज्ञकी पूर्तिके लिये रैभ्यके दोनों पुत्र अर्वावसु तथा परावसुको सहयोगी बनाया ॥२॥

तत्र तौ समनुज्ञातौ पित्रा कौन्तेय जग्मतुः।
आश्रमे त्वभवद् रैभ्यो भार्या चैव परावसोः ॥ ३ ॥
अथावलोककोऽगच्छद् गृहानेकः परावसुः।
कृष्णाजिनेन संवीतं ददर्श पितरं वने ॥ ४ ॥

कुन्तीनन्दन! पिताकी आज्ञा पाकर वे दोनों भाई राजाके यज्ञमें चले गये। आश्रममें केवल रैभ्य मुनि तथा उनके पुत्र परावसुकी पत्नी रह गयी। एक दिन घरकी देख-भाल करनेके लिये परावसु अकेले ही आश्रमपर आये। उस समय उन्होंने काले मृगचर्मसे ढके हुए अपने पिताको वनमें देखा ॥ ३-४ ॥

जघन्यरात्रे निद्रान्धः सावशेषे तमस्यपि।
चरन्तं गहनेऽरण्ये मेने स पितरं मृगम् ॥ ५ ॥

रातका पिछला पहर बीत रहा था और अभी अन्धकार शेष था। परावसु नींदसे अन्धे हो रहे थे; अतः उन्होंने गहन वनमें विचरते हुए अपने पिताको हिंसक पशु ही समझा ॥५॥

मृगं तु मन्यमानेन पिता वै तेन हिंसितः।
अकामयानेन तदा शरीरत्राणमिच्छता ॥ ६ ॥

और उसे हिंसक पशु समझकर धोखेसे ही उन्होंने अपने पिताकी हत्या कर डाली। यद्यपि वे ऐसा करना नहीं चाहते थे, तथापि हिंसक पशुसे अपने शरीरकी रक्षाके लिये उनके द्वारा यह क्रूरतापूर्ण कार्य बन गया ॥६॥

तस्य स प्रेतकार्याणि कृत्वा सर्वाणि भारत।
पुनरागम्य तत् सत्रमब्रवीद् भ्रातरं वचः ॥ ७ ॥
इदं कर्म न शक्तस्त्वं वोढुमेकः कथंचन।
मया तु हिंसितस्तातो मन्यमानेन तं मृगम् ॥ ८ ॥
सोऽस्मदर्थे व्रतं तात चर त्वं ब्रह्महिंसनम्।
समर्थोऽप्यहमेकाकी कर्म कर्तुमिदं मुने ॥ ९ ॥

भारत! उसने पिताके समस्त प्रेत-कर्म करके पुनः यज्ञमण्डपमें आकर अपने भाई अर्वावसुसे कहा—'भैया! वह यज्ञकर्म तुम अकेले किसी प्रकार निभा नहीं सकते। इधर मैंने हिंसक पशु समझकर धोखेसे पिताजीकी हत्या कर डाली है; इसलिये तात! तुम तो मेरे लिये ब्रह्महत्यानिवारणके हेतु व्रत करो और मैं राजाका यज्ञ कराऊँगा। मुने! मैं अकेला भी इस कार्यका सम्पादन करनेमें समर्थ हूँ' ॥७–९॥

अर्वावसुरुवाच

करोतु वै भवान् सत्रं बृहद्द्युम्नस्य धीमतः।
ब्रह्मवध्यां चरिष्येऽहं त्वदर्थं नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥

अर्वावसु बोले—भाई! आप परम बुद्धिमान् राजा

बृहद्द्युम्नका यज्ञकार्य सम्पन्न करें और मैं आपके लिये इन्द्रियसंयमपूर्वक ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करूँगा ॥ १० ॥

लोमश उवाच

स तस्य ब्रह्मवध्यायाः पारं गत्वा युधिष्ठिर ।
अर्वावसुस्तदा सत्रमाजगाम पुनर्मुनिः ॥ ११ ॥
ततः परावसुर्दृष्ट्वा भ्रातरं समुपस्थितम् ।
बृहद्द्युम्नमुवाचेदं वचनं हर्षगद्गदम् ॥ १२ ॥
एष ते ब्रह्महा यज्ञं मा द्रष्टुं प्रविशेदिति ।
ब्रह्महा प्रेक्षितेनापि पीडयेत् त्वामसंशयम् ॥ १३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अर्वावसु मुनि भाईके लिये ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त पूरा करके पुनः उस यज्ञमें आये । परावसुने अपने भाईको वहाँ उपस्थित देखकर राजा बृहद्द्युम्नसे हर्षगद्गद वाणीमें कहा—'राजन् ! यह ब्रह्महत्यारा है । अतः इसे आपका यज्ञ देखनेके लिये इस मण्डपमें प्रवेश नहीं करना चाहिये । ब्रह्मघाती मनुष्य अपनी दृष्टिमात्रसे भी आपको महान् कष्टमें डाल सकता है, इसमें संशय नहीं है' ॥ ११–१३ ॥

लोमश उवाच

तच्छ्रुत्वैव तदा राजा प्रेष्यानाह स विट्पते ।
प्रेष्यैरुत्सार्यमाणस्तु राजन्नर्वावसुस्तदा ॥ १४ ॥
न मया ब्रह्महत्येयं कृतेत्याह पुनः पुनः ।
उच्यमानोऽसकृत्प्रेष्यैर्ब्रह्महन्निति भारत ॥ १५ ॥

लोमशजी कहते हैं—प्रजानाथ ! परावसुकी यह बात सुनते ही राजाने अपने सेवकोंको यह आज्ञा दी कि 'अर्वावसुको भीतर न आने दो ।' राजन् ! उस समय सेवकोंद्वारा हटाये जानेपर अर्वावसुने बार-बार यह कहा कि 'मैंने ब्रह्महत्या नहीं की है ।' भारत ! तो भी राजाके सेवक उन्हें ब्रह्महत्यारा कहकर ही सम्बोधित करते थे ॥ १४-१५ ॥

नैव स प्रतिजानाति ब्रह्मवध्यां स्वयंकृताम् ।
मम भ्रात्रा कृतमिदं मया स परिमोक्षितः ॥ १६ ॥

अर्वावसु किसी तरह उस ब्रह्महत्याको अपनी की हुई स्वीकार नहीं करते थे । उन्होंने बार-बार यही बतानेकी चेष्टा की कि 'मेरे भाईने ब्रह्महत्या की है । मैंने तो प्रायश्चित्त करके उन्हें पापसे छुड़ाया है' ॥ १६ ॥

स तथा प्रवदन् क्रोधात् तैश्च प्रेष्यैः प्रभाषितः ।
तूष्णीं जगाम ब्रह्मर्षिर्वनमेव महातपाः ॥ १७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भी राजाके सेवकोंने उन्हें क्रोधपूर्वक फटकार दिया । तब वे महातपस्वी ब्रह्मर्षि चुपचाप वनको ही चले गये ॥ १७ ॥

उग्रं तपः समास्थाय दिवाकरमथाश्रितः ।
रहस्यवेदं कृतवान् सूर्यस्य द्विजसत्तमः ॥ १८ ॥
मूर्तिमांस्तं ददर्शाथ स्वयमग्रभुगव्ययः ।

वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् सूर्यकी शरण ली और बड़ी उग्र तपस्या करके उन ब्राह्मणशिरोमणिने सूर्यसम्बन्धी रहस्यमय वैदिक मन्त्रका अनुष्ठान किया । तदनन्तर अग्रभोजी एवं अविनाशी साक्षात् भगवान् सूर्यने साकाररूपमें प्रकट हो अर्वावसुको दर्शन दिया ॥ १८½ ॥

लोमश उवाच

प्रीतास्तस्याभवन् देवाः कर्मणार्वावसोर्नृप ॥ १९ ॥
तं ते प्रवरयामासुर्निरासुश्च परावसुम् ।
ततो देवा वरं तस्मै ददुरग्निपुरोगमाः ॥ २० ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! अर्वावसुके उस कार्यसे सूर्य आदि सब देवता उसपर प्रसन्न हो गये । उन्होंने अर्वावसुका यज्ञमें वरण कराया एवं परावसुको निकलवा दिया । तत्पश्चात् अग्नि-सूर्य आदि देवताओंने उन्हें वर देनेकी इच्छा प्रकट की ॥ १९–२० ॥

स चापि वरयामास पितुरुत्थानमात्मनः ।
अनागस्त्वं ततो भ्रातुः पितुश्चास्मरणं वधे ॥ २१ ॥

तब अर्वावसुने यह वर माँगा कि 'मेरे पिताजी जीवित हो जायँ । मेरे भाई निर्दोष हों और उन्हें पिताके वधकी बात भूल जाय' ॥ २१ ॥

भरद्वाजस्य चोत्थानं यवक्रीतस्य चोभयोः ।
प्रतिष्ठां चापि वेदस्य सौरस्य द्विजसत्तमः ।
एवमस्त्विति तं देवाः प्रोचुश्चापि वरान् ददुः ॥ २२ ॥

साथ ही उन्होंने यह भी माँगा कि 'भरद्वाज तथा यवक्रीत दोनों जी उठें और इस सूर्यदेवतासम्बन्धी रहस्यमय वेदमन्त्रकी प्रतिष्ठा हो ।' द्विजश्रेष्ठ अर्वावसुके इस प्रकार वर माँगनेपर देवता बोले—'ऐसा ही हो ।' इस प्रकार उन्होंने पूर्वोक्त सभी वर दे दिये ॥ २२ ॥

ततः प्रादुर्बभूवुस्ते सर्व एव युधिष्ठिर ।
अथाब्रवीद् यवक्रीतो देवानग्निपुरोगमान् ॥ २३ ॥
समधीतं मया ब्रह्म व्रतानि चरितानि च ।
कथं च रैभ्यः शक्तो मामधीयानं तपस्विनम् ॥ २४ ॥
तथायुक्तेन विधिना निहन्तुममरोत्तमाः ।

युधिष्ठिर ! इसके बाद पूर्वोक्त सभी मुनि जीवित हो गये । उस समय यवक्रीतने अग्नि आदि सम्पूर्ण देवताओंसे पूछा—'देवेश्वरो ! मैंने वेदका अध्ययन किया है, वेदोक्त व्रतोंका अनुष्ठान भी किया है । मैं स्वाध्यायशील और तपस्वी भी हूँ, तो भी रैभ्यमुनि इस प्रकार अनुचित रीतिसे मेरा वध करनेमें कैसे समर्थ हो सके' ॥ २३-२४½ ॥

देवा ऊचुः

मैवं कृथा यवक्रीत यथा वदसि वै मुने ।
ऋते गुरुमधीता हि सुखं वेदास्त्वया पुरा ॥ २५ ॥

अनेन तु गुरून् दुःखात् तोषयित्वाऽऽत्मकर्मणा।
कालेन महता क्लेशाद् ब्रह्माधिगतमुत्तमम् ॥ २६॥

देवताओंने कहा—मुनि यवक्रीत ! तुम जैसी बात कहते हो, वैसा न समझो। तुमने पूर्वकालमें बिना गुरुके ही सुखपूर्वक सब वेद पढ़े हैं और इन रैभ्यमुनिने बड़े क्लेश उठाकर अपने व्यवहारसे गुरुजनोंको संतुष्ट करके दीर्घकाल तक कष्टसहनपूर्वक उत्तम वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया है।२५-२६।

लोमश उवाच

यवक्रीतमथोक्त्वैवं देवाः साग्निपुरोगमाः।
संजीवयित्वा तान् सर्वान् पुनर्जग्मुस्त्रिविष्टपम्॥ २७॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! अग्नि आदि देवताओंने यवक्रीतसे ऐसा कहकर उन सबको नूतन जीवन प्रदान करके पुनः स्वर्गलोकको प्रस्थान किया ॥ २७ ॥

आश्रमस्तस्य पुण्योऽयं सदापुष्पफलद्रुमः।
अत्रोष्य राजशार्दूल सर्वं पापं प्रमोक्ष्यसि ॥ २८॥

नृपश्रेष्ठ ! यह उन्हीं रैभ्यमुनिका पवित्र आश्रम है। यहाँके वृक्ष सदा फूल और फलोंसे लदे रहते हैं। यहाँ एक रात निवास करके तुम सब पापोंसे छूट जाओगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः १३८

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी उत्तराखण्ड-यात्रा और लोमशजीद्वारा उसकी दुर्गमताका कथन

लोमश उवाच

उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत।
समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भरतनन्दन युधिष्ठिर ! अब तुम उशीरबीज, मैनाक, श्वेत और कालशैल नामक पहाड़ोंको लाँघकर आगे बढ़ आये ॥ १ ॥

एषा गङ्गा सप्तविधा राजते भरतर्षभ ।
स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राग्निर्नित्यमिध्यते ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह देखो गङ्गाजी सात धाराओंसे सुशोभित हो रही हैं। यह रजोगुणरहित पुण्यतीर्थ है, जहाँ सदा अग्निदेव प्रज्वलित रहते हैं ॥ २ ॥

एतद् वै मानुषेणाद्य न शक्यं द्रष्टुमद्भुतम् ।
समाधिं कुरुताव्यग्रास्तीर्थान्येतानि द्रक्ष्यथ ॥ ३ ॥

यह अद्भुत तीर्थ कोई मनुष्य नहीं देख सकता; अतः तुम सब लोग एकाग्रचित्त हो जाओ। व्यग्रताशून्य हृदयसे तुम इन सब तीर्थोंका दर्शन कर सकोगे ॥ ३ ॥

एतद् द्रक्ष्यसि देवानामाक्रीडं चरणाङ्कितम् ।
अतिक्रान्तोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पर्वतम्॥ ४ ॥
श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम्।
यत्र माणिवरो यक्षः कुबेरश्चैव यक्षराट् ॥ ५ ॥

यह देवताओंकी क्रीडास्थली है, जो उनके चरणचिह्नोंसे अंकित है। एकाग्रचित्त होनेपर तुम्हें इसका भी दर्शन होगा। कुन्तीकुमार ! अब तुम कालशैल पर्वतको लाँघकर आगे बढ़ आये। इसके बाद हम श्वेतगिरि (कैलास) तथा मन्दराचल पर्वतमें प्रवेश करेंगे, जहाँ माणिवर यक्ष और यक्षराज कुबेर निवास करते हैं ॥ ४-५ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि गन्धर्वाः शीघ्रगामिनः ।
तथा किंपुरुषा राजन् यक्षाश्चैव चतुर्गुणाः ॥ ६ ॥
अनेकरूपसंस्थाना नानाप्रहरणाश्च ते ।
यक्षेन्द्रं मनुजश्रेष्ठ माणिभद्रमुपासते ॥ ७ ॥

राजन् ! वहाँ तीव्रगतिसे चलनेवाले अट्ठासी हजार गन्धर्व और उनसे चौगुने किन्नर तथा यक्ष रहते हैं। उनके रूप एवं आकृति अनेक प्रकारकी हैं। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र धारण करते हैं और यक्षराज माणिभद्रकी उपासनामें संलग्न रहते हैं ॥ ६-७ ॥

तेषामृद्धिरतीवात्र गतौ वायुसमाश्च ते ।
स्थानात् प्रच्यावयेयुर्ये देवराजमपि ध्रुवम् ॥ ८ ॥

यहाँ उनकी समृद्धि अतिशय बढ़ी हुई है। तीव्रगतिमें वे वायुकी समानता करते हैं। वे चाहें तो देवराज इन्द्रको भी निश्चय ही अपने स्थानसे हटा सकते हैं ॥ ८ ॥

तैस्तात बलिभिर्गुप्ता यातुधानैश्च रक्षिताः ।
दुर्गमाः पर्वताः पार्थ समाधिं परमं कुरु ॥ ९ ॥

तात युधिष्ठिर ! उन बलवान् यक्ष और राक्षसोंसे सुरक्षित रहनेके कारण ये पर्वत बड़े दुर्गम हैं। अतः तुम विशेषरूपसे एकाग्रचित हो जाओ ॥ ९ ॥

कुबेरसचिवाश्चान्ये रौद्रा मैत्राश्च राक्षसाः ।
तैः समेष्याम कौन्तेय संयतो विक्रमेण च ॥ १० ॥

कुबेरके सचिवगण तथा अन्य रौद्र और मैत्रनामक राक्षसोंका हमें सामना करना पड़ेगा; अतः तुम पराक्रमके लिये तैयार रहो ॥ १० ॥

कैलासः पर्वतो राजन् षड्योजनसमुच्छ्रितः ।
यत्र देवा समायान्ति विशाला यत्र भारत ॥ ११ ॥

राजन्! उधर छः योजन ऊँचा कैलासपर्वत दिखायी देता है, जहाँ देवता आया करते हैं। भारत! उसीके निकट विशालापुरी (बदरिकाश्रम तीर्थ) है ॥ ११ ॥

असंख्येयास्तु कौन्तेय यक्षराक्षसकिन्नराः ।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः कुबेरसदनं प्रति ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन! कुबेरके भवनमें अनेक यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग, सुपर्ण तथा गन्धर्व निवास करते हैं ॥ १२ ॥

तान् विगाहस्व पार्थाद्य तपसा च दमेन च ।
रक्ष्यमाणो मया राजन् भीमसेनबलेन च ॥ १३ ॥

महाराज कुन्तीनन्दन! तुम भीमसेनके बल और मेरी तपस्यासे सुरक्षित हो तप एवं इन्द्रियसंयमपूर्वक रहते हुए आज उन तीर्थोंमें स्नान करो ॥ १३ ॥

स्वस्ति ते वरुणो राजा यमश्च समितिंजयः ।
गङ्गा च यमुना चैव पर्वतश्च दधातु ते ॥ १४ ॥

राजा वरुण, युद्धविजयी यमराज, गङ्गा-यमुना तथा यह पर्वत तुम्हें कल्याण प्रदान करें ॥ १४ ॥

मरुतश्च सहाश्विभ्यां सरितश्च सरांसि च ।
स्वस्ति देवासुरेभ्यश्च वसुभ्यश्च महाद्युते ॥ १५ ॥

महाद्युते! मरुद्गण, अश्विनीकुमार, सरिताएँ और सरोवर भी तुम्हारा मङ्गल करें। देवताओं, असुरों तथा वसुओंसे भी तुम्हें कल्याणकी प्राप्ति हो ॥ १५ ॥

इन्द्रस्य जाम्बूनदपर्वताद् वै
शृणोमि घोषं तव देवि गङ्गे ।
गोपायैनं त्वं सुभगे गिरिभ्यः
सर्वाजमीढापचितं नरेन्द्रम् ॥ १६ ॥

देवि गङ्गे! मैं इन्द्रके सुवर्णमय मेरुपर्वतसे तुम्हारा कल-कलनाद सुन रहा हूँ। सौभाग्यशालिनि! ये राजा युधिष्ठिर अजमीढवंशी क्षत्रियोंके लिये आदरणीय हैं। तुम पर्वतोंसे इनकी रक्षा कराओ ॥ १६ ॥

दवस्व शर्म प्रविविक्षतोऽस्य
शैलानिमाञ्छैलसुते नृपस्य ।
उक्त्वा तथा सागरगां स विप्रो
यत्तो भवस्वेति शशास पार्थम् ॥ १७ ॥

'शैलपुत्रि! ये इन पर्वतमालाओंमें प्रवेश करना चाहते हैं। तुम इन्हें कल्याण प्रदान करो।' समुद्रगामिनी गङ्गानदीसे ऐसा कहकर विप्रवर लोमशने कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको यह आदेश दिया कि 'अब तुम एकाग्रचित्त हो जाओ' ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वोऽयं सम्भ्रमो लोमशस्य
कृष्णां च सर्वे रक्षत मा प्रमादम् ।
देशो ह्ययं दुर्गतमो मतोऽस्य
तस्मात् परं शौचमिहाचरध्वम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—बन्धुओ! आज महर्षि लोमशको बड़ी घबराहट हो रही है। यह एक अभूतपूर्व घटना है। अतः तुम सब लोग सावधान होकर द्रौपदीकी रक्षा करो। प्रमाद न करना। लोमशजीका मत है कि यह प्रदेश अत्यन्त दुर्गम है। अतः यहाँ अत्यन्त शुद्ध आचार-विचारसे रहो ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् भीममुदारवीर्यं
कृष्णां यत्तः पालय भीमसेन ।
शून्येऽर्जुनेऽसंनिहिते च तात
त्वामेव कृष्णा भजते भयेषु ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर महाबली भीमसे इस प्रकार बोले—'भैया भीमसेन! तुम सावधान रहकर द्रौपदीकी रक्षा करो। तात! किसी निर्जन प्रदेशमें जब कि अर्जुन हमारे समीप नहीं हैं, भयका अवसर उपस्थित होनेपर द्रौपदी तुम्हारा ही आश्रय लेती है' ॥ १९ ॥

ततो महात्मा स यमौ समेत्य
मूर्धन्युपाघ्राय विमृज्य गात्रे ।
उवाच तौ बाष्पकलं स राजा
मा भैष्टमागच्छतमप्रमत्तौ ॥ २० ॥

तत्पश्चात् महात्मा राजा युधिष्ठिरने नकुल-सहदेवके पास जाकर उनका मस्तक सूँघा और शरीरपर हाथ फेरा। फिर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए कहा—'भैया! तुम दोनों भय न करो और सावधान होकर आगे बढ़ो' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कैलासादिगिरिप्रवेशे एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें पाण्डवोंका कैलास आदि पर्वतमालाओंमें प्रवेशविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका उत्साह तथा पाण्डवोंका कुलिन्दराज सुबाहुके राज्यमें होते हुए गन्धमादन और हिमालय पर्वतको प्रस्थान

युधिष्ठिर उवाच

अन्तर्हितानि भूतानि बलवन्ति महान्ति च ।
अग्निना तपसा चैव शक्यं गन्तुं वृकोदर ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! यहाँ बहुत से बलवान् और विशालकाय राक्षस छिपे रहते हैं; अतः अग्निहोत्र एवं तपस्याके प्रभावसे ही हमलोग यहाँसे आगे बढ़ सकते हैं ॥ १ ॥

संनिवर्तय कौन्तेय क्षुत्पिपासे बलाश्रयात् ।
ततो बलं च दाक्ष्यं च संश्रयस्व वृकोदर ॥ २ ॥

वृकोदर ! तुम बलका आश्रय लेकर अपनी भूख-प्यास मिटा दो । फिर शारीरिक शक्ति और चतुरताका सहारा लो ॥ २ ॥

ऋषेस्त्वया श्रुतं वाक्यं कैलासं पर्वतं प्रति ।
बुद्ध्या प्रपश्य कौन्तेय कथं कृष्णा गमिष्यति ॥ ३ ॥

भैया ! कैलास पर्वतके विषयमें महर्षिने जो बात कही है, वह तुमने भी सुना ही है; अब स्वयं अपनी बुद्धिसे विचार करके देखो, द्रौपदी इस दुर्गम प्रदेशमें कैसे चल सकेगी ? ॥ ३ ॥

अथवा सहदेवेन धौम्येन च समं विभो ।
सूतैः पौरोगवैश्चैव सर्वैश्च परिचारकैः ॥ ४ ॥
रथैरश्वैश्च ये चान्ये विप्राः क्लेशासहाः पथि ।
सर्वैस्त्वं सहितो भीम निवर्तस्वायतेक्षण ॥ ५ ॥

अथवा विशालनेत्रोंवाले भीम ! तुम सहदेव, धौम्य, सारथि, रसोइये, समस्त सेवकगण, रथ, घोड़े तथा मार्गके कष्टको सहन न कर सकनेवाले जो अन्य ब्राह्मण हैं, उन सबके साथ यहींसे लौट जाओ ॥ ४–५ ॥

त्रयो वयं गमिष्यामो लघ्वाहारा यतव्रताः ।
अहं च नकुलश्चैव लोमशश्च महातपाः ॥ ६ ॥
ममागमनमाकाङ्क्षन् गङ्गाद्वारे समाहितः ।
वसेह द्रौपदीं रक्षन् यावदागमनं मम ॥ ७ ॥

केवल मैं, नकुल तथा महातपस्वी लोमशजी—ये तीन व्यक्ति ही संयम और व्रतका पालन करते हुए यहाँसे आगेकी यात्रा करेंगे । हम तीनों ही स्वल्पाहारसे जीवन-निर्वाह करेंगे । तुम गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में एकाग्रचित्त हो मेरे आगमनकी प्रतीक्षा करो और जबतक मैं लौटकर न आऊँ, तबतक द्रौपदीकी रक्षा करते हुए वहीं निवास करो ॥ ६–७ ॥

भीम उवाच

राजपुत्री श्रमेणार्ता दुःखार्ता चैव भारत ।
व्रजत्येव हि कल्याणी श्वेतवाहदिदृक्षया ॥ ८ ॥

भीमसेनने कहा—भारत ! राजकुमारी द्रौपदी यद्यपि रास्तेकी थकावटसे और मानसिक दुःखसे भी पीड़ित है तो भी यह कल्याणमयी देवी अर्जुनको देखनेकी इच्छासे उत्साहपूर्वक हमारे साथ चल ही रही है ॥ ८ ॥

तव चाप्यरतिस्तीव्रा वर्तते तमपश्यतः ।
गुडाकेशं महात्मानं संग्रामेष्वपलायिनम् ॥ ९ ॥

संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले निद्राविजयी महात्मा अर्जुनको न देखनेके कारण आपके मनमें भी अत्यन्त खिन्नता हो रही है ॥ ९ ॥

किं पुनः सहदेवं च मां च कृष्णां च भारत ।
द्विजाः कामं निवर्तन्तां सर्वे च परिचारकाः ॥ १० ॥
सूताः पौरोगवाश्चैव यं च मन्येत नो भवान् ।
न ह्यहं हातुमिच्छामि भवन्तमिह कर्हिचित् ॥ ११ ॥
शैलेऽस्मिन् राक्षसाकीर्णे दुर्गेषु विषमेषु च ।
इयं चापि महाभागा राजपुत्री पतिव्रता ॥ १२ ॥
त्वामृते पुरुषव्याघ्र नोत्सहेद् विनिवर्तितुम् ।
तथैव सहदेवोऽयं सततं त्वामनुव्रतः ॥ १३ ॥
न जातु विनिवर्तेत मनोज्ञो ह्यहमस्य वै ।
अपि चात्र महाराज सव्यसाचिदिदृक्षया ॥ १४ ॥
सर्वे लालसभूताः स्म तस्माद् यास्यामहे सह ।
यद्यशक्यो रथैर्गन्तुं शैलोऽयं बहुकन्दरः ॥ १५ ॥
पद्भिरेव गमिष्यामो मा राजन् विमना भव ।
अहं वहिष्ये पाञ्चालीं यत्र यत्र न शक्ष्यति ॥ १६ ॥

फिर सहदेवके, मेरे तथा द्रौपदीके लिये तो कहना ही क्या है ? भारत ! ये ब्राह्मणलोग चाहें तो यहाँसे लौट सकते हैं । समस्त सेवक, सारथि, रसोइये तथा हममेंसे और जिस-जिसको आप लौटाना उचित समझें—वे सभी जा सकते हैं । राक्षसोंसे भरे हुए इस पर्वतपर तथा ऊँचे-नीचे दुर्गम प्रदेशोंमें मैं आपको कदापि अकेला छोड़ना नहीं चाहता । नरश्रेष्ठ ! यह परम सौभाग्यवती पतिव्रता राजकुमारी कृष्णा भी आपको छोड़कर लौटनेको कभी तैयार न होंगी । इसी प्रकार यह सहदेव भी आपमें सदा अनुराग रखनेवाला है, आपको छोड़कर कभी नहीं लौटेगा । मैं इसके मनकी बात जानता हूँ । महाराज ! सव्यसाची अर्जुनको देखनेकी इच्छासे हम सभी लालायित हो रहे हैं; अतः सब साथ ही चलेंगे । राजन् ! अनेक कन्दराओंसे युक्त इस पर्वतपर यदि रथोंके द्वारा यात्रा सम्भव न हो तो हम पैदल ही चलेंगे । आप इसके लिये उदास न हों । जहाँ-जहाँ द्रौपदी

नहीं चल सकेगी, वहाँ-वहाँ मैं स्वयं इसे कंधेपर चढ़ाकर ले जाऊँगा ॥ १०–१६ ॥

इति मे वर्तते बुद्धिर्मा राजन् विमना भव।
सुकुमारौ तथा वीरौ माद्रीनन्दिकरावुभौ।
दुर्गे संतारयिष्यामि यत्राशक्तौ भविष्यतः॥ १७॥

राजन्! मेरा ऐसा ही विचार है, आप उदास न हों। वीर माद्रीकुमार नकुल और सहदेव दोनों सुकुमार हैं। जहाँ कहीं दुर्गम स्थानमें ये असमर्थ हो जायँगे, वहाँ मैं इन्हें पार लगाऊँगा ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं ते भाषमाणस्य बलं भीमाभिवर्धताम्।
यत् त्वमुत्सहसे वोढुं पाञ्चालीं च यशस्विनीम्॥ १८॥
यमजौ चापि भद्रं ते नैतदन्यत्र विद्यते।
बलं तव यशश्चैव धर्मः कीर्तिश्च वर्धताम्॥ १९॥
यत् त्वमुत्सहसे नेतुं भ्रातरौ सह कृष्णया।
मा ते ग्लानिर्महाबाहो मा च तेऽस्तु पराभवः॥ २०॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! इस प्रकार (उत्साहपूर्ण) बातें करते हुए तुम्हारा बल बढ़े; क्योंकि तुम यशस्विनी द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवको भी वहन करके ले चलनेका उत्साह रखते हो। तुम्हारा कल्याण हो। यह साहस तुम्हारे सिवा और किसीमें नहीं है। तुम्हारे बल, यश, धर्म और कीर्तिका विस्तार हो। महाबाहो! तुम द्रौपदीसहित दोनों भाई नकुल-सहदेवको भी स्वयं ही ले चलनेकी शक्ति रखते हो, इसलिये कभी तुम्हें ग्लानि न हो तथा किसीसे भी तुम्हें तिरस्कृत न होना पड़े ॥ १८–२० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृष्णाब्रवीद् वाक्यं प्रहसन्ती मनोरमा।
गमिष्यामि न संतापः कार्यो मां प्रति भारत॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सुन्दरी द्रौपदीने हँसते हुए कहा—'भारत! मैं आपके साथ ही चलूँगी; आप मेरे लिये चिन्ता न करें' ॥ २१ ॥

लोमश उवाच

तपसा शक्यते गन्तुं पर्वतो गन्धमादनः।
तपसा चैव कौन्तेय सर्वे योक्ष्यामहे वयम्॥ २२॥
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पार्थिव।
अहं च त्वं च कौन्तेय द्रक्ष्यामः श्वेतवाहनम्॥ २३॥

लोमशजीने कहा—कुन्तीनन्दन! गन्धमादन पर्वतपर तपस्याके बलसे ही जाया जा सकता है। हम सब लोगोंको तपःशक्तिका संचय करना होगा। महाराज! नकुल, सहदेव, भीमसेन, मैं और तुम सभी लोग तपोबलसे ही अर्जुनको देख सकेंगे ॥ २२–२३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणास्ते सुबाहुविषयं महत्।
ददृशुर्मुदिता राजन् प्रभूतगजवाजिमत्॥ २४॥
किराततङ्गणाकीर्णं पुलिन्दशतसंकुलम्।
हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्यसमाकुलम्।
सुबाहुश्चापि तान् दृष्ट्वा पूजया प्रत्यगृह्णत॥ २५॥
विषयान्ते कुलिन्दानामीश्वरः प्रीतिपूर्वकम्।
ततस्ते पूजितास्तेन सर्व एव सुखोषिताः॥ २६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बातचीत करते हुए वे सब लोग आगे बढ़े। कुछ दूर जानेपर उन्हें कुलिन्दराज सुबाहुका विशाल राज्य दिखायी दिया, जहाँ हाथी-घोड़ोंकी बहुतायत थी और सैकड़ों किरात, तङ्गण एवं कुलिन्द आदि जंगली जातियोंके लोग निवास करते थे। वह देवताओंसे सेवित देश हिमालयके अत्यन्त समीप था। वहाँ अनेक प्रकारकी आश्चर्यजनक वस्तुएँ दिखायी देती थीं। सुबाहुका वह राज्य देखकर उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। कुलिन्दोंके राजा सुबाहुको जब यह पता लगा कि मेरे राज्यमें पाण्डव आये हैं, तब उसने राज्यकी सीमापर जाकर बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया। उसके द्वारा प्रेमसे पूजित होकर वे सब लोग बड़े सुखसे वहाँ रहे ॥ २४–२६ ॥

प्रतस्थुर्विमले सूर्ये हिमवन्तं गिरिं प्रति।
इन्द्रसेनमुखांश्चापि भृत्यान् पौरोगवांस्तथा॥ २७॥
सूदांश्च पारिबर्हांश्च द्रौपद्याः सर्वशो नृप।
राज्ञः कुलिन्दाधिपतेः परिदाय महारथाः॥ २८॥
पद्भिरेव महावीर्या ययुः कौरवनन्दनाः।
ते शनैः प्राद्रवन् सर्वे कृष्णया सह पाण्डवाः।
तस्माद् देशात् सुसंहृष्टा द्रष्टुकामा धनंजयम्॥ २९॥

दूसरे दिन निर्मल प्रभातकालमें सूर्योदय होनेपर उन सबने हिमालय पर्वतकी ओर प्रस्थान किया। जनमेजय! इन्द्रसेन आदि सेवकों, रसोइयों और पाकशालाके अध्यक्षको तथा द्रौपदीके सारे सामानोंको कुलिन्दराज सुबाहुके यहाँ सौंपकर वे महापराक्रमी महारथी कुरुकुलनन्दन पाण्डव द्रौपदीके साथ धीरे-धीरे पैदल ही चल दिये। उनके मनमें अर्जुनको देखनेकी बड़ी उत्कण्ठा थी। अतः वे बड़े हर्ष और उल्लासके साथ उस देशसे प्रस्थित हुए ॥ २७–२९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनसे अर्जुनको न देखनेके कारण मानसिक चिन्ता प्रकट करना एवं उनके गुणोंका स्मरण करते हुए गन्धमादन पर्वतपर जानेका दृढ़ निश्चय करना

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन यमौ चोभौ पाञ्चालि च निबोधत।
नास्ति भूतस्य नाशो वै पश्यतास्मान् वनेचरान्॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन, नकुल-सहदेव और द्रौपदी! तुम सब लोग ध्यान देकर सुनो। यह निश्चय है कि पूर्वकृत कर्मोंका बिना भोगे कभी नाश नहीं होता। देखो, उन्हींके कारण आज हम राजकुमार होकर भी वन-वनमें भटक रहे हैं॥ १॥

दुर्बलाः क्लेशिताः स्मेति यद् ब्रुवामेतरेतरम्।
अशक्येऽपि व्रजामो यद् धनंजयदिदृक्षया॥ २ ॥

यद्यपि हमलोग दुर्बल हैं, क्लेशमें पड़े हुए हैं, तथापि जो एक-दूसरेसे उत्साहपूर्वक बातें करते हैं और जहाँ जाना सम्भव नहीं, उस मार्गपर भी आगे बढ़ते जा रहे हैं, उसमें एक ही कारण है, हम सबके हृदयमें अर्जुनको देखनेके लिये प्रबल उत्कण्ठा है॥ २॥

तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः।
यच्च वीरं न पश्यामि धनंजयमुपान्तिकात्॥ ३ ॥

इतना प्रयास करनेपर भी मैं वीर धनंजयको जो अबतक अपने समीप नहीं देख पा रहा हूँ, इसकी चिन्ता मेरे सम्पूर्ण अङ्गोंको उसी प्रकार दग्ध कर रही है, जैसे आग रूईके ढेरको जलाती रहती है॥ ३॥

तस्य दर्शनतृष्णं मां सानुजं वनमास्थितम्।
याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत॥ ४ ॥

उसीके दर्शनकी प्यास लेकर मैं भाइयोंसहित इस वनमें आया हूँ। वीर भीमसेन! दुःशासनने जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये थे, वह घटना याद आकर मुझे और भी शोकसे दग्ध कर देती है॥ ४॥

नकुलात् पूर्वजं पार्थं न पश्याम्यमितौजसम्।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर॥ ५ ॥

वृकोदर! भयंकर धनुष धारण करनेवाले अजेय वीर अमित तेजस्वी अर्जुनको, जो नकुलसे पहले उत्पन्न हुआ है, मैं अबतक नहीं देख रहा हूँ, इसके कारण मुझे बड़ा संताप हो रहा है॥ ५॥

तीर्थानि चैव रम्याणि वनानि च सरांसि च।
चरामि सह युष्माभिस्तस्य दर्शनकाङ्क्षया॥ ६ ॥

अर्जुनको देखनेकी ही अभिलाषासे मैं तुमलोगोंके साथ विभिन्न तीर्थोंमें, रमणीय वनोंमें और सुन्दर सरोवरोंके तटपर विचर रहा हूँ॥ ६॥

पञ्चवर्षाण्यहं वीरं सत्यसंधं धनंजयम्।
यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेन तप्ये वृकोदर॥ ७ ॥

भीमसेन! आज पाँच वर्ष हो गये, मैं अपने वीर भाई सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनके दर्शनसे वञ्चित हो गया हूँ। इसके कारण मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है॥ ७॥

तं वै श्यामं गुडाकेशं सिंहविक्रान्तगामिनम्।
न पश्यामि महाबाहुं तेन तप्ये वृकोदर॥ ८ ॥

वृकोदर! सिंहके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले, निद्राविजयी, श्यामवर्ण, महाबाहु अर्जुनको नहीं देख पा रहा हूँ, इसलिये मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है॥ ८॥

कृतास्त्रं निपुणं युद्धेऽप्रतिमानं धनुष्मताम्।
न पश्यामि कुरुश्रेष्ठ तेन तप्ये वृकोदर॥ ९ ॥

कुरुश्रेष्ठ भीमसेन! अस्त्रविद्यामें प्रवीण, युद्धकुशल और अनुपम धनुर्धर उस अर्जुनको नहीं देखता हूँ, इस कारण मुझे बड़ा कष्ट होता है॥ ९॥

चरन्तमरिसंघेषु काले क्रुद्धमिवान्तकम्।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं सिंहस्कन्धं धनंजयम्॥ १० ॥

जो युद्धके समय शत्रुओंके समूहमें कुपित यमराजकी भाँति विचरता है, जिसके कंधे सिंहके समान हैं तथा जो मदकी धारा बहानेवाले मत्त गजराजके समान शोभा पाता है, उस वीर धनंजयसे अबतक भेंट न हो सकी; इसका मुझे बड़ा दुःख है॥ १०॥

यः स शक्रादनवरो वीर्येण द्रविणेन च।
यमयोः पूर्वजः पार्थः श्वेताश्वोऽमितविक्रमः॥ ११ ॥
दुःखेन महताविष्टस्तं न पश्यामि फाल्गुनम्।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर॥ १२ ॥

वृकोदर! जो पराक्रम और सम्पत्तिमें देवराज इन्द्रसे तनिक भी कम नहीं है, जिसके रथके घोड़े श्वेत रंगके हैं, जो नकुल-सहदेवसे अवस्थामें बड़ा है, जिसके पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है तथा जो उग्र धनुर्धर एवं अजेय है, उस वीरवर अर्जुनके दर्शनसे मैं वञ्चित हूँ; इसके लिये मुझे महान् कष्ट हो रहा है। मैं चिन्ताकी आगमें जला जा रहा हूँ॥ ११-१२॥

सततं यः क्षमाशीलः क्षिप्यमाणोऽप्यणीयसा।
ऋजुमार्गप्रपन्नस्य शर्मदाताभयस्य च॥ १३ ॥
स तु जिह्मप्रवृत्तस्य माययाभिजिघांसतः।
अपि वज्रधरस्यापि भवेत् कालविषोपमः॥ १४ ॥

जो छोटे लोगोंके आक्षेप करनेपर भी सदा क्षमाशील होनेके कारण उस आक्षेपको सह लेता है तथा सरल मार्गसे

अपनी शरणमें आनेवाले लोगोंको सुख पहुँचाकर उन्हें अभयदान देता है, वही अर्जुन, जब कोई कुटिल मार्गका आश्रय ले छल-कपटसे उसपर आघात करना चाहता है, तब वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, उसके लिये काल और विषके समान भयंकर हो जाता है ॥ १३-१४ ॥

शत्रोरपि प्रपन्नस्य सोऽनृशंसः प्रतापवान्।
दाताभयस्य बीभत्सुरमितात्मा महाबलः ॥ १५ ॥
सर्वेषामाश्रयोऽस्माकं रणेऽरीणां प्रमर्दिता।
आहर्ता सर्वरत्नानां सर्वेषां नः सुखावहः ॥ १६ ॥

यदि शत्रु भी शरणमें आ जाय तो वह प्रतापी वीर उसके प्रति दयालु हो जाता और उसे निर्भय कर देता है। वह महाबली महामना अर्जुन ही हमलोगोंका सहारा है। वही समराङ्गणमें हमारे शत्रुओंको रौंद डालनेकी शक्ति रखता है। उसीने हमारे लिये सब प्रकारके रत्न लाकर सुलभ किये थे और वही हम सबको सदा सुख पहुँचानेवाला है ॥ १५-१६ ॥

रत्नानि यस्य वीर्येण दिव्यान्यासन् पुरा मम।
बहूनि बहुजातीनि यानि प्राप्तः सुयोधनः ॥ १७ ॥

जिसके पराक्रमसे हमारे पास पहले अनेक प्रकारकी असंख्य रत्नराशि संचित हो गयी थी, जिसे सुयोधनने ले लिया ॥ १७ ॥

यस्य बाहुबलाद् वीर सभा चासीत् पुरा मम।
सर्वरत्नमयी ख्याता त्रिषु लोकेषु पाण्डव ॥ १८ ॥

वीर भीमसेन ! जिसके बाहुबलसे पहले मेरे अधिकारमें सम्पूर्ण रत्नोंकी बनी हुई त्रिभुवनविख्यात सभा थी ॥ १८ ॥

वासुदेवसमं वीर्ये कार्तवीर्यसमं युधि।
अजेयममितं युद्धे तं न पश्यामि फाल्गुनम् ॥ १९ ॥

जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्ण और युद्धमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान है तथा जो समरभूमिमें एक होकर भी असंख्य-सा प्रतीत होता है, उस अजेय वीर अर्जुनको मैं बहुत दिनोंसे नहीं देख पाता हूँ ॥ १९ ॥

संकर्षणं महावीर्यं त्वां च भीमापराजितम्।
अनुयातः स्ववीर्येण वासुदेवं च शत्रुहा ॥ २० ॥

भीमसेन ! शत्रुनाशक अर्जुन अपने पराक्रमसे महाबली बलरामकी, तुझ अपराजित वीरकी और वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी समानता कर सकता है ॥ २० ॥

यस्य बाहुबले तुल्यः प्रभावे च पुरंदरः।
जवे वायुर्मुखे सोमः क्रोधे मृत्युः सनातनः ॥ २१ ॥
ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीर दिदृक्षवः।
प्रवेक्ष्यामो महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २२ ॥

महाबाहो ! जो बाहुबल और प्रभावमें देवराज इन्द्रके समान है, जिसके वेगमें वायु, मुखमें चन्द्रमा और क्रोधमें सनातन मृत्युका निवास है, उसी नरश्रेष्ठ अर्जुनको देखनेके लिये उत्सुक होकर हम सब लोग आज गन्धमादन पर्वतकी घाटियोंमें प्रवेश करेंगे ॥ २१-२२ ॥

विशाला बदरी यत्र नरनारायणाश्रमः।
तं सदाध्युषितं यक्षैर्द्रक्ष्यामो गिरिमुत्तमम् ॥ २३ ॥
कुबेरनलिनीं रम्यां राक्षसैरभिसेविताम्।
पद्भिरेव गमिष्यामस्तप्यमाना महत् तपः ॥ २४ ॥

गन्धमादन वही है, जहाँ विशाल बदरीका वृक्ष और भगवान् नर-नारायणका आश्रम है; उस उत्तम पर्वतपर सदा यक्षगण निवास करते हैं; हमलोग उसका दर्शन करेंगे। इसके सिवा, राक्षसोंद्वारा सेवित कुबेरकी सुरम्य पुष्करिणी भी है, जहाँ हमलोग भारी तपस्या करते हुए पैदल ही चलेंगे ॥ २३-२४ ॥

न च यानवता शक्यो गन्तुं देशो वृकोदर।
न नृशंसेन लुब्धेन नाप्रशान्तेन भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन! वृकोदर ! उस प्रदेशमें किसी सवारीसे नहीं जाया जा सकता तथा जो क्रूर, लोभी और अशान्त है, ऐसे मनुष्यके लिये श्रद्धाकी कमीके कारण उस स्थानपर जाना असम्भव है॥

तत्र सर्वे गमिष्यामो भीमार्जुनगवेषिणः।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशाः सार्धं विप्रैर्महाव्रतैः ॥ २६ ॥

भीमसेन ! हम सब लोग अर्जुनकी खोज करते हुए तलवार बाँधकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो इन महान् व्रतधारी ब्राह्मणोंके साथ वहाँ चलेंगे ॥ २६ ॥

मक्षिकादंशमशकान् सिंहान् व्याघ्रान् सरीसृपान्।
प्राप्नोत्यनियतः पार्थ नियतस्तान् न पश्यति ॥ २७ ॥

भीमसेन ! जो अपने मन और इन्द्रियोंपर संयम नहीं रखता, ऐसे मनुष्यको वहाँ जानेपर मक्खी, डाँस, मच्छर, सिंह, व्याघ्र और सर्पोंका सामना करना पड़ता है, परंतु जो संयम-नियमसे रहनेवाला है, उसे उन जन्तुओंका दर्शन तक नहीं होता ॥ २७ ॥

ते वयं नियतात्मानः पर्वतं गन्धमादनम्।
प्रवेक्ष्यामो मिताहारा धनंजयदिदृक्षवः ॥ २८ ॥

अतः हमलोग भी अर्जुनको देखनेकी इच्छासे अपने मनको संयममें रखकर स्वल्पाहार करते हुए गन्धमादनकी पर्वतमालाओंमें प्रवेश करेंगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गततीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंद्वारा गङ्गाजीकी वन्दना, लोमशजीका नरकासुरके वध और भगवान् वाराहद्वारा वसुधाके उद्धारकी कथा कहना

लोमश उवाच

द्रष्टारः पर्वताः सर्वे नद्यः सपुरकाननाः।
तीर्थानि चैव श्रीमन्ति स्पृष्टं च सलिलं करैः॥ १॥

लोमशजीने कहा—तीर्थदर्शी पाण्डुकुमारो! तुमने सब पर्वतोंके दर्शन कर लिये। नगरों और वनोंसहित नदियोंका भी अवलोकन किया। शोभाशाली तीर्थोंके भी दर्शन किये और उन सबके जलका अपने हाथोंसे स्पर्श भी कर लिया॥ १॥

पर्वतं मन्दरं दिव्यमेष पन्थाः प्रयास्यति।
समाहिता निरुद्विग्नाः सर्वे भवत पाण्डवाः॥ २॥
अयं देवनिवासो वै गन्तव्यो वो भविष्यति।
ऋषीणां चैव दिव्यानां निवासः पुण्यकर्मणाम्॥ ३॥

पाण्डवो! यह मार्ग दिव्य मन्दराचलकी ओर जायगा। अब तुम सब लोग उद्वेगशून्य और एकाग्रचित्त हो जाओ। यह देवताओंका निवासस्थान है, जिसपर तुम्हें चलना होगा। यहाँ पुण्यकर्म करनेवाले दिव्य ऋषियोंका भी निवास है॥ २-३॥

एषा शिवजला पुण्या याति सौम्य महानदी।
बदरीप्रभवा राजन् देवर्षिगणसेविता॥ ४॥

सौम्य स्वभाववाले नरेश! यह कल्याणमय जलसे भरी हुई पुण्यस्वरूपा महानदी अलकनन्दा (गङ्गा) प्रवाहित होती है, जो देवर्षियोंके समुदायसे सेवित है। इसका प्रादुर्भाव बदरिकाश्रमसे ही हुआ है॥ ४॥

एषा वैहायसैर्नित्यं वालखिल्यैर्महात्मभिः।
अर्चिता चोपयाता च गन्धर्वैश्च महात्मभिः॥ ५॥

आकाशचारी महात्मा बालखिल्य तथा महामना गन्धर्वगण भी नित्य इसके तटपर आते-जाते हैं और इसकी पूजा करते हैं॥ ५॥

अत्र साम स्म गायन्ति सामगाः पुण्यनिःस्वनाः।
मरीचिः पुलहश्चैव भृगुश्चैवाङ्गिरास्तथा॥ ६॥

सामगान करनेवाले विद्वान् वेदमन्त्रोंकी पुण्यमयी ध्वनि फैलाते हुए यहाँ सामवेदकी ऋचाओंका गान करते हैं। मरीचि, पुलह, भृगु तथा अङ्गिरा भी यहाँ जप एवं स्वाध्याय करते हैं॥ ६॥

अत्राह्निकं सुरश्रेष्ठो जपते समरुद्गणः।
साध्याश्चैवाश्विनौ चैव परिधावन्ति तं तदा॥ ७॥

देवश्रेष्ठ इन्द्र भी मरुद्गणोंके साथ यहाँ आकर प्रतिदिन नियमपूर्वक जप करते हैं। उस समय साध्य तथा अश्विनीकुमार भी उनकी परिचर्यामें रहते हैं॥ ७॥

चन्द्रमाः सह सूर्येण ज्योतींषि च ग्रहैः सह।
अहोरात्रविभागेन नदीमेनामनुव्रजन्॥ ८॥

चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह और नक्षत्र भी दिन रातके विभागपूर्वक इस पुण्य नदीकी यात्रा करते हैं॥ ८॥

एतस्याः सलिलं मूर्ध्नि वृषाङ्कः पर्यधारयत्।
गङ्गाद्वारे महाभाग येन लोकस्थितिर्भवेत्॥ ९॥

महाभाग! गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में साक्षात् भगवान् शंकरने इसके पावन जलको अपने मस्तकपर धारण किया है, जिससे जगत्‌की रक्षा हो॥ ९॥

एतां भगवतीं देवीं भवन्तः सर्व एव हि।
प्रयतेनात्मना तात प्रतिगम्याभिवादत॥ १०॥

तात! तुम सब लोग मनको संयममें रखते हुए इस ऐश्वर्यशालिनी दिव्य नदीके तटपर चलकर इसे सादर प्रणाम करो॥ १०॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लोमशस्य महात्मनः।
आकाशगङ्गां प्रयताः पाण्डवास्तेऽभ्यवादयन्॥ ११॥

महात्मा लोमशका यह वचन सुनकर सब पाण्डवोंने संयतचित्तसे भगवती आकाशगङ्गा (अलकनन्दा) को प्रणाम किया॥ ११॥

अभिवाद्य च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः।
पुनः प्रयाताः संहृष्टाः सर्वैर्ऋषिगणैः सह॥ १२॥

प्रणाम करके धर्मका आचरण करनेवाले वे समस्त पाण्डव पुनः सम्पूर्ण ऋषि-मुनियोंके साथ हर्षपूर्वक आगे बढ़े॥ १२॥

ततो दूरात् प्रकाशन्तं पाण्डुरं मेरुसंनिभम्।
ददृशुस्ते नरश्रेष्ठा विकीर्णं सर्वतोदिशम्॥ १३॥

तदनन्तर उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने एक श्वेत पर्वत-सा देखा, जो मेरुगिरिके समान दूरसे ही प्रकाशित हो रहा था। वह सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखरा जान पड़ता था॥ १३॥

तान् प्रष्टुकामान् विज्ञाय पाण्डवान् स तु लोमशः।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शृणुध्वं पाण्डुनन्दनाः॥ १४॥

लोमशजी ताड़ गये कि पाण्डवलोग उस श्वेत पर्वताकार

वस्तुके विषयमें कुछ पूछना चाहते हैं, तब प्रवचनकी कला जाननेवाले उन महर्षिने कहा—'पाण्डवो ! सुनो ॥ १४ ॥

एतद् विकीर्णं सुश्रीमत् कैलासशिखरोपमम्।
यत् पश्यसि नरश्रेष्ठ पर्वतप्रतिमं स्थितम् ॥ १५ ॥
एतान्यस्थीनि दैत्यस्य नरकस्य महात्मनः।
पर्वतप्रतिमं भाति पर्वतप्रस्तराश्रितम् ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! यह जो सब ओर बिखरी हुई कैलास-शिखरके समान सुन्दर प्रकाशयुक्त पर्वताकार वस्तु देख रहे हो, ये सब विशालकाय नरकासुरकी हड्डियाँ हैं। पर्वत और शिलाखण्डोंपर स्थित होनेके कारण ये भी पर्वतके समान ही प्रतीत होती हैं ॥ १५-१६ ॥

पुरातनेन देवेन विष्णुना परमात्मना।
दैत्यो विनिहतस्तेन सुरराजहितैषिणा ॥ १७ ॥

'पुरातन परमात्मा श्रीविष्णुदेवने देवराज इन्द्रका हित करनेकी इच्छासे उस दैत्यका वध किया था ॥ १७ ॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्यन् महामनाः।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःस्वाध्यायविक्रमात् ॥ १८ ॥

'वह महामना दैत्य दस हजार वर्षोंतक कठोर तपस्या करके तप, स्वाध्याय और पराक्रमसे इन्द्रका स्थान लेना चाहता था ॥ १८ ॥

तपोबलेन महता बाहुवेगबलेन च।
नित्यमेव दुराधर्षो धर्षयन् स दितेः सुतः ॥ १९ ॥

'अपने महान् तपोबल तथा वेगयुक्त बाहुबलसे वह देवताओंके लिये सदा अजेय बना रहता था और स्वयं सब देवताओंको सताया करता था ॥ १९ ॥

स तु तस्य बलं ज्ञात्वा धर्मे च चरितव्रतम्।
भयाभिभूतः संविग्नः शक्र आसीत् तदानघ ॥ २० ॥

'निष्पाप युधिष्ठिर ! नरकासुर बलवान् तो था ही, धर्मके लिये भी उसने कितने ही उत्तम व्रतोंका आचरण किया था, यह सब जानकर इन्द्रको बड़ा भय हुआ, वे घबरा उठे ॥ २० ॥

तेन संचिन्तितो देवो मनसा विष्णुरव्ययः।
सर्वत्रगः प्रभुः श्रीमानागतश्च स्थितो बभौ ॥ २१ ॥

'तब उन्होंने मन-ही-मन अविनाशी भगवान् विष्णुका चिन्तन किया; उनके स्मरण करते ही सर्वव्यापी भगवान् श्रीपति वहाँ उपस्थित हो प्रकाशित हुए ॥ २१ ॥

ऋषयश्चापि तं सर्वे तुष्टुवुश्च दिवौकसः।
तं दृष्ट्वा ज्वलमानश्रीर्भगवान् हव्यवाहनः ॥ २२ ॥
नष्टतेजाः समभवत् तस्य तेजोऽभिभर्त्सितः।
तं दृष्ट्वा वरदं देवं विष्णुं देवगणेश्वरम् ॥ २३ ॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य च वज्रभृत्।
प्राह वाक्यं ततस्तत्त्वं यतस्तस्य भयं भवेत् ॥ २४ ॥

'उस समय सभी देवताओं तथा ऋषियोंने उनकी स्तुति की। उन्हें देखते ही प्रज्वलित कान्तिसे सुशोभित भगवान् अग्निदेवका तेज नष्ट-सा हो गया। वे श्रीहरिके तेजसे तिरस्कृत हो गये। समस्त देवसमुदायके स्वामी एवं वरदायक भगवान् विष्णुका दर्शन करके वज्रधारी इन्द्रने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बार-बार मस्तक झुकाया। तदनन्तर वे सारी बातें भगवान्‌से कह सुनायीं, जिनके कारण उन्हें उस दैत्यसे भय हो रहा था' ॥ २२—२४ ॥



विष्णुरुवाच

जानामि ते भयं शक्र दैत्येन्द्रान्नरकात् ततः।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःसिद्धेन कर्मणा ॥ २५ ॥

तब भगवान् विष्णुने कहा—इन्द्र ! मैं जानता हूँ, तुम्हें दैत्यराज नरकासुरसे भय प्राप्त हुआ है। वह अपने तपःसिद्ध कर्मोंद्वारा इन्द्रपदको लेना चाहता है ॥ २५ ॥

सोऽहमेनं तव प्रीत्या तपःसिद्धमपि ध्रुवम्।
वियुनज्मि देहाद् देवेन्द्र मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ २६ ॥

देवेन्द्र ! यद्यपि तपस्याद्वारा उसे सिद्धि प्राप्त हो चुकी है तो भी मैं तुम्हारे प्रेमवश निश्चय ही उस दैत्यको मार डालूँगा। तुम थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो ॥ २६ ॥

तस्य विष्णुर्महातेजाः पाणिना चेतनां हरत्।
स पपात ततो भूमौ गिरिराज इवाहतः ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी भगवान् विष्णुने हाथसे मारकर उस दैत्यके प्राण हर लिये और वह वज्रके मारे हुए गिरिराजकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

तस्यैतदस्थिसंघातं मायाविनिहतस्य वै।
इदं द्वितीयमपरं विष्णोः कर्म प्रकाशते ॥ २८ ॥

इस प्रकार मायाद्वारा मारे गये उस दैत्यकी हड्डियोंका यह समूह दिखायी देता है। अब मैं भगवान् विष्णुका यह दूसरा पराक्रम बता रहा हूँ, जो सर्वत्र प्रकाशमान है ॥ २८ ॥

नष्टा वसुमती कृत्स्ना पाताले चैव मज्जिता।
पुनरुद्धरिता तेन वाराहेणैकशृङ्गिणा ॥ २९ ॥

एक समय सारी पृथ्वी एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो गयी; पातालमें डूब गयी । उस समय भगवान् विष्णुने पर्वतशिखरके सदृश एक दाँतवाले वाराहका रूप धारण करके पुनः इसका उद्धार किया था ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् विस्तरेणेमां कथां कथय तत्त्वतः।
कथं तेन सुरेशेन नष्टा वसुमती तदा ॥ ३० ॥
योजनानां शतं ब्रह्मन् पुनरुद्धरिता तदा।
केन चैव प्रकारेण जगतो धरणी ध्रुवा ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! देवेश्वर भगवान् विष्णुने पातालमें सैकड़ों योजन नीचे डूबी हुई इस पृथ्वीका पुनरुद्धार किस प्रकार किया ? आप इस कथाको यथार्थरूपसे और विस्तारपूर्वक कहिये। जगत्का भार धारण करनेवाली इस अचला पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये उन्होंने किस उपायका अवलम्बन किया ? ॥ ३०-३१ ॥

शिवा देवी महाभागा सर्वसस्यप्ररोहिणी।
कस्य चैव प्रभावाद्धि योजनानां शतं गता ॥ ३२ ॥

सम्पूर्ण शस्योंका उत्पादन करनेवाली यह कल्याणमयी महाभागा वसुधादेवी किसके प्रभावसे सैकड़ों योजन नीचे धँस गयी थी ॥ ३२ ॥

केन तद् वीर्यसर्वस्वं दर्शितं परमात्मनः।
एतत् सर्वं यथातत्त्वमिच्छामि द्विजसत्तम।
श्रोतुं विस्तरशः सर्वं त्वं हि तस्य प्रतिश्रयः ॥ ३३ ॥

परमात्माके उस अद्भुत पराक्रमका दर्शन (ज्ञान) किसने कराया था ? द्विजश्रेष्ठ ! यह सब मैं यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। आप इस वृत्तान्तके आश्रय (ज्ञाता) हैं ॥ ३३ ॥

लोमश उवाच

यत् तेऽहं परिपृष्टोऽस्मि कथामेतां युधिष्ठिर।
तत् सर्वमखिलेनेह श्रूयतां मम भाषतः ॥ ३४ ॥

लोमशजीने कहा—युधिष्ठिर ! तुमने जिसके विषयमें मुझसे प्रश्न किया है, वह कथा—वह सारा वृत्तान्त मैं बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३४ ॥

पुरा कृतयुगे तात वर्तमाने भयंकरे।
यमत्वं कारयामास आदिदेवः पुरातनः ॥ ३५ ॥

तात ! इस कल्पके प्रथम सत्ययुगकी बात है, एक समय बड़ी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी। उस समय आदिदेव पुरातन पुरुष भगवान् श्रीहरि ही यमराजका भी कार्य सम्पन्न करते थे ॥ ३५ ॥

यमत्वं कुर्वतस्तस्य देवदेवस्य धीमतः।
न तत्र म्रियते कश्चिज्जायते वा तथाच्युत ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर ! परम बुद्धिमान् देवदेव भगवान् श्रीहरिके यमराजका कार्य सँभालते समय किसी भी प्राणीकी मृत्यु नहीं होती थी; परंतु उत्पत्तिका कार्य पूर्ववत् चलता रहा ॥ ३६ ॥

वर्धन्ते पक्षिसंघाश्च तथा पशुगवेडकम्।
गवाश्वं च मृगाश्चैव सर्वे ते पिशिताशनाः ॥ ३७ ॥

फिर तो पक्षियोंके समूह बढ़ने लगे। गाय, बैल, भेड़-बकरे आदि पशु, घोड़े, मृग तथा मांसाहारी जीव सभी बढ़ने लगे ॥ ३७ ॥

तथा पुरुषशार्दूल मानुषाश्च परंतप।
सहस्रशो ह्ययुतशो वर्धन्ते सलिलं यथा ॥ ३८ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरश्रेष्ठ ! जैसे बरसातमें पानी बढ़ता है, उसी प्रकार मनुष्य भी हजार एवं दस हजार गुनी संख्यामें बढ़ने लगे ॥ ३८ ॥

एतस्मिन् संकुले तात वर्तमाने भयंकरे।
अतिभाराद् वसुमती योजनानां शतं गता ॥ ३९ ॥

तात ! इस प्रकार सब प्राणियोंकी वृद्धि होनेसे जब बड़ी भयंकर अवस्था आ गयी, तब अत्यन्त भारसे दबकर यह पृथ्वी सैकड़ों योजन नीचे चली गयी ॥ ३९ ॥

सा वै व्यथितसर्वाङ्गी भारेणाक्रान्तचेतना।
नारायणं वरं देवं प्रपन्ना शरणं गता ॥ ४० ॥

भारी भारके कारण पृथ्वी देवीके सम्पूर्ण अङ्गोंमें बड़ी पीड़ा हो रही थी। उसकी चेतना लुप्त होती जा रही थी। अतः वह सर्वश्रेष्ठ देवता भगवान् नारायणकी शरणमें गयी ॥

पृथिव्युवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादाद्धि तिष्ठेयं सुचिरं त्विह।
भारेणास्मि समाक्रान्ता न शक्नोमि स्म वर्तितुम् ॥ ४१ ॥

पृथ्वी बोली—भगवन् ! आप ऐसी कृपा करें, जिससे मैं दीर्घ कालतक यहाँ स्थिर रह सकूँ। इस समय मैं भारसे इतनी दब गयी हूँ कि जीवन धारण नहीं कर सकती ॥ ४१ ॥

ममेमं भगवन् भारं व्यपनेतुं त्वमर्हसि ।
शरणागतास्मि ते देव प्रसादं कुरु मे विभो ॥ ४२ ॥

भगवन् ! मेरे इस भारको आप दूर करनेकी कृपा करें । देव ! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ । विभो ! मुझपर कृपाप्रसाद कीजिये ॥ ४२ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा भगवानक्षरः प्रभुः ।
प्रोवाच वचनं हृष्टः श्रव्याक्षरसमीरितम् ॥ ४३ ॥

पृथ्वीका यह वचन सुनकर अविनाशी भगवान् नारायणने प्रसन्न होकर श्रवणमधुर अक्षरोंसे युक्त मीठी वाणीमें कहा ॥

विष्णुरुवाच

न ते मह्रि भयं कार्यं भारार्ते वसुधारिणि ।
अहमेवं तथा कुर्मि यथा लघ्वी भविष्यसि ॥ ४४ ॥

भगवान् विष्णु बोले—वसुधे ! तू भारसे पीडित है; किंतु अब उसके लिये भय न कर । मैं अभी ऐसा उपाय करता हूँ, जिससे तू हल्की हो जायगी ॥ ४४ ॥

लोमश उवाच

स तां विसर्जयित्वा तु वसुधां शैलकुण्डलाम् ।
ततो वराहः संवृत्त एकश्रृङ्गो महाद्युतिः ॥ ४५ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पर्वतरूपी कुण्डलोंसे विभूषित वसुधादेवीको विदा करके महातेजस्वी भगवान् विष्णुने वाराहका रूप धारण कर लिया । उस समय उनके एक ही दाँत था, जो पर्वत-शिखरके समान सुशोभित होता था ॥

रक्ताभ्यां नयनाभ्यां तु भयमुत्पादयन्निव ।
धूमं च ज्वलयँल्लक्ष्म्या तत्र देशे व्यवर्धत ॥ ४६ ॥

वे अपने लाल-लाल नेत्रोंसे मानो भय उत्पन्न कर रहे थे और अपनी अङ्गकान्तिसे धूम प्रकट करते हुए उस स्थानपर बढ़ने लगे ॥ ४६ ॥

स गृहीत्वा वसुमतीं श्रृङ्गेणैकेन भास्वता ।
योजनानां शतं वीर समुद्धरति सोऽक्षरः ॥ ४७ ॥

वीर युधिष्ठिर ! अविनाशी भगवान् विष्णुने अपने एक ही तेजस्वी दाँतके द्वारा पृथ्वीको थामकर उसे सौ योजन ऊपर उठा दिया ॥ ४७ ॥

तस्यां चोद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
देवाः संक्षुभिताः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ४८ ॥

पृथ्वीको उठाते समय सब ओर भारी हलचल मच गयी । सम्पूर्ण देवता तथा तपस्वी ऋषि क्षुब्ध हो उठे ॥४८॥

हाहाभूतमभूत् सर्वं त्रिदिवं व्योम भूस्तथा ।
न पर्यवस्थितः कश्चिद् देवो वा मानुषोऽपि वा ॥ ४९ ॥
ततो ब्रह्माणमासीनं ज्वलमानमिव श्रिया ।
देवाः सर्षिगणाश्चैव उपतस्थुरनेकशः ॥ ५० ॥

स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूलोक सबमें अत्यन्त हाहाकार मच गया । कोई भी देवता या मनुष्य स्थिर नहीं रह सका । तब अनेक देवता और ऋषि ब्रह्माजीके समीप गये । उस समय वे अपने आसनपर बैठकर दिव्य कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४९-५० ॥

उपसर्प्य च देवेशं ब्रह्माणं लोकसाक्षिकम् ।
भूत्वा प्राञ्जलयः सर्वे वाक्यमुच्चारयंस्तदा ॥ ५१ ॥

लोकसाक्षी देवेश्वर ब्रह्माके निकट पहुँचकर सबने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा—॥ ५१ ॥

लोकाः संक्षुभिताः सर्वे व्याकुलं च चराचरम् ।
समुद्राणां च संक्षोभस्त्रिदशेश प्रकाशते ॥ ५२ ॥

'देवेश्वर ! सम्पूर्ण लोकोंमें हलचल मच गयी है । चर और अचर सभी प्राणी व्याकुल हैं । समुद्रोंमें बड़ा भारी क्षोभ दिखायी दे रहा है ॥ ५२ ॥

सैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
किमेतद् किं प्रभावेण येनेदं व्याकुलं जगत् ।
आख्यातु नो भवाञ्शीघ्रं विसंज्ञाः स्मेह सर्वशः ॥ ५३ ॥

'यह सारी पृथ्वी सैकड़ों योजन नीचे चली गयी थी, अब यह किसके प्रभावसे कौन-सी अद्‌भुत घटना घटित हो रही है, जिससे सारा संसार व्याकुल हो उठा है । आप शीघ्र हमें इसका कारण बताइये । हम सब लोग अचेत-से हो रहे हैं' ॥ ५३ ॥

ब्रह्मोवाच

असुरेभ्यो भयं नास्ति युष्माकं कुत्रचित् क्वचित् ।
श्रूयतां यत्कृतेष्वेष संक्षोभो जायतेऽमराः ॥ ५४ ॥
योऽसौ सर्वत्रगः श्रीमानक्षरात्मा व्यवस्थितः ।
तस्य प्रभावात् संक्षोभस्त्रिदिवस्य प्रकाशते ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! तुम्हें असुरोंसे कभी और कोई भय नहीं है । यह जो चारों ओर क्षोभ फैल रहा है, इसका क्या कारण है ? वह सुनो । वे जो सर्वव्यापी अक्षरस्वरूप श्रीमान् भगवान् नारायण हैं, उन्हींके प्रभावसे यह स्वर्गलोकमें क्षोभ प्रकट हो रहा है ॥ ५४-५५ ॥

यैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
समुद्धृता पुनस्तेन विष्णुना परमात्मना ॥ ५६ ॥

यह सारी पृथ्वी, जो सैकड़ों योजन नीचे चली गयी थी, इसे परमात्मा श्रीविष्णुने पुनः ऊपर उठाया है ॥ ५६ ॥

तस्यामुद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
एवं भवन्तो जानन्तु छिद्यतां संशयश्च वः ॥ ५७ ॥

इस पृथ्वीका उद्धार करते समय ही सब ओर यह महान् क्षोभ प्रकट हुआ है । इस प्रकार तुम्हें इस विश्वव्यापी हलचलका यथार्थ कारण ज्ञात होना और तुम्हारा आन्तरिक संशय दूर हो जाना चाहिये ॥ ५७ ॥

देवा ऊचुः

क्व तद् भूतं वसुमतीं समुद्धरति हृष्टवत्।
तं देशं भगवन् ब्रूहि तत्र यास्यामहे वयम्॥ ५८॥

देवता बोले—भगवन्! वे वराहरूपधारी भगवान् प्रसन्न-से होकर कहाँ पृथ्वीका उद्धार कर रहे हैं, उस प्रदेशका पता हमें बताइये; हम सब लोग वहाँ जायँगे।५८।

ब्रह्मोवाच

हन्त गच्छत भद्रं वो नन्दने पश्यत स्थितम्।
एषोऽत्र भगवाञ्छ्रीमान् सुपर्णः सम्प्रकाशते॥ ५९॥
वाराहेणैव रूपेण भगवाँल्लोकभावनः।
कालानल इवाभाति पृथिवीतलमुद्धरन्॥ ६०॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! बड़े हर्षकी बात है, जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। भगवान् नन्दनवनमें विराजमान हैं। वहीं उनका दर्शन करो। उस वनके निकट ये स्वर्णके समान सुन्दर रोमवाले परम कान्तिमान् विश्वभावन भगवान् श्रीविष्णु वाराहरूपसे प्रकाशित हो रहे हैं। भूतलका उद्धार करते हुए वे प्रलयकालीन अग्निके समान उद्भासित होते हैं॥

एतस्योरसि सुव्यक्तं श्रीवत्समभिराजते।
पश्यध्वं विबुधाः सर्वे भूतमेतदनामयम्॥ ६१॥

इनके वक्षःस्थलमें स्पष्टरूपसे श्रीवत्सचिह्न प्रकाशित हो रहा है। देवताओ! ये रोग-शोकसे रहित साक्षात् भगवान् ही वाराहरूपसे प्रकट हुए हैं, तुम सब लोग इनका दर्शन करो॥

लोमश उवाच

ततो दृष्ट्वा महात्मानं श्रुत्वा चामन्त्र्य चामराः।
पितामहं पुरस्कृत्य जग्मुर्देवा यथागतम्॥ ६२॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर देवताओंने जाकर वाराहरूपधारी परमात्मा श्रीविष्णुका दर्शन किया, उनकी महिमा सुनी और उनकी आज्ञा लेकर वे ब्रह्माजीको आगे करके जैसे आये थे, वैसे लौट गये॥ ६२॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु तां कथां सर्वे पाण्डवा जनमेजय।
लोमशादेशितेनाशु पथा जग्मुः प्रहृष्टवत्॥ ६३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह कथा सुनकर सब पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए और लोमशजीके बताये हुए मार्गसे शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ गये॥ ६३॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४२॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

गन्धमादनकी यात्राके समय पाण्डवोंका आँधी-पानीसे सामना

वैशम्पायन उवाच

ते शूरास्ततधन्वानस्तूणवन्तः समार्गणाः।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः खड्गवन्तोऽमितौजसः॥ १॥
परिगृह्य द्विजश्रेष्ठाञ्ज्येष्ठाः सर्वधनुष्मताम्।
पाञ्चालीसहिता राजन् प्रययुर्गन्धमादनम्॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें अग्रगण्य वे अमिततेजस्वी शूरवीर पाण्डव धनुष, बाण, तरकश, ढाल और तलवार लिये, हाथोंमें गोहके चमड़ेके बने दस्ताने पहने और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको आगे किये द्रौपदीके साथ गन्धमादन पर्वतकी ओर प्रस्थित हुए॥ १-२॥

सरांसि सरितश्चैव पर्वतांश्च वनानि च।
वृक्षांश्च बहुलच्छायान् ददृशुर्गिरिमूर्धनि॥ ३॥

पर्वतके शिखरपर उन्होंने बहुत-से सरोवर, सरिताएँ, पर्वत, वन तथा घनी छायावाले वृक्ष देखे॥ ३॥

नित्यपुष्पफलान् देशान् देवर्षिगणसेवितान्।
आत्मन्यात्मानमाधाय वीरा मूलफलाशिनः॥ ४॥
चेरुरुच्चावचाकारान् देशान् विषमसंकटान्।
पश्यन्तो मृगजातानि बहूनि विविधानि च॥ ५॥

उन्हें कितने ही ऐसे स्थान दृष्टिगोचर हुए, जहाँ सदा फल और फूलोंकी बहुतायत रहती थी। उन प्रदेशोंमें देवर्षियोंके समुदाय निवास करते थे। वीर पाण्डव अपने मनको परमात्माके चिन्तनमें लगाकर फल-मूलका आहार करते हुए ऊँचे-नीचे विषम-संकटपूर्ण स्थानोंमें विचर रहे थे। मार्गमें उन्हें नाना प्रकारके मृगसमूह दिखायी देते थे, जिनकी संख्या बहुत थी॥ ४-५॥

ऋषिसिद्धामरयुतं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम्।
विविशुस्ते महात्मानः किंनराचरितं गिरिम्॥ ६॥

इस प्रकार उन महात्मा पाण्डवोंने गन्धर्वों और अप्सराओंकी प्रिय भूमि, किन्नरोंकी क्रीडास्थली तथा ऋषियों, सिद्धों और देवताओंके निवासस्थान गन्धमादन पर्वतकी घाटीमें प्रवेश किया॥ ६॥

प्रविशत्स्वथ वीरेषु पर्वतं गन्धमादनम् ।
चण्डवातं महद् वर्षं प्रादुरासीत् विशाम्पते ॥ ७ ॥

राजन् ! वीर पाण्डवोंके गन्धमादन पर्वतपर पदार्पण करते ही प्रचण्ड आँधीके साथ बड़े जोरकी वर्षा होने लगी ॥

ततो रेणुः समुद्भूतः सपत्रबहुलो महान् ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव सहसाऽऽवृणोत् ॥ ८ ॥

फिर धूल और पत्तोंसे भरा हुआ बड़ा भारी बवंडर (आँधी) उठा, जिसने पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गको भी सहसा आच्छादित कर दिया ॥ ८ ॥

न स्म प्रज्ञायते किंचिदावृते व्योम्नि रेणुना ।
न चापि शेकुस्तत् कर्तुमन्योन्यस्याभिभाषणम् ॥ ९ ॥
न चापश्यंस्ततोऽन्योन्यं तमसावृतचक्षुषः ।
आकृष्यमाणा वातेन साश्मचूर्णेन भारत ॥ १० ॥

धूलसे आकाशके ढक जानेसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था; इसीलिये वे एक दूसरेसे बातचीत भी नहीं कर पाते थे; अन्धकारने आँखोंपर पर्दा डाल दिया था । जिससे पाण्डवलोग एक दूसरेके दर्शनसे भी वञ्चित हो गये थे । भारत ! पत्थरोंका चूर्ण बिखेरती हुई वायु उन्हें कहीं-से-कहीं खींच लिये जाती थी ॥ ९-१० ॥

द्रुमाणां वातभग्नानां पततां भूतलेऽनिशम् ।
अन्येषां च महीजानां शब्दः समभवन्महान् ॥ ११ ॥

प्रचण्ड वायुके वेगसे टूटकर निरन्तर धरतीपर गिरनेवाले वृक्षों तथा अन्य झाड़ोंका भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ॥ ११ ॥

द्यौः स्वित् पतति किं भूमिर्दीर्यते पर्वतो नु किम्।
इति ते मेनिरे सर्वे पवनेनापि मोहिताः ॥ १२ ॥

हवाके झोंकेसे मोहित होकर वे सब-के-सब मन-ही-मन सोचने लगे कि आकाश तो नहीं फट पड़ा है । पृथ्वी तो नहीं विदीर्ण हो रही है अथवा कोई पर्वत तो नहीं फटा जा रहा है ॥ १२ ॥

ते पथानन्तरान् वृक्षान् वल्मीकान् विषमाणि च ।
पाणिभिः परिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् वे रास्तेके आस-पासके वृक्षों, मिट्टीके ढेरों और ऊँचे-नीचे स्थानोंको हाथोंसे टटोलते हुए हवासे डरकर यत्र-तत्र छिपने लगे ॥ १३ ॥

ततः कार्मुकमादाय भीमसेनो महाबलः ।
कृष्णामादाय संगम्य तस्थावाश्रित्य पादपम् ॥ १४ ॥

उस समय महाबली भीमसेन हाथमें धनुष लिये द्रौपदी-को अपने साथ रखकर एक वृक्षके सहारे खड़े हो गये ॥ १४ ॥

धर्मराजश्च धौम्यश्च निलिल्याते महावने ।
अग्निहोत्राण्युपादाय सहदेवस्तु पर्वते ॥ १५ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर और पुरोहित धौम्य अग्निहोत्रकी सामग्री लिये उस महान् वनमें कहीं जा छिपे । सहदेव पर्वत-पर ही (कहीं सुरक्षित स्थानमें) छिप गये ॥ १५ ॥

नकुलो ब्राह्मणाश्चान्ये लोमशश्च महातपाः ।
वृक्षानासाद्य संत्रस्तास्तत्र तत्र निलिल्यिरे ॥ १६ ॥

नकुल, अन्यान्य ब्राह्मणलोग तथा महातपस्वी लोमशजी भी भयभीत होकर जहाँ-तहाँ वृक्षोंकी आड़ लेकर छिपे रहे ॥

मन्दीभूते तु पवने तस्मिन् रजसि शाम्यति ।
महद्भिर्जलधारौघैर्वर्षमभ्याजगाम ह ॥ १७ ॥
भृशं चटचटाशब्दो वज्राणां क्षिप्यतामिव ।
ततस्ताश्चञ्चलाभासश्चेरुरभ्रेषु विद्युतः ॥ १८ ॥

थोड़ी देरमें जब वायुका वेग कुछ कम हुआ और धूल उड़नी बंद हो गयी, उस समय बड़ी भारी जलधारा बरसने लगी । तदनन्तर वज्रपातके समान मेघोंकी गड़गड़ाहट होने लगी और मेघमालाओंमें चारों ओर चञ्चल चमकवाली बिजलियाँ संचरण करने लगीं ॥ १७-१८ ॥

ततोऽश्मसहिता धाराः संवृण्वन्त्यः समन्ततः ।
प्रपेतुरनिशं तत्र शीघ्रवातसमीरिताः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् तीव्र वायुसे प्रेरित हो समस्त दिशाओंको आच्छादित करती हुई ओलोंसहित जलकी धाराएँ अविराम गतिसे गिरने लगीं ॥ १९ ॥

तत्र सागरगा ह्यापः कीर्यमाणाः समन्ततः ।
प्रादुरासन् सकलुषाः फेनवत्यो विशाम्पते ॥ २० ॥

महाराज ! वहाँ चारों ओर बिखरी हुई जलराशि समुद्र-गामिनी नदियोंके रूपमें प्रकट हो गयी, जो मिट्टी मिल जानेसे मलिन दीख पड़ती थी । उसमें झाग उठ रहे थे ॥ २० ॥

वहन्त्यो वारि बहुलं फेनोडुपपरिप्लुतम् ।
परिसस्रुर्महाशब्दाः प्रकर्षन्त्यो महीरुहान् ॥ २१ ॥

फेनरूपी नौकासे व्याप्त अगाध जलसमूहको बहाती हुई सरिताएँ टूटकर गिरे हुए वृक्षोंको अपनी लहरोंसे समेटकर जोर-जोरसे 'हर हर' ध्वनि करती हुई बह रही थीं ॥ २१ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे वाते च समतां गते ।
गते ह्यम्भसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ॥ २२ ॥
निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत ।
प्रतस्थिरे पुनर्वीराः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २३ ॥

भारत ! थोड़ी देर बाद जब तूफानका कोलाहल शान्त हुआ, वायुका वेग कम एवं सम हो गया, पर्वतका सारा जल बहकर नीचे चला गया और बादलोंका आवरण दूर हो जानेसे सूर्यदेव प्रकाशित हो उठे, उस समय वे समस्त वीर पाण्डव धीरे-धीरे अपने स्थानसे निकले और गन्धमादन पर्वतकी ओर प्रस्थित हो गये ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रौपदीकी मूर्छा, पाण्डवोंके उपचारसे उसका सचेत होना तथा भीमसेनके स्मरण करनेपर घटोत्कचका आगमन

वैशम्पायन उवाच

क्रोशमात्रं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पद्भ्यामनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपाविशत् ॥ १ ॥
श्रान्ता दुःखपरीता च वातवर्षेण तेन च ।
सौकुमार्याच्च पाञ्चाली सम्मुमोह तपस्विनी ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा पाण्डव अभी कोसभर ही गये होंगे कि पाञ्चालराजकुमारी तपस्विनी द्रौपदी सुकुमारताके कारण थककर बैठ गयी। वह पैदल चलने योग्य कदापि नहीं थी। उस भयानक वायु और वर्षासे पीडित हो दुःखमग्न होकर वह मूर्छित होने लगी थी ॥ १-२ ॥

सा कम्पमाना मोहेन बाहुभ्यामसितेक्षणा ।
वृत्ताभ्यामनुरूपाभ्यामूरू समवलम्बत ॥ ३ ॥

घबराहटसे काँपती हुई कजरारे नेत्रोंवाली कृष्णाने अपने गोल-गोल और सुन्दर हाथोंसे दोनों जाँघोंको थाम लिया ॥

आलम्बमाना सहितावूरू गजकरोपमौ ।
पपात सहसा भूमौ वेपन्ती कदली यथा ॥ ४ ॥
तां पतन्तीं वरारोहां भज्यमानां लतामिव ।
नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्यवान् ॥ ५ ॥

हाथीकी सूँड़के समान चढ़ाव-उतारवाली परस्पर सटी हुई जाँघोंका सहारा ले केलेके वृक्षकी भाँति काँपती हुई वह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी। सुन्दर अङ्गोंवाली द्रौपदीको टूटी हुई लताकी भाँति गिरती देख बलशाली नकुलने दौड़कर थाम लिया ॥ ४-५ ॥

नकुल उवाच

राजन् पञ्चालराजस्य सुतेयमसितेक्षणा ।
श्रान्ता निपतिता भूमौ तामवेक्षस्व भारत ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् नकुलने कहा—भरतकुलभूषण महाराज! यह श्याम नेत्रवाली पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी थककर धरतीपर गिर पड़ी है, आप आकर इसे देखिये ॥ ६ ॥

अदुःखार्हा परं दुःखं प्राप्तेयं मृदुगामिनी ।
आश्वासय महाराज तामिमां श्रमकर्शिताम् ॥ ७ ॥

राजन् ! यह मन्दगतिसे चलनेवाली देवी दुःख सहन करनेके योग्य नहीं है; तो भी इसपर महान् दुःख आ पड़ा है। रास्तेके परिश्रमसे यह दुर्बल हो गयी है। आप आकर इसे सान्त्वना दें ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा तु वचनात् तस्य भृशं दुःखसमन्वितः ।
भीमश्च सहदेवश्च सहसा समुपाद्रवन् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नकुलकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर अत्यन्त दुखी हो गये और भीम तथा सहदेवके साथ सहसा वहाँ दौड़े आये ॥ ८ ॥

तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो विवर्णवदनां कृशाम् ।
अङ्कमानीय धर्मात्मा पर्यदेवयदातुरः ॥ ९ ॥

धर्मात्मा कुन्तीनन्दनने देखा—द्रौपदीके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी है और उसका शरीर कृश हो गया है। तब वे उसे अङ्कमें लेकर शोकातुर हो विलाप करने लगे ॥ ९ ॥



युधिष्ठिर उवाच

कथं वेश्मसु गुप्तेषु स्वास्तीर्णशयनोचिता ।
भूमौ निपतिता शेते सुखार्हा वरवर्णिनी ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—अहो ! जो सुरक्षित सदनोंमें सुसज्जित सुकोमल शय्यापर शयन करने योग्य है, वह सुख भोगनेकी अधिकारिणी परम सुन्दरी कृष्णा आज पृथ्वीपर कैसे सो रही है ? ॥

सुकुमारौ कथं पादौ मुखं च कमलप्रभम् ।
मत्कृतेऽद्य वरार्हायाः श्यामतां समुपागतम् ॥ ११ ॥

जो सुखके श्रेष्ठ साधनोंका उपभोग करने योग्य है, उसी द्रौपदीके ये दोनों सुकुमार चरण और कमलकी कान्तिसे सुशोभित मुख आज मेरे कारण कैसे काले पड़ गये हैं? ११

किमिदं द्यूतकामेन मया कृतमबुद्धिना ।
आदाय कृष्णां चरता वने मृगगणायुते ॥ १२ ॥

मुझ मूर्खने द्यूतक्रीड़ाकी कामनामें फँसकर यह क्या कर डाला? अहो! सहस्रों मृगसमूहोंसे भरे हुए इस भयानक वनमें द्रौपदीको साथ लेकर हमें विचरना पड़ा है ॥ १२ ॥

सुखं प्राप्स्यसि कल्याणि पाण्डवान् प्राप्य वै पतीन् ।
इति द्रुपदराजेन पित्रा दत्ताऽऽयतेक्षणा ॥ १३ ॥
तत् सर्वमनवाप्येयं श्रमशोकाध्वकर्शिता ।
शेते निपतिता भूमौ पापस्य मम कर्मभिः ॥ १४ ॥

इसके पिता राजा द्रुपदने इस विशाललोचना द्रौपदीको यह कहकर हमें प्रदान किया था कि 'कल्याणि! तुम पाण्डवोंको पतिरूपमें पाकर सुखी होगी।' परंतु मुझ पापीकी करतूतोंसे वह सब न पाकर यह परिश्रम, शोक और मार्गके कष्टसे कृश होकर आज पृथ्वीपर पड़ी सो रही है ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा लालप्यमाने तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
धौम्यप्रभृतयः सर्वे तत्राजग्मुर्द्विजोत्तमाः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उसी समय धौम्य आदि समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मण भी वहाँ आ पहुँचे ॥ १५ ॥

ते समाश्वासयामासुराशीर्भिश्चाप्यपूजयन् ।
रक्षोघ्नांश्च तथा मन्त्राञ्जेपुश्चक्रुश्च ते क्रियाः ॥ १६ ॥

उन्होंने महाराजको आश्वासन दिया और अनेक प्रकारके आशीर्वाद देकर उन्हें सम्मानित किया। तत्पश्चात् वे राक्षसोंका विनाश करनेवाले मन्त्रोंका जप तथा शान्तिकर्म करने लगे ॥ १६ ॥

पठ्यमानेषु मन्त्रेषु शान्त्यर्थं परमर्षिभिः ।
स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥

महर्षियोंद्वारा शान्तिके लिये मन्त्रपाठ होते समय पाण्डवोंने अपने शीतल हाथोंसे बार-बार द्रौपदीके अङ्गोंको सहलाया ॥ १७ ॥

सेव्यमाना च शीतेन जलमिश्रेण वायुना ।
पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ॥ १८ ॥

जलका स्पर्श करके बहती हुई शीतल वायुने भी उसे सुख पहुँचाया। इस प्रकार कुछ आराम मिलनेपर पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको धीरे-धीरे चेत हुआ ॥ १८ ॥

परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामजिनसंस्तरे ।
पार्था विश्रामयामासुर्लब्धसंज्ञां तपस्विनीम् ॥ १९ ॥
तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ ।
कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संववाहतुः ॥ २० ॥

होशमें आनेपर दीनावस्थामें पड़ी हुई तपस्विनी द्रौपदीको पकड़कर पाण्डवोंने मृगचर्मके बिस्तरपर सुलाया और उसे विश्राम कराया। नकुल और सहदेवने धनुषकी रगड़के चिह्नसे सुशोभित दोनों हाथोंद्वारा उसके लाल तलवोंसे युक्त और उत्तम लक्षणोंसे अलङ्कृत दोनों चरणोंको धीरे-धीरे दबाया ॥ १९-२० ॥

पर्याश्वासयदप्येनां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच च कुरुश्रेष्ठो भीमसेनमिदं वचः ॥ २१ ॥

फिर कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने भी द्रौपदीको बहुत आश्वासन दिया और भीमसेनसे इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

बहवः पर्वता भीम विषमा हिमदुर्गमाः ।
तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ॥ २२ ॥

'महाबाहु भीम! यहाँ बहुत-से ऊँचे-नीचे पर्वत हैं, जिनपर चलना बर्फके कारण अत्यन्त कठिन है। उनपर द्रौपदी कैसे जा सकेगी?' ॥ २२ ॥

भीमसेन उवाच

त्वां राजन् राजपुत्रीं च यमौ च पुरुषर्षभ ।
स्वयं नेष्यामि राजेन्द्र मा विषादे मनः कृथाः ॥ २३ ॥

भीमसेनने कहा—पुरुषरत्न! महाराज! आप मनमें खेद न करें। मैं स्वयं राजकुमारी द्रौपदी, नकुल-सहदेव और आपको भी ले चलूँगा ॥ २३ ॥

हैडिम्बश्च महावीर्यो विहगो मद्बलोपमः ।
वहेदनघ सर्वान्नो वचनात् ते घटोत्कचः ॥ २४ ॥

हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच भी महान् पराक्रमी है। वह मेरे ही समान बलवान् है और आकाशमें चल-फिर सकता है। अनघ! आपकी आज्ञा होनेपर वह हम सबको अपनी पीठपर बिठाकर ले चलेगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातो धर्मराज्ञा पुत्रं सस्मार राक्षसम् ।
घटोत्कचस्तु धर्मात्मा स्मृतमात्रः पितुस्तदा ॥ २५ ॥
कृताञ्जलिरुपातिष्ठदभिवाद्याथ पाण्डवान् ।
ब्राह्मणांश्च महाबाहुः स च तैरभिनन्दितः ॥ २६ ॥
उवाच भीमसेनं स पितरं भीमविक्रमम् ।
स्मृतोऽस्मि भवता शीघ्रं शुश्रूषुरहमागतः ॥ २७ ॥
आज्ञापय महाबाहो सर्वं कर्तास्म्यसंशयम् ।
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्तु राक्षसं परिषस्वजे ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर धर्मराजकी आज्ञा पाकर भीमसेनने अपने राक्षसपुत्रका स्मरण किया।

पिताके स्मरण करते ही धर्मात्मा घटोत्कच हाथ जोड़े हुए वहाँ उपस्थित हुआ। उस महाबाहु वीरने पाण्डवों तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके उनके द्वारा सम्मानित हो अपने भयंकर पराक्रमी पिता भीमसेनसे कहा—'महाबाहो! आपने मेरा स्मरण किया है और मैं शीघ्र ही सेवाकी भावनासे आया हूँ; आज्ञा कीजिये; मैं आपका सब कार्य अवश्य ही पूर्ण करूँगा।' यह सुनकर भीमसेनने राक्षस घटोत्कचको हृदयसे लगा लिया॥ २५-२८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः १४४

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४४॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

घटोत्कच और उसके साथियोंकी सहायतासे पाण्डवोंका गन्धमादन पर्वत एवं बदरिकाश्रममें प्रवेश तथा बदरीवृक्ष, नरनारायणाश्रम और गङ्गाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञो बलवाञ्शूरः सत्यो राक्षसपुङ्गवः।
भक्तोऽस्मानौरसः पुत्रो भीम गृह्णातु माचिरम्॥ १॥
तव भीम सुतेनाहमतिभीमपराक्रम।
अक्षतः सह पाञ्चाल्या गच्छेयं गन्धमादनम्॥ २॥

युधिष्ठिर बोले—अत्यन्त भयानक पराक्रम दिखानेवाले भीम! तुम्हारा औरस पुत्र राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच धर्मज्ञ, बलवान्, शूरवीर, सत्यवादी तथा हमलोगोंका भक्त है। यह हमें शीघ्र उठा ले चले। जिससे भीमसेन! तुम्हारे पुत्र घटोत्कचद्वारा शरीरसे किसी प्रकारकी क्षति उठाये बिना ही मैं द्रौपदीसहित गन्धमादन पर्वतपर पहुँच जाऊँ॥ १-२॥

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय भीमसेनो घटोत्कचम्।
आदिदेश नरव्याघ्रस्तनयं शत्रुकर्शनम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भाईकी इस आज्ञाको शिरोधार्य करके नरश्रेष्ठ भीमसेनने अपने पुत्र शत्रुसूदन घटोत्कचको इस प्रकार आज्ञा दी॥ ३॥

भीमसेन उवाच

हैडिम्बेय परिश्रान्ता तव मातापराजित।
त्वं च कामगमस्तात बलवान् वह तां खग॥ ४॥

भीमसेन बोले—अपराजित और आकाशचारी हिडिम्बानन्दन! तुम्हारी माता द्रौपदी बहुत थक गयी है। तुम बलवान् एवं इच्छानुसार सर्वत्र जानेमें समर्थ हो; अतः इसे (आकाशमार्गसे) ले चलो॥ ४॥

स्कन्धमारोप्य भद्रं ते मध्येऽस्माकं विहायसा।
गच्छ नीचिकया गत्या यथा चैनां न पीडयेः॥ ५॥

बेटा! तुम्हारा कल्याण हो। इसे कंधेपर बैठाकर हम लोगोंके बीच रहते हुए आकाशमार्गसे इस प्रकार धीरे-धीरे ले चलो, जिससे इसे तनिक भी कष्ट न हो॥ ५॥

घटोत्कच उवाच

धर्मराजं च धौम्यं च कृष्णां च यमजौ तथा।
एकोऽप्यहमलं वोढुं किमुताद्य सहायवान्॥ ६॥
अन्ये च शतशः शूरा विहङ्गाः कामरूपिणः।
सर्वान् वो ब्राह्मणैः सार्धं वक्ष्यन्ति सहितानघ॥ ७॥

घटोत्कच बोला—अनघ! मैं अकेला रहूँ तो भी धर्मराज युधिष्ठिर, पुरोहित धौम्य, माता द्रौपदी और चाचा नकुल-सहदेवको भी वहन कर सकता हूँ; फिर आज तो मेरे और भी बहुत-से संगी-साथी मौजूद हैं। इस दशामें आप लोगोंको ले चलना कौन बड़ी बात है? मेरे सिवा दूसरे भी सैकड़ों शूरवीर, आकाशचारी और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस मेरे साथ हैं। वे ब्राह्मणोंसहित आप सब लोगोंको एक साथ वहन करेंगे॥ ६-७॥



एवमुक्त्वा ततः कृष्णामुवाह स घटोत्कचः।
पाण्डूनां मध्यगो वीरः पाण्डवानपि चापरे॥ ८॥

ऐसा कहकर वीर घटोत्कच तो द्रौपदीको लेकर

पाण्डवोंके बीचमें चलने लगा और दूसरे राक्षस पाण्डवोंको भी (अपने-अपने कंधेपर बिठाकर) ले चले ॥ ८ ॥

लोमशः सिद्धमार्गेण जगामानुपमद्युतिः ।
स्वेनैव स प्रभावेण द्वितीय इव भास्करः ॥ ९ ॥

अनुपम तेजस्वी महर्षि लोमश अपने ही प्रभावसे दूसरे सूर्यकी भाँति सिद्धमार्ग अर्थात् आकाशमार्गसे चलने लगे ॥

ब्राह्मणांश्चापि तान् सर्वान् समुपादाय राक्षसाः ।
नियोगाद् राक्षसेन्द्रस्य जग्मुर्भीमपराक्रमाः ॥ १० ॥

राक्षसराज घटोत्कचकी आज्ञासे अन्य सब ब्राह्मणोंको भी अपने-अपने कंधेपर चढ़ाकर वे भयंकर पराक्रमी राक्षस साथ-साथ चलने लगे ॥ १० ॥

एवं सुरमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
आलोकयन्तस्ते जग्मुर्विशालां बदरीं प्रति ॥ ११ ॥

इस प्रकार अत्यन्त रमणीय वन और उपवनोंका अवलोकन करते हुए वे सब लोग विशाला बदरी (बदरिकाश्रम तीर्थ) की ओर प्रस्थित हुए ॥ ११ ॥

ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाजवैः ।
उह्यमाना ययुः शीघ्रं दीर्घमध्वानमल्पवत् ॥ १२ ॥

उन महावेगशाली और तीव्र गतिसे चलनेवाले राक्षसोंपर सवार हो वीर पाण्डवोंने उस विशाल मार्गको इतनी शीघ्रतासे तय कर लिया, मानो वह बहुत छोटा हो ॥ १२ ॥

देशान् म्लेच्छजनाकीर्णान् नानारत्नाकरायुतान् ।
ददृशुर्गिरिपादांश्च नानाधातुसमाचितान् ॥ १३ ॥
विद्याधरसमाकीर्णान् युतान् वानरकिंनरैः ।
तथा किंपुरुषैश्चैव गन्धर्वैश्च समन्ततः ॥ १४ ॥

उस यात्रामें उन्होंने म्लेच्छोंसे भरे हुए बहुत-से ऐसे देश देखे, जो नाना प्रकारकी रत्नोंकी खानोंसे युक्त थे । वहाँ उन्हें नाना प्रकारके धातुओंसे व्याप्त कितने ही शाखापर्वत दृष्टिगोचर हुए । उन पर्वतीय शिखरोंपर बहुत-से विद्याधर, वानर, किन्नर, किम्पुरुष और गन्धर्व चारों ओर निवास करते थे ॥ १३-१४ ॥

मयूरैश्चमरैश्चैव वानरै रुरुभिस्तथा ।
वराहैर्गवयैश्चैव महिषैश्च समावृतान् ॥ १५ ॥

मोर, चमरी गाय, बंदर, रुरुमृग, सूअर, गवय* और भैंस आदि पशु वहाँ विचर रहे थे ॥ १५ ॥

नदीजालसमाकीर्णान् नानापक्षियुतान् बहून् ।
नानाविधमृगैर्जुष्टान् वानरैश्चोपशोभितान् ॥ १६ ॥

वहाँ सब ओर बहुत-सी नदियाँ बह रही थीं । अनेक प्रकारके असंख्य पक्षी विचर रहे थे । वह स्थान नाना प्रकारके मृगोंसे सेवित और वानरोंसे सुशोभित था ॥ १६ ॥

समदैश्चापि विहगैः पादपैरन्वितास्तथा ।
तेऽवतीर्य बहून् देशानुत्तमर्द्धिसमन्वितान् ॥ १७ ॥
ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम् ।
तस्याभ्याशे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम् ॥ १८ ॥
उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदापुष्पफलोपगैः ।
ददृशुस्तां च बदरीं वृत्तस्कन्धां मनोरमाम् ॥ १९ ॥
स्निग्धामविरलच्छायां श्रिया परमया युताम् ।
पत्रैः स्निग्धैरविरलैरुपेतां मृदुभिः शुभाम् ॥ २० ॥

वह पर्वतीय प्रदेश मतवाले विहंगों और अगणित वृक्षोंसे युक्त था । पाण्डवोंने उत्तम समृद्धिसे सम्पन्न बहुत-से देशोंको लाँघकर भाँति-भाँतिके आश्चर्यजनक दृश्योंसे सुशोभित पर्वतश्रेष्ठ कैलासका दर्शन किया । उसीके निकट उन्हें भगवान् नर-नारायणका आश्रम दिखायी दिया, जो नित्य फल-फूल देनेवाले दिव्य वृक्षोंसे अलंकृत था । वहीं वह विशाल एवं मनोरम बदरी भी दिखायी दी, जिसका स्कन्ध (तना) गोल था । वह वृक्ष बहुत ही चिकना, घनी छायासे युक्त और उत्तम शोभासे सम्पन्न था । उस शुभ वृक्षके सघन कोमल पत्ते भी बहुत चिकने थे ॥ १७–२० ॥

विशालशाखां विस्तीर्णामतिद्युतिसमन्विताम् ।
फलैरुपचितैर्दिव्यैराचितां स्वादुभिर्भृशम् ॥ २१ ॥
मधुस्रवैः सदा दिव्यां महर्षिगणसेविताम् ।
मदप्रमुदितैर्नित्यं नानाद्विजगणैर्युताम् ॥ २२ ॥

उसकी डालियाँ बहुत बड़ी और बहुत दूरतक फैली हुई थीं । वह वृक्ष अत्यन्त कान्तिसे सम्पन्न था । उसमें अत्यन्त स्वादिष्ठ दिव्य फल अधिक मात्रामें लगे हुए थे । उन फलोंसे मधुकी धारा बहती रहती थी । उस दिव्य वृक्षके नीचे महर्षियोंका समुदाय निवास करता था । वह वृक्ष सदा मदोन्मत्त एवं आनन्दविभोर पक्षियोंसे परिपूर्ण रहता था ॥

अदंशमशके देशे बहुमूलफलोदके ।
नीलशाद्वलसंछन्ने देवगन्धर्वसेविते ॥ २३ ॥
सुसमीकृतभूभागे स्वभावविहिते शुभे ।
जातां हिममृदुस्पर्शे देशेऽपहतकण्टके ॥ २४ ॥

उस प्रदेशमें डाँस और मच्छरोंका नाम नहीं था । फल-मूल और जलकी बहुतायत थी । वहाँकी भूमि हरी-हरी घाससे ढकी हुई थी । देवता और गन्धर्व वहाँ वास करते थे । उस प्रदेशका भूभाग स्वभावतः समतल और मङ्गलमय था । उस हिमाच्छादित भूमिका स्पर्श अत्यन्त मृदु था । उस देशमें काँटोंका कहीं नाम नहीं था । ऐसे पावन प्रदेशमें वह विशाल बदरी वृक्ष उत्पन्न हुआ था ॥ २३-२४ ॥

तामुपेत्य महात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः ।
अवतेरुस्ततः सर्वे राक्षसस्कन्धतः शनैः ॥ २५ ॥

उसके पास पहुँचकर ये सब महात्मा पाण्डव उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ राक्षसोंके कंधोंसे धीरे-धीरे उतरे ॥ २५ ॥

* गौके समान एक प्रकारका जंगली पशु, जिसके गलकंबल नहीं होता ।

ततस्तमाश्रमं रम्यं नरनारायणाश्रितम्।
ददृशुः पाण्डवा राजन् सहिता द्विजपुङ्गवैः ॥ २६ ॥

राजन्! तदनन्तर ब्राह्मणोंसहित पाण्डवोंने एक साथ भगवान् नर-नारायणके उस रमणीय स्थानका दर्शन किया॥

तमसा रहितं पुण्यमनामृष्टं रवेः करैः।
क्षुत्तृट्शीतोष्णदोषैश्च वर्जितं शोकनाशनम् ॥ २७ ॥

जो अन्धकार एवं तमोगुणसे रहित तथा पुण्यमय था। (वृक्षोंकी सघनताके कारण) सूर्यकी किरणें उसका स्पर्श नहीं कर पाती थीं। वह आश्रम भूख, प्यास, सर्दी और गर्मी आदि दोषोंसे रहित और सम्पूर्ण शोकोंका नाश करनेवाला था॥

महर्षिगणसम्बाधं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समन्वितम्।
दुष्प्रवेशं महाराज नरैर्धर्मबहिष्कृतैः ॥ २८ ॥

महाराज! वह पावन तीर्थ महर्षियोंके समुदायसे भरा हुआ और ब्राह्मी श्रीसे सुशोभित था। धर्महीन मनुष्योंका वहाँ प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन था॥ २८॥

बलिहोमार्चितं दिव्यं सुसम्मृष्टानुलेपनम्।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ॥ २९ ॥

वह दिव्य आश्रम देव-पूजा और होमसे अर्चित था। उसे झाड़-बुहारकर अच्छी तरह लीपा गया था। दिव्य पुष्पोंके उपहार सब ओरसे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ २९॥

विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैराचितं शुभैः।
महद्भिस्तोयकलशैः कठिनैश्चोपशोभितम् ॥ ३० ॥

विशाल अग्निहोत्रगृहों और स्रुक्, स्रुवा आदि सुन्दर यज्ञ-पात्रोंसे व्याप्त वह पावन आश्रम जलसे भरे हुए बड़े-बड़े कलशों और बर्तनोंसे सुशोभित था॥ ३०॥

शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम्।
दिव्यमाश्रयणीयं तमाश्रमं श्रमनाशनम् ॥ ३१ ॥

वह सब प्राणियोंके शरण लेने योग्य था। वहाँ वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती थी। वह दिव्य आश्रम सबके रहने योग्य और थकावटको दूर करनेवाला था॥ ३१॥

श्रिया युतमनिर्देश्यं देवचर्योपशोभितम्।
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चारुकृष्णाजिनाम्बरैः ॥ ३२ ॥
सूर्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः।
महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः ॥ ३३ ॥
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः।
सोऽभ्यगच्छन्महातेजास्तानृषीन् प्रयतः शुचिः ॥ ३४ ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान् धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते दृष्ट्वा प्राप्तं युधिष्ठिरम् ॥ ३५ ॥
अभ्यगच्छन्त सुप्रीताः सर्व एव महर्षयः।
आशीर्वादान् प्रयुञ्जानाः स्वाध्यायनिरता भृशम् ॥ ३६ ॥
प्रीतास्ते तस्य सत्कारं विधिना पावकोपमाः।
उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ॥ ३७ ॥

वह शोभासम्पन्न आश्रम अवर्णनीय था। देवोचित कार्योंका अनुष्ठान उसकी शोभा बढ़ाता था। उस आश्रममें फल-मूल खाकर रहनेवाले, कृष्णमृगचर्मधारी, जितेन्द्रिय, अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी और तपःपूत अन्तःकरणवाले महर्षि, मोक्षपरायण, इन्द्रिय-संयमी संन्यासी तथा महान् सौभाग्यशाली ब्रह्मवादी ब्रह्मभूत महात्मा निवास करते थे। महातेजस्वी, बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर पवित्र और एकाग्र-चित्त होकर भाइयोंके साथ उन आश्रमवासी महर्षियोंके पास गये। युधिष्ठिरको आश्रममें आया देख वे दिव्यज्ञानसम्पन्न सब महर्षि अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे मिले और उन्हें अनेक प्रकारके आशीर्वाद देने लगे। सदा वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले उन अग्नितुल्य तेजस्वी महात्माओंने प्रसन्न होकर युधिष्ठिरका विधिपूर्वक सत्कार किया और उनके लिये पवित्र फल-मूल, पुष्प और जल आदि सामग्री प्रस्तुत की॥ ३२-३७॥

स तैः प्रीत्याथ सत्कारमुपनीतं महर्षिभिः।
प्रयतः प्रतिगृह्याथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥

महर्षियोंद्वारा प्रेमपूर्वक प्रस्तुत किये हुए उस आतिथ्य-सत्कारको शुद्ध हृदयसे ग्रहण करके धर्मराज युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए॥ ३८॥

तं शक्रसदनप्रख्यं दिव्यगन्धं मनोरमम्।
प्रीतः स्वर्गोपमं पुण्यं पाण्डवः सह कृष्णया ॥ ३९ ॥
विवेश शोभया युक्तं भ्रातृभिश्च सहानघ।
ब्राह्मणैर्वेदवेदाङ्गपारगैश्च सहस्रशः ॥ ४० ॥

उन्होंने भाइयों तथा द्रौपदीके साथ इन्द्रभवनके समान मनोरम और दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण उस स्वर्गसदृश शोभाशाली पुण्यमय नर-नारायण आश्रममें प्रवेश किया। अनघ! उनके साथ ही वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् सहस्रों ब्राह्मण भी प्रविष्ट हुए॥ ३९-४०॥

तत्रापश्यत धर्मात्मा देवदेवर्षिपूजितम्।
नरनारायणस्थानं भागीरथ्योपशोभितम् ॥ ४१ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिरने वहाँ भगवान् नर-नारायणका स्थान देखा, जो देवताओं और देवर्षियोंसे पूजित तथा भागीरथी* गङ्गासे सुशोभित था॥ ४१॥

---

* हिमालयपर गिरनेके बाद भागीरथी गङ्गा अनेक धाराओंमें विभक्त होकर बहने लगीं। उनकी सीधी धारा तो गङ्गोत्तरीसे देवप्रयाग होती हुई हरिद्वार आयी है और अन्य धाराएँ अन्य मार्गोंसे प्रवाहित होकर पुनः गङ्गामें ही मिल गयी हैं। उन्हींकी जो धारा कैलास और बदरिकाश्रमके मार्गसे बहती आयी है, उसका नाम अलकनन्दा है, वह देवप्रयागमें आकर सीधी धारामें मिल गयी है। इस प्रकार यद्यपि नर-नारायणका स्थान अलकनन्दाके ही तटपर है, तथापि वह मूलतः भागीरथीसे अभिन्न ही है; इसीलिये यहाँ मूलमें 'भागीरथी' नामसे ही उसका उल्लेख किया गया है।

पश्यन्तस्ते नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ।
मधुस्रवफलं दिव्यं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ ४२ ॥
तदुपेत्य महात्मानस्तेऽवसन् ब्राह्मणैः सह ।
मुदा युक्ता महात्मानो रेमिरे तत्र ते तदा ॥ ४३ ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव उस स्थानका दर्शन करते हुए वहाँ सब ओर सुखपूर्वक घूमने-फिरने लगे। ब्रह्मर्षियोंद्वारा सेवित जो अपने फलोंसे मधुकी धारा बहानेवाला दिव्य वृक्ष था, उसके निकट जाकर महात्मा पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ वहाँ निवास करने लगे। उस समय वे सब महात्मा बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ४२-४३ ॥

आलोकयन्तो मैनाकं नानाद्विजगणायुतम् ।
हिरण्यशिखरं चैव तच्च बिन्दुसरः शिवम् ॥ ४४ ॥
तस्मिन् विहरमाणाश्च पाण्डवाः सह कृष्णया ।
मनोज्ञे काननवरे सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वले ॥ ४५ ॥

वहाँ सुवर्णमय शिखरोंसे सुशोभित और अनेक प्रकारके पक्षियोंसे युक्त मैनाक पर्वत था। वहीं शीतल जलसे सुशोभित बिन्दुसर नामक तालाब था। वह सब देखते हुए पाण्डव द्रौपदीके साथ उस मनोहर उत्तम वनमें विचरने लगे, जो सभी ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ४४-४५ ॥

पादपैः पुष्पविकचैः फलभारावनामिभिः ।
शोभिते सर्वतो रम्यैः पुंस्कोकिलगणायुतैः ॥ ४६ ॥

उस वनमें सब ओर सुरम्य वृक्ष दिखायी देते थे, जो विकसित फूलोंसे युक्त थे। उनकी शाखाएँ फलोंके बोझसे झुकी हुई थीं। कोकिल पक्षियोंसे युक्त बहुसंख्यक वृक्षोंके कारण उस वनकी बड़ी शोभा होती थी ॥ ४६ ॥

स्निग्धपत्रैरविरलैः शीतच्छायैर्मनोरमैः ।
सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च ॥ ४७ ॥

उपर्युक्त वृक्षोंके पत्ते चिकने और सघन थे। उनकी छाया शीतल थी। वे मनको बड़े ही रमणीय लगते थे। उस वनमें कितने ही विचित्र सरोवर भी थे, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए थे ॥ ४७ ॥

कमलैः सोत्पलैश्चैव भ्राजमानानि सर्वशः ।
पश्यन्तश्चारुरूपाणि रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ४८ ॥

खिले हुए उत्पल और कमल सब ओरसे उनकी शोभाका विस्तार करते थे। उन मनोहर सरोवरोंका दर्शन करते हुए पाण्डव वहाँ सानन्द विचरने लगे ॥ ४८ ॥

पुण्यगन्धः सुखस्पर्शो ववौ तत्र समीरणः ।
ह्लादयन् पाण्डवान् सर्वान् द्रौपद्या सहितान् प्रभो ॥ ४९ ॥

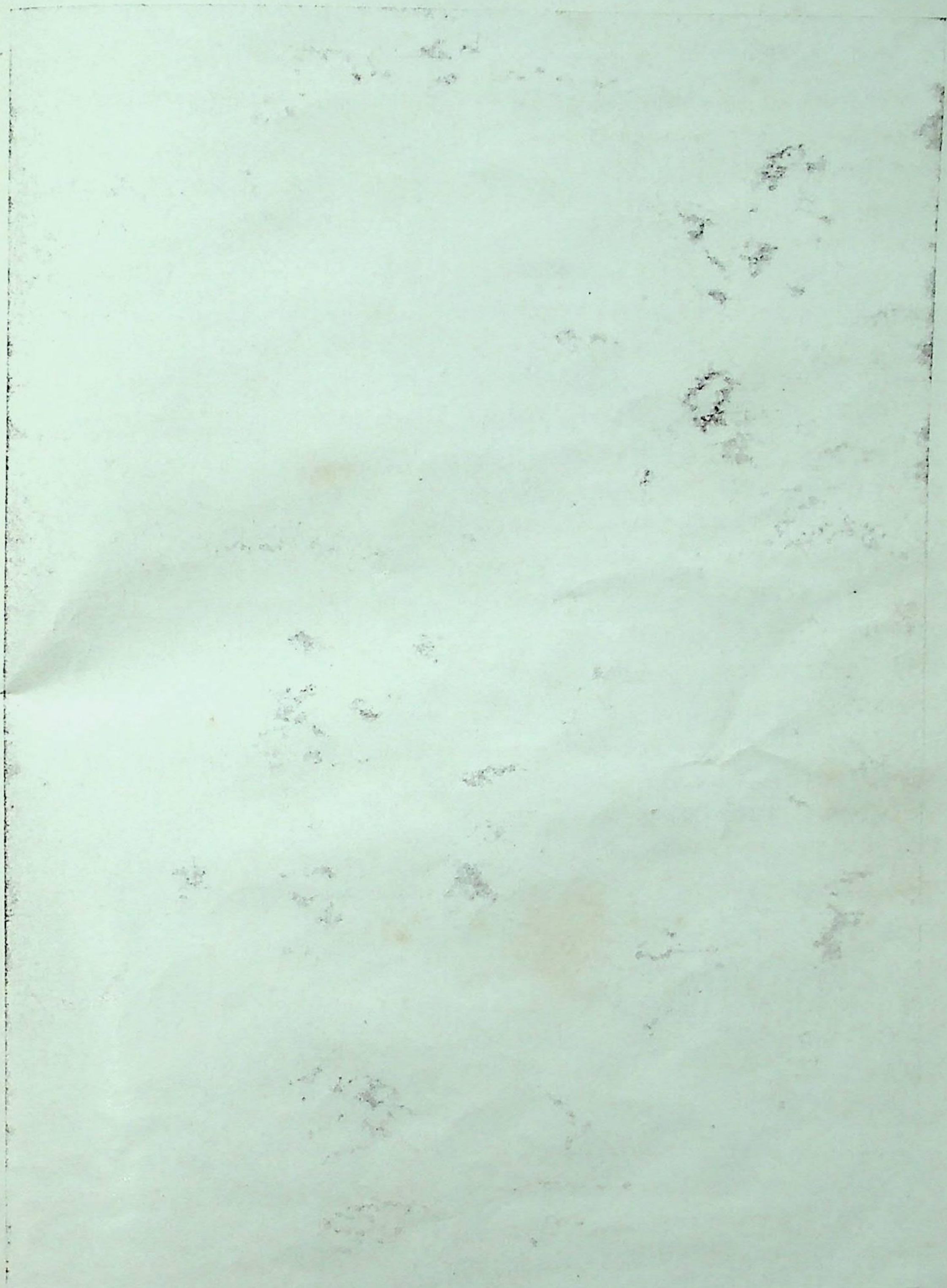
जनमेजय! गन्धमादन पर्वतपर पवित्र सुगन्धसे वासित सुखदायिनी वायु चल रही थी, जो द्रौपदीसहित पाण्डवोंको आनन्द-निमग्न किये देती थी ॥ ४९ ॥

भागीरथीं सुतीर्थां च शीतां विमलपङ्कजाम् ।
मणिप्रवालप्रस्तारां पादपैरुपशोभिताम् ॥ ५० ॥
दिव्यपुष्पसमाकीर्णां मनःप्रीतिविवर्धिनीम् ।
वीक्षमाणा महात्मानो विशालां बदरीमनु ॥ ५१ ॥
तस्मिन् देवर्षिचरिते देशे परमदुर्गमे ।
भागीरथीपुण्यजले तर्पयांचक्रिरे तदा ॥ ५२ ॥
देवानृषींश्च कौन्तेयाः परमं शौचमास्थिताः ।
तत्र ते तर्पयन्तश्च जपन्तश्च कुरूद्वहाः ॥ ५३ ॥
ब्राह्मणैः सहिता वीरा ह्यवसन् पुरुषर्षभाः ।
कृष्णायास्तत्र पश्यन्तः क्रीडितान्यमरप्रभाः ।
विचित्राणि नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ५४ ॥

पूर्वोक्त विशाल बदरीवृक्षके समीप उत्तम तीर्थोंसे सुशोभित शीतल जलवाली भागीरथी गङ्गा बह रही थी, उसमें सुन्दर कमल खिले हुए थे। उसके घाट मणियों और मूँगोंसे आबद्ध थे। अनेक प्रकारके वृक्ष उसके तटप्रान्तकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह दिव्य पुष्पोंसे आच्छादित हो हृदयके हर्षोल्लासकी वृद्धि कर रही थी। उसका दर्शन करके महात्मा पाण्डवोंने उस अत्यन्त दुर्गम देवर्षिसेवित प्रदेशमें भागीरथीके पवित्र जलमें स्थित हो परम पवित्रताके साथ देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया। इस प्रकार प्रतिदिन तर्पण और जप आदि करते हुए वे पुरुषश्रेष्ठ कुरुकुलशिरोमणि वीर पाण्डव वहाँ ब्राह्मणोंके साथ रहने लगे। देवताओंके समान कान्तिमान् नरश्रेष्ठ पाण्डव वहाँ द्रौपदीकी विचित्र क्रीड़ाएँ देखते हुए सुखपूर्वक रमण करने लगे ॥ ५०—५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४५ ॥





द्रौपदीका भीमसेनको सौगन्धिक पुष्प भेंट करके वैसे ही और पुष्प लानेका आग्रह

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका सौगन्धिक कमल लानेके लिये जाना और कदलीवनमें उनकी हनुमान्‌जीसे भेंट

वैशम्पायन उवाच

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः ।
षड्रात्रमवसन् वीरा धनंजयदिदृक्षवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे पुरुषसिंह वीर पाण्डव अर्जुनके दर्शनके लिये उत्सुक हो वहाँ परम पवित्रताके साथ छः रात रहे ॥ १ ॥

ततः पूर्वोत्तरे वायुः प्लवमानो यदृच्छया ।
सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुपाहरत् ॥ २ ॥

तदनन्तर ईशानकोणकी ओरसे अकस्मात् वायु चली । उसने सूर्यके समान तेजस्वी एक दिव्य सहस्रदल कमल लाकर वहाँ डाल दिया ॥ २ ॥

तदवैक्षत पाञ्चाली दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
अनिलेनाहृतं भूमौ पतितं जलजं शुचि ॥ ३ ॥
तच्छुभा शुभमासाद्य सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अतीव मुदिता राजन् भीमसेनमथाब्रवीत् ॥ ४ ॥

जनमेजय ! वह कमल बड़ा मनोरम था, उससे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी । शुभलक्षणा द्रौपदीने उसे देखा और वायुके द्वारा लाकर पृथ्वीपर डाले हुए उस पवित्र, शुभ एवं परम उत्तम सौगन्धिक कमलके पास पहुँचकर अत्यन्त प्रसन्न हो भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥ ३-४ ॥

पश्य दिव्यं सुरुचिरं भीम पुष्पमनुत्तमम् ।
गन्धसंस्थानसम्पन्नं मनसो मम नन्दनम् ॥ ५ ॥
इदं च धर्मराजाय प्रदास्यामि परंतप ।
हरेदं मम कामाय काम्यके पुनराश्रमे ॥ ६ ॥

'भीम ! देखो तो, यह दिव्य पुष्प कितना अच्छा और कैसा सुन्दर है ! मानो सुगन्ध ही इसका स्वरूप है । यह मेरे मनको आनन्द प्रदान कर रहा है । परंतप ! मैं इसे धर्मराजको भेंट करूँगी । तुम मेरी इच्छाकी पूर्तिके लिये काम्यकवनके आश्रममें इसे ले चलो ॥ ५-६ ॥

यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर ।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ ७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! यदि मेरे ऊपर तुम्हारा (विशेष) प्रेम है, तो मेरे लिये ऐसे ही बहुत-से फूल ले आओ । मैं इन्हें काम्यक वनमें अपने आश्रमपर ले चलना चाहती हूँ' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा शुभापाङ्गी भीमसेनमनिन्दिता ।
जगाम पुष्पमादाय धर्मराजाय तत् तदा ॥ ८ ॥

उस समय मनोहर नेत्रप्रान्तवाली अनिन्द्य सुन्दरी (सती-साध्वी) द्रौपदी भीमसेनसे ऐसा कहकर और वह पुष्प लेकर धर्मराज युधिष्ठिरको देनेके लिये चली गयी ॥ ८ ॥



अभिप्रायं तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः ।
प्रियायाः प्रियकामः स प्रायाद् भीमो महाबलः ॥ ९ ॥

पुरुषशिरोमणि महाबली भीम अपनी प्यारी रानीके मनोभावको जानकर उसका प्रिय करनेकी इच्छासे वहाँसे चल दिये ॥ ९ ॥

वातं तमेवाभिमुखो यतस्तत् पुष्पमागतम् ।
आजिहीर्षुर्जगामाशु स पुष्पाण्यपराण्यपि ॥ १० ॥

वे उसी तरहके और भी फूल ले आनेकी अभिलाषासे तुरंत पूर्वोक्त वायुकी ओर मुख करके उसी ईशान कोणमें आगे बढ़े, जिधरसे वह फूल आया था ॥ १० ॥

रुक्मपृष्ठं धनुर्गृह्य शरांश्चाशीविषोपमान् ।
मृगराडिव संक्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ११ ॥

उन्होंने हाथमें वह अपना धनुष ले लिया, जिसके पृष्ठभागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था । साथ ही विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाण भी तरकसमें रख लिये । फिर क्रोधमें भरे हुए सिंह तथा मदकी धारा बहानेवाले मतवाले गजराजकी भाँति निर्भय होकर आगे बढ़े ॥ ११ ॥

ददृशुः सर्वभूतानि महाबाणधनुर्धरम् ।
न ग्लानिर्न च वैक्लव्यं न भयं न च सम्भ्रमः ॥ १२ ॥
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ।

महान् धनुष-बाण लेकर जाते हुए भीमसेनको उस समय सब प्राणियोंने देखा। उन वायुपुत्र कुन्तीकुमारको कभी ग्लानि, विकलता, भय अथवा घबराहट नहीं होती थी ॥ १२½ ॥

द्रौपद्याः प्रियमन्विच्छन् स बाहुबलमाश्रितः ॥ १३ ॥
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद् बली ।
स तं द्रुमलतागुल्मच्छन्नं नीलशिलातलम् ॥ १४ ॥
गिरिं चचारारिहरः किन्नराचरितं शुभम् ।
नानावर्णधरैश्चित्रं धातुद्रुममृगाण्डजैः ॥ १५ ॥

द्रौपदीका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने बाहुबलका भरोसा करके भय और मोहसे रहित बलवान् भीमसेन सामनेके शैल-शिखरपर चढ़ गये। वह पर्वत वृक्षों, लताओं और झाड़ियोंसे आच्छादित था। उसकी शिलाएँ नीले रंगकी थीं। वहाँ किन्नरलोग भ्रमण करते थे। शत्रुसंहारी भीमसेन उस सुन्दर पर्वतपर विचरने लगे। बहुरंगे धातुओं, वृक्षों, मृगों और पक्षियोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १३–१५ ॥

सर्वभूषणसम्पूर्णं भूमेर्भुजमिवोच्छ्रितम् ।
सर्वत्र रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ॥ १६ ॥
सक्तचक्षुरभिप्रायान् हृदयेनानुचिन्तयन् ।
पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाचरितेषु च ॥ १७ ॥
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षुर्जगामामितविक्रमः ।

वह देखनेमें ऐसा जान पड़ता था, मानो पृथिवीके समस्त आभूषणोंसे विभूषित ऊँचे उठी हुई भुजा हो। गन्धमादनके शिखर सब ओरसे रमणीय थे। वहाँ कोयल पक्षियोंकी शब्दध्वनि हो रही थी और झुंड-के-झुंड भौंरे मड़रा रहे थे। भीमसेन उन्हींमें आँखें गड़ाये मन-ही-मन अभिलषित कार्यका चिन्तन करते जाते थे। अमितपराक्रमी भीमके कान, नेत्र और मन उन्हीं शिखरोंमें अटके रहे अर्थात् उनके कान वहाँके विचित्र शब्दोंको सुननेमें लग गये; आँखें वहाँके अद्भुत दृश्योंको निहारने लगीं और मन वहाँकी अलौकिक विशेषताके विषयमें सोचने लगा और वे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर अग्रसर होते चले गये ॥ १६-१७½ ॥

आजिघ्रन् स महातेजाः सर्वर्तुकुसुमोद्भवम् ॥ १८ ॥
गन्धमुद्धतमुद्दामो वने मत्त इव द्विपः ।
वीज्यमानः सुपुण्येन नानाकुसुमगन्धिना ॥ १९ ॥
पितुः संस्पर्शशीतेन गन्धमादनवायुना ।
ह्रियमाणश्रमः पित्रा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ॥ २० ॥

वे महातेजस्वी कुन्तीकुमार सभी ऋतुओंके फूलोंके उत्कट सुगन्धका आस्वादन करते हुए वनमें उद्दामगतिसे विचरनेवाले मदोन्मत्त गजराजकी भाँति चले जा रहे थे। नाना प्रकारके कुसुमोंसे सुवासित गन्धमादनकी परम पवित्र वायु उन्हें पंखा झल रही थी। जैसे पिताको पुत्रका स्पर्श शीतल एवं सुखद जान पड़ता है, वैसा ही सुख भीमसेनको उस पर्वतीय वायुके स्पर्शसे मिल रहा था। उनके पिता पवनदेव उनकी सारी थकावट हर लेते थे। उस समय हर्षातिरेकसे भीमके शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था ॥ १८–२० ॥

स यक्षगन्धर्वसुरब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।
विलोकयामास तदा पुष्पहेतोररिंदमः ॥ २१ ॥

शत्रुदमन भीमसेनने उस समय (पूर्वोक्त पुष्पकी प्राप्तिके लिये एक बार) यक्ष, गन्धर्व, देवता और ब्रह्मर्षियोंसे सेवित उस विशाल पर्वतपर (सब ओर) दृष्टिपात किया ॥ २१ ॥

विषमच्छदैरचितैरनुलिप्त इवाङ्गुलैः ।
वलिभिर्धातुविच्छेदैः काञ्चनाञ्जनराजतैः ।
सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः ॥ २२ ॥

उस समय अनेक धातुओंसे रँगे हुए सप्तपर्ण (छितवन) के पत्तोंद्वारा उनके ललाटमें विभिन्न धातुओंके काले, पीले और सफेद रंग लग गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था, मानो अंगुलियोंद्वारा त्रिपुण्ड्र चन्दन लगाया गया हो। उस पर्वत-शिखरके उभय पार्श्वमें लगे हुए मेघोंसे उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो वह पुनः पंखधारी होकर नृत्य कर रहा है ॥ २२ ॥

मुक्ताहारैरिव चितं च्युतैः प्रस्रवणोदकैः ।
अभिरामदरीकुञ्जनिर्झरोदककन्दरम् ॥ २३ ॥

निरन्तर झरनेवाले झरनोंके जल उस पहाड़के कण्ठदेशमें अवलम्बित मोतियोंके हार-से प्रतीत हो रहे थे। उस पर्वतकी गुफा, कुञ्ज, निर्झर, सलिल और कन्दराएँ सभी मनोहर थे ॥ २३ ॥

अप्सरोनूपुररवैः प्रनृत्तवरबर्हिणम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैर्घृष्टोपलशिलातलम् ॥ २४ ॥

वहाँ अप्सराओंके नूपुरोंकी मधुर ध्वनिके साथ सुन्दर मोर नाच रहे थे। उस पर्वतके एक-एक रत्न और शिलाखण्डपर दिग्गजोंके दाँतोंकी रगड़का चिह्न अङ्कित था ॥ २४ ॥

स्रस्तांशुकमिवाक्षोभ्यैर्निम्नगानिःसृतैर्जलैः ।
सशष्पकवलैः स्वस्थैरदूरपरिवर्तिभिः ॥ २५ ॥
भयानभिज्ञैर्हरिणैः कौतूहलनिरीक्षितः ।
चालयन्नुरुवेगेन लताजालान्यनेकशः ॥ २६ ॥
आक्रीडमानो हृष्टात्मा श्रीमान् वायुसुतो ययौ ।
प्रियामनोरथं कर्तुमुद्यतश्चारुलोचनः ॥ २७ ॥

निम्नगामिनी नदियोंसे निकला हुआ क्षोभरहित जल नीचेकी ओर इस प्रकार बह रहा था, मानो उस पर्वतका वस्त्र

खिसककर गिरा जाता हो। भयसे अपरिचित और स्वस्थ हरिण मुँहमें हरे घासका कौर लिये पास ही खड़े होकर भीमसेनकी ओर कौतूहलभरी दृष्टिसे देख रहे थे। उस समय मनोहर नेत्रोंवाले शोभाशाली वायुपुत्र भीम अपने महान् वेगसे अनेक लतासमूहोंको विचलित करते हुए हर्षपूर्ण हृदयसे खेल-सा करते जा रहे थे। वे अपनी प्रिया द्रौपदीका प्रिय मनोरथ पूर्ण करनेको सर्वथा उद्यत थे॥ २५-२७॥

प्रांशुः कनकवर्णाभः सिंहसंहननो युवा।
मत्तवारणविक्रान्तो मत्तवारणवेगवान्॥ २८॥

उनकी कद बहुत ऊँची थी। शरीरका रङ्ग स्वर्ण-सा दमक रहा था। उनके सम्पूर्ण अङ्ग सिंहके समान सुदृढ़ थे। उन्होंने युवावस्थामें पदार्पण किया था। वे मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलते थे। उनका वेग मदोन्मत्त गजराजके समान था॥ २८॥

मत्तवारणताम्राक्षो मत्तवारणवारणः।
प्रियपार्श्वोपविष्टाभिर्व्यावृत्ताभिर्विचेष्टितैः॥ २९॥
यक्षगन्धर्वयोषाभिरदृश्याभिर्निरीक्षितः।
नवावतारो रूपस्य विक्रीडन्निव पाण्डवः॥ ३०॥
चचार रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु।
संस्मरन् विविधान् क्लेशान् दुर्योधनकृतान् बहून्॥३१॥
द्रौपद्या वनवासिन्याः प्रियं कर्तुं समुद्यतः।
सोऽचिन्तयद् गते स्वर्गमर्जुने मयि चागते॥ ३२॥
पुष्पहेतोः कथं त्वार्यः करिष्यति युधिष्ठिरः।
स्नेहान्नरवरो नूनमविश्वासाद् बलस्य च॥ ३३॥
नकुलं सहदेवं च न मोक्ष्यति युधिष्ठिरः।
कथं तु कुसुमावाप्तिः स्याच्छीघ्रमिति चिन्तयन्॥३४॥
प्रतस्थे नरशार्दूलः पक्षिराडिव वेगितः।
सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु॥ ३५॥

मतवाले हाथीके समान ही उनकी लाल-लाल आँखें थीं। वे समरभूमिमें मदोन्मत्त हाथियोंको भी पीछे हटानेमें समर्थ थे। अपने प्रियतमके पार्श्वभागमें बैठी हुई यक्ष और गन्धर्वोंकी युवतियाँ सब प्रकारकी चेष्टाओंसे निवृत्त हो स्वयं अलक्षित रहकर भीमसेनकी ओर देख रही थीं। वे उन्हें सौन्दर्यके नूतन अवतार-से प्रतीत होते थे। इस प्रकार पाण्डुनन्दन भीम गन्धमादनके रमणीय शिखरोंपर खेल-सा करते हुए विचरने लगे। वे दुर्योधनद्वारा दिये गये नाना प्रकारके असंख्य क्लेशोंका स्मरण करते हुए वनवासिनी द्रौपदीका प्रिय करनेके लिये उद्यत हुए थे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—'अर्जुन स्वर्गलोकमें चले गये हैं और मैं फूल लेनेके लिये इधर चला आया हूँ। ऐसी दशामें आर्य युधिष्ठिर कोई कार्य कैसे करेंगे? नरश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर नकुल और सहदेवपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं। उन दोनोंके बलपर उन्हें विश्वास नहीं है। अतः वे निश्चय ही उन्हें नहीं छोड़ेंगे, अर्थात् कहीं नहीं भेजेंगे। अब कैसे मुझे शीघ्र वह फूल प्राप्त हो जाय—यह चिन्ता करते हुए नरश्रेष्ठ भीम पक्षिराज गरुड़के समान वेगसे आगे बढ़े। उनके मन और नेत्र फूलोंसे भरे हुए पर्वतीय शिखरोंपर लगे हुए थे॥ २९-३५॥

द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ।
कम्पयन् मेदिनीं पद्भ्यां निर्घात इव पर्वसु॥ ३६॥
त्रासयन् गजयूथानि वातरंहा वृकोदरः।
सिंहव्याघ्रमृगांश्चैव मर्दयानो महाबलः॥ ३७॥
उन्मूलयन् महावृक्षान् पोथयंस्तरसा बली।
लतावल्लीश्च वेगेन विकर्षन् पाण्डुनन्दनः।
उपर्युपरि शैलाग्रमारुरुक्षुरिव द्विपः॥ ३८॥

द्रौपदीका अनुरोधपूर्ण वचन ही उनका पाथेय (मार्गका कलेवा) था, वे उसीको लेकर शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे। वायुके समान वेगशाली वृकोदर पर्वकालमें होनेवाले उत्पात (भूकम्प और बिजली गिरने) के समान अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कम्पित और हाथियोंके समूहोंको आतङ्कित करते हुए चलने लगे। वे महाबली कुन्तीकुमार सिंहों, व्याघ्रों और मृगोंको कुचलते तथा अपने वेगसे बड़े-बड़े वृक्षोंको जड़से उखाड़ते और विनाश करते हुए आगे बढ़ने लगे। पाण्डुनन्दन भीम अपने वेगसे लताओं और बल्लरियोंको खींचे लिये जाते थे। वे ऊपर-ऊपर जाते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो कोई गजराज पर्वतकी सबसे ऊँची चोटीपर चढ़ना चाहता हो॥ ३६-३८॥

विनर्दमानोऽतिभृशं सविद्युदिव तोयदः।
तेन शब्देन महता भीमस्य प्रतिबोधिताः॥ ३९॥
गुहां संत्यज्य व्याघ्रा निलिल्युर्वनवासिनः।
समुत्पेतुः खगास्त्रस्ता मृगयूथानि दुद्रुवुः॥ ४०॥

वे बिजलियोंसे सुशोभित मेघकी भाँति बड़े जोरसे गर्जना करने लगे। भीमसेनकी उस भयंकर गर्जनासे जगे हुए व्याघ्र अपनी गुफा छोड़कर भाग गये, वनवासी प्राणी वनमें ही छिप गये, डरे हुए पक्षी आकाशमें उड़ गये और मृगोंके झुंड दूरतक भागते चले गये॥ ३९-४०॥

ऋक्षाश्चोत्ससृजुर्वृक्षांस्तत्यजुर्हरयो गुहाम्।
व्यजृम्भन्त महासिंहा महिषाश्चावलोकयन्॥ ४१॥

रीछोंने वृक्षोंका आश्रय छोड़ दिया, सिंहोंने गुफाएँ त्याग दीं, बड़े-बड़े सिंह जँभाई लेने लगे और जंगली भैंसे दूरसे ही उनकी ओर देखने लगे॥ ४१॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः।
तद् वनं स परित्यज्य जग्मुरन्यन्महावनम्॥ ४२॥

भीमसेनकी उस गर्जनासे डरे हुए हाथी उस वनको छोड़कर हथिनियोंसे घिरे हुए दूसरे विशाल वनमें चले गये ॥ ४२ ॥

वराहमृगसंघाश्च महिषाश्च वनेचराः ।
व्याघ्रगोमायुसंघाश्च प्रणेदुर्गवयैः सह ॥ ४३ ॥
रथाङ्गसाह्वदात्यूहा हंसकारण्डवप्लवाः ।
शुकाः पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥४४॥

सूअर, मृगसमूह, जंगली भैंसे, बाघों तथा गीदड़ोंके समुदाय और गवय—ये सब-के-सब एक साथ चीत्कार करने लगे । चक्रवाक, चातक, हंस, कारण्डव, प्लव, शुक, कोकिल और क्रौञ्च आदि पक्षियोंने अचेत होकर भिन्न-भिन्न दिशाओंकी शरण ली ॥ ४३-४४ ॥

तथान्ये दर्पिता नागाः करेणुशरपीडिताः ।
सिंहव्याघ्राश्च संक्रुद्धा भीमसेनमथाद्रवन् ॥ ४५ ॥
शकृन्मूत्रं च मुञ्चाना भयविभ्रान्तमानसाः ।
व्यादितास्या महारौद्रा व्यनदन् भीषणान् रवान् ॥ ४६ ॥

तथा हथिनियोंके कटाक्ष-बाणसे पीड़ित हुए दूसरे बलोन्मत्त गजराज, सिंह और व्याघ्र क्रोधमें भरकर भीमसेनपर टूट पड़े । वे मल-मूत्र छोड़ते हुए मन-ही-मन भयसे घबरा रहे थे और मुँह बाये हुए अत्यन्त भयानक रूपसे भैरव-गर्जना कर रहे थे ॥ ४५-४६ ॥

ततो वायुसुतः क्रोधात् स्वबाहुबलमाश्रितः ।
गजेनान्यान् गजाञ्छ्रीमान् सिंहं सिंहेन वा विभुः ॥४७॥
तलप्रहारैरन्यांश्च व्यहनत् पाण्डवो बली ।
ते वध्यमाना भीमेन सिंहव्याघ्रतरक्षवः ॥ ४८ ॥
भयाद् विससृजुर्भीमं शकृन्मूत्रं च सुस्रुवुः ।
प्रविवेश ततः क्षिप्रं तानपास्य महाबलः ॥ ४९ ॥
वनं पाण्डुसुतः श्रीमाञ्छब्देनापूरयन् दिशः ।

तब अपने बाहु-बलका भरोसा रखनेवाले श्रीमान् वायुपुत्र भीमने कुपित हो एक हाथीसे दूसरे हाथियोंको और एक सिंहसे दूसरे सिंहोंको मार भगाया तथा उन महाबली पाण्डुकुमारने कितनोंको तमाचोंके प्रहारसे मार डाला । भीमसेनकी मार खाकर सिंह, व्याघ्र और चीते (बघेरे) भयसे उन्हें छोड़कर भाग चले तथा घबराकर मल-मूत्र करने लगे । तदनन्तर महान् शक्तिशाली पाण्डुनन्दन भीमसेनने शीघ्र उन सबको छोड़कर अपनी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए एक वनमें प्रवेश किया ॥ ४७—४९½ ॥

अथापश्यन्महाबाहुर्गन्धमादनसानुषु ॥ ५० ॥
सुरम्यं कदलीषण्डं बहुयोजनविस्तृतम् ।
तमभ्यगच्छद् वेगेन क्षोभयिष्यन् महाबलः ॥ ५१ ॥
महागज इवास्रावी प्रभञ्जन् विविधान् द्रुमान् ।
उत्पाटय कदलीस्तम्भान् बहुतालसमुच्छ्रयान् ॥ ५२ ॥
चिक्षेप तरसा भीमः समन्ताद् बलिनां वरः ।
विनदन् सुमहातेजा नृसिंह इव दर्पितः ॥ ५३ ॥
ततः सत्त्वान्युपाक्रामद् बहूनि सुमहान्ति च ।
रुरुवानरसिंहांश्च महिषांश्च जलाशयान् ॥ ५४ ॥
तेन शब्देन चैवाथ भीमसेनरवेण च ।
वनान्तरगताश्चापि वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ५५ ॥

इसी समय गन्धमादनके शिखरोंपर महाबाहु भीमने एक परम सुन्दर केलेका बगीचा देखा, जो कई योजन दूर-तक फैला हुआ था । मदकी धारा बहानेवाले महाबली गजराजकी भाँति उस कदलीवनमें हल-चल मचाते और भाँति-भाँतिके वृक्षोंको तोड़ते हुए वे बड़े वेगसे वहाँ गये । वहाँके केलेके वृक्ष खम्भोंके समान मोटे थे । उनकी ऊँचाई कई ताड़ोंके बराबर थी । बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमने बड़े वेगसे उन्हें उखाड़-उखाड़कर सब ओर फेंकना आरम्भ किया । वे महान् तेजस्वी तो थे ही, अपने बल और पराक्रमपर गर्व भी रखते थे; अतः भगवान् नृसिंहकी भाँति विकट गर्जना करने लगे । तत्पश्चात् और भी बहुत से बड़े-बड़े जन्तुओंपर आक्रमण किया । रुरु, वानर, सिंह, भैंसे तथा जल-जन्तुओं-पर भी धावा किया । उन पशु-पक्षियोंके एवं भीमसेनके उस भयंकर शब्दसे दूसरे वनमें रहनेवाले मृग और पक्षी भी थर्रा उठे ॥ ५०—५५ ॥

तं शब्दं सहसा श्रुत्वा मृगपक्षिसमीरितम् ।
जलार्द्रपक्षा विहगाः समुत्पेतुः सहस्रशः ॥ ५६ ॥

मृगों और पक्षियोंके उस भयसूचक शब्दको सहसा सुनकर सहस्रों पक्षी आकाशमें उड़ने लगे । उन सबकी पाँखें जलसे भीगी हुई थीं ॥ ५६ ॥

तानौदकान् पक्षिगणान् निरीक्ष्य भरतर्षभः ।
तानेवानुसरन् रम्यं ददर्श सुमहत् सरः ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ भीमने यह देखकर कि ये तो जलके पक्षी हैं, उन्हींके पीछे चलने लगे और आगे जानेपर एक अत्यन्त रमणीय विशाल सरोवर देखा ॥ ५७ ॥

काञ्चनैः कदलीषण्डैर्मन्दमारुतकम्पितैः ।
वीज्यमानमिवाक्षोभ्यं तीरात् तीरविसर्पिभिः ॥ ५८ ॥

उस सरोवरके एक तीरसे लेकर दूसरे तीरतक फैले हुए सुवर्णमय केलेके वृक्ष मन्द वायुसे विकम्पित होकर मानो उस अगाध जलाशयको पंखा झल रहे थे ॥ ५८ ॥

तत् सरोऽथावतीर्याशु प्रभूतनलिनोत्पलम् ।
महागज इवोद्दामश्चिक्रीड बलवद् बली ॥ ५९ ॥

उसमें प्रचुर कमल और उत्पल खिले हुए थे । बन्धन-रहित महान् गजके समान बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन सहसा उस सरोवरमें उतरकर जल-क्रीड़ा करने लगे ॥ ५९ ॥

विक्रीड्य तस्मिन् सुचिरमुत्ततारामितद्युतिः ।
ततोऽध्यगन्तुं वेगेन तद् वनं बहुपादपम् ॥ ६० ॥

दीर्घ कालतक उस सरोवरमें क्रीडा करनेके पश्चात् अमित तेजस्वी भीम जलसे बाहर निकले और असंख्य वृक्षोंसे सुशोभित उस कदलीवनमें वेगपूर्वक जानेको उद्यत हुए ॥ ६० ॥

दध्मौ च शङ्खं स्वनवत् सर्वप्राणेन पाण्डवः ।
आस्फोटयच्च बलवान् भीमः संनादयन् दिशः ॥ ६१ ॥
तस्य शङ्खस्य शब्देन भीमसेनरवेण च ।
बाहुशब्देन चोग्रेण नदन्तीव गिरेर्गुहाः ॥ ६२ ॥

उस समय बलवान् पाण्डुनन्दन भीमने अपनी सारी शक्ति लगाकर बड़े जोरसे शङ्ख बजाया और सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए ताल ठोंका। उस शङ्खकी ध्वनि, भीमसेनकी गर्जना और उनके ताल ठोंकनेके भयंकर शब्दसे मानो पर्वतोंकी कन्दराएँ गूँज उठीं ॥ ६१-६२ ॥

तं वज्रनिष्पेषसममास्फोटितमहारवम् ।
श्रुत्वा शैलगुहासुप्तैः सिंहैर्मुक्तो महास्वनः ॥ ६३ ॥

पर्वतोंपर वज्रपात होनेके समान उस ताल ठोंकनेके भयानक शब्दको सुनकर गुफाओंमें सोये हुए सिंहोंने भी जोर-जोरसे दहाड़ना आरम्भ किया ॥ ६३ ॥

सिंहनादभयत्रस्तैः कुञ्जरैरपि भारत ।
मुक्तो विरावः सुमहान् पर्वतो येन पूरितः ॥ ६४ ॥

भारत ! उन सिंहोंका दहाड़ना सुनकर भयसे डरे हुए हाथी भी चीत्कार करने लगे, जिससे वह विशाल पर्वत शब्दायमान हो उठा ॥ ६४ ॥

तं तु नादं ततः श्रुत्वा सुप्तं वारणपुङ्गवैः ।
भ्रातरं भीमसेनं तु विज्ञाय हनुमान् कपिः ॥ ६५ ॥

बड़े-बड़े गजराजोंका वह चीत्कार सुनकर कपिप्रवर हनुमान्जी, जो उस समय कदलीवनमें ही रहते थे, यह समझ गये कि मेरे भाई भीमसेन इधर आये हैं ॥ ६५ ॥

दिवंगमं रुरोधाथ मार्गं भीमस्य कारणात् ।
अनेन हि पथा मा वै गच्छेदिति विचार्य सः ॥ ६६ ॥
आस्त एकायने मार्गे कदलीषण्डमण्डिते ।
भ्रातुर्भीमस्य रक्षार्थं तं मार्गमवरुध्य वै ॥ ६७ ॥

तब उन्होंने भीमसेनके हितके लिये स्वर्गकी ओर जानेवाला मार्ग रोक दिया। हनुमान्जीने यह सोचकर कि भीमसेन इसी मार्गसे स्वर्गलोककी ओर न चले जायँ, एक मनुष्यके आने-जाने योग्य उस संकुचित मार्गपर बैठ गये। वह मार्ग केलेके वृक्षोंसे घिरा होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था। उन्होंने अपने भाई भीमकी रक्षाके लिये ही यह राह रोकी थी ॥ ६६-६७ ॥

मात्र प्राप्स्यति शापं वा धर्षणां वेति पाण्डवः ।
कदलीषण्डमध्यस्थो ह्येवं संचिन्त्य वानरः ॥ ६८ ॥
प्राजृम्भत महाकायो हनूमान् नाम वानरः ।
कदलीषण्डमध्यस्थो निद्रावशगतस्तदा ॥ ६९ ॥
जृम्भमाणः सुविपुलं शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ।
आस्फोटयच्च लाङ्गूलमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ७० ॥

कदलीवनमें आये हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनको इस मार्गपर आनेके कारण किसीसे शाप या तिरस्कार न प्राप्त हो जाय, यह विचारकर ही कपिप्रवर हनुमान्जी उस वनके भीतर स्वर्गका रास्ता रोककर सो गये। उस समय उन्होंने अपने शरीरको बड़ा कर लिया था। निद्राके वशीभूत होकर जब वे जँभाई लेते और इन्द्रकी ध्वजाके समान ऊँचे तथा विशाल लंगूरको फटकारते, उस समय वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आवाज होती थी ॥ ६८–७० ॥

तस्य लाङ्गूलनिनदं पर्वतः सुगुहामुखैः ।
उद्गारमिव गौर्नर्दन्नुत्ससर्ज समन्ततः ॥ ७१ ॥

वह पर्वत उनकी पूँछकी फटकारके उस महान् शब्दको सुन्दर कन्दरारूपी मुखोंद्वारा सब ओर प्रतिध्वनिके रूपमें दुहराता था, मानो कोई साँड़ जोर-जोरसे गर्जना कर रहा हो ॥ ७१ ॥

लाङ्गूलास्फोटशब्दाच्च चलितः स महागिरिः ।
विघूर्णमानशिखरः समन्तात् पर्यशीर्यत ॥ ७२ ॥
स लाङ्गूलरवस्तस्य मत्तवारणनिःस्वनम् ।
अन्तर्धाय विचित्रेषु चचार गिरिसानुषु ॥ ७३ ॥

पूँछके फटकारनेकी आवाजसे वह महान् पर्वत हिल उठा। उसके शिखर झूमते-से जान पड़े और वह सब ओरसे टूट-फूटकर बिखरने लगा। वह शब्द मतवाले हाथीके चिग्घाड़नेकी आवाजको भी दबाकर विचित्र पर्वत-शिखरोंपर चारों ओर फैल गया ॥ ७२-७३ ॥

स भीमसेनस्तच्छ्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
शब्दप्रभवमन्विच्छंश्चचार कदलीवनम् ॥ ७४ ॥

उसे सुनकर भीमसेनके रोंगटे खड़े हो गये और उसके कारणको ढूँढ़नेके लिये वे उस केलेके बगीचेमें घूमने लगे ॥

कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले ।
ददर्श सुमहाबाहुर्वानराधिपतिं तदा ॥ ७५ ॥

उस समय विशाल भुजाओंवाले भीमसेनने कदली-वनके भीतर ही एक मोटे शिलाखण्डपर लेटे हुए वानरराज हनुमान्जीको देखा ॥ ७५ ॥

विद्युत्सम्पातदुष्प्रेक्षं विद्युत्सम्पातपिङ्गलम् ।
विद्युत्सम्पातनिनदं विद्युत्सम्पातचञ्चलम् ॥ ७६ ॥

विद्युत्पातके समान चकाचौंध पैदा करनेके कारण उनकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो रहा था। उनकी अङ्गकान्ति गिरती हुई बिजलीके समान पिङ्गल-वर्णकी थी। उनका गर्जन-तर्जन वज्रपातकी गड़-गड़ाहटके समान था। वे विद्युत्पात-के सदृश चञ्चल प्रतीत होते थे ॥ ७६ ॥

बाहुस्वस्तिकविन्यस्तपीनह्रस्वशिरोधरम् ।
स्कन्धभूयिष्ठकायत्वात् तनुमध्यकटीतटम् ॥ ७७ ॥
किंचिच्चाभुग्नशीर्षेण दीर्घरोमाञ्चितेन च ।
लाङ्गूलेनोर्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजितम् ॥ ७८ ॥

उनके कंधे चौड़े और पुष्ट थे। अतः उन्होंने बाँहके मूल-भागको तकिया बनाकर उसीपर अपनी मोटी और छोटी ग्रीवाको रख छोड़ा था और उनके शरीरका मध्यभाग एवं कटिप्रदेश पतला था। उनकी लंबी पूँछका अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ था। उसकी रोमावलि घनी थी तथा वह पूँछ ऊपरकी ओर उठकर फहराती हुई ध्वजा-सी सुशोभित होती थी॥७७-७८॥

ह्रस्वौष्ठं ताम्रजिह्वास्यं रक्तकर्णं चलद्भ्रुवम् ।
विवृत्तदंष्ट्रदशनं शुक्लतीक्ष्णाग्रशोभितम् ॥ ७९ ॥
अपश्यद् वदनं तस्य रश्मिवन्तमिवोडुपम् ।
वदनाभ्यन्तरगतैः शुक्लैर्दन्तैरलंकृतम् ॥ ८० ॥

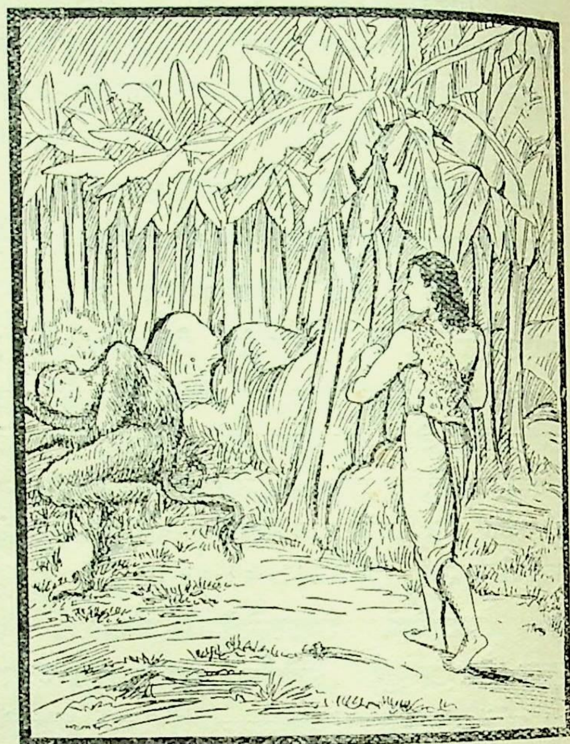
उनके ओठ छोटे थे। जीभ और मुखका रंग ताँबेके समान था। कान भी लाल रंगके ही थे और भौंहें चञ्चल हो रही थीं। उनके खुले हुए मुखमें श्वेत चमकते हुए दाँत और दाढ़ें अपने सफेद और तीखे अग्रभागके द्वारा अत्यन्त शोभा पा रही थीं। इन सबके कारण उनका मुख किरणोंसे प्रकाशित चन्द्रमाके समान दिखायी देता था। मुखके भीतर-की श्वेत दन्तावलि उसकी शोभा बढ़ानेके लिये आभूषणका काम दे रही थी ॥ ७९-८० ॥

केसरोत्करसम्मिश्रमशोकानामिवोत्करम् ।
हिरण्मयीनां मध्यस्थं कदलीनां महाद्युतिम् ॥ ८१ ॥

सुवर्णमय कदली-वृक्षोंके बीच विराजमान महातेजस्वी हनुमान्‌जी ऐसे जान पड़ते थे, मानो केसरोंकी क्यारीमें अशोकपुष्पोंका गुच्छ रख दिया गया हो ॥ ८१ ॥

दीप्यमानेन वपुषा स्वर्चिष्मन्तमिवानलम् ।
निरीक्षन्तममित्रघ्नं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ॥ ८२ ॥

वे शत्रुसूदन वानरवीर अपने कान्तिमान् शरीरसे प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ते थे और अपनी मधुके समान पीली आँखोंसे इधर-उधर देख रहे थे ॥ ८२ ॥



तं वानरवरं धीमानतिकायं महाबलम् ।
स्वर्गपन्थानमावृत्य हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ ८३ ॥
दृष्ट्वा चैनं महाबाहुरेकं तस्मिन् महावने ।
अथोपसृत्य तरसा विभीर्भीमस्ततो बली ॥ ८४ ॥
सिंहनादं चकारोग्रं वज्राशनिसमं बली ।
तेन शब्देन भीमस्य वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ८५ ॥

परम बुद्धिमान् बलवान् महाबाहु भीमसेन उस महान् वनमें विशालकाय महाबली वानरराज हनुमान्‌जीको अकेले ही स्वर्ग-का मार्ग रोककर हिमालयके समान स्थित देख निर्भय होकर वेगपूर्वक उनके पास गये और वज्र-गर्जनाके समान भयंकर सिंहनाद करने लगे। भीमसेनके उस सिंहनादसे वहाँके मृग और पक्षी थर्रा उठे ॥ ८३-८५ ॥

हनूमांश्च महासत्त्व ईषदुन्मील्य लोचने ।
दृष्ट्वा तमथ सावज्ञं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ।
स्मितेन चैनमासाद्य हनूमानिदमब्रवीत् ॥ ८६ ॥

तब महान् धैर्यशाली हनुमान्‌जीने आँखें कुछ खोलकर अपने मधुपिंगल नेत्रोंद्वारा अवहेलनापूर्वक उनकी ओर देखा और उन्हें निकट पाकर उनसे मुसकराते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ८६ ॥

हनूमानुवाच

किमर्थं सरुजस्तेऽहं सुखसुप्तः प्रबोधितः ।
ननु नाम त्वया कार्या दया भूतेषु जानता ॥ ८७ ॥

हनुमान्‌जी बोले—भाई ! मैं तो रोगी हूँ और यहाँ सुखसे सो रहा था । तुमने क्यों मुझे जगा दिया ? तुम समझदार हो । तुम्हें सब प्राणियोंपर दया करनी चाहिये ॥ ८७ ॥

वयं धर्मं न जानीमस्तिर्यग्योनिमुपाश्रिताः ।
नरास्तु बुद्धिसम्पन्ना दयां कुर्वन्ति जन्तुषु ॥ ८८ ॥

हमलोग तो पशु-योनिके प्राणी हैं, अतः धर्मकी बात नहीं जानते; परंतु मनुष्य बुद्धिमान् होते हैं, अतः वे सब जीवोंपर दया करते हैं ॥ ८८ ॥

क्रूरेषु कर्मसु कथं देहवाक्चित्तदूषिषु ।
धर्मघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ८९ ॥

किंतु पता नहीं, तुम्हारे-जैसे बुद्धिमान्‌लोग धर्मका नाश करनेवाले तथा मन, वाणी और शरीरको भी दूषित कर देनेवाले क्रूर कर्मोंमें कैसे प्रवृत्त होते हैं ? ॥ ८९ ॥

न त्वं धर्मं विजानासि वृद्धा नोपासितास्त्वया।
अल्पबुद्धितया बाल्यादुत्सादयसि यन्मृगान् ॥ ९० ॥

तुम्हें धर्मका बिल्कुल ज्ञान नहीं है । मालूम होता है, तुमने विद्वानोंकी सेवा नहीं की है । मन्दबुद्धि होनेके कारण अज्ञानवश तुम यहाँके मृगोंको कष्ट पहुँचाते हो ॥ ९० ॥

ब्रूहि कस्त्वं किमर्थं वा किमिदं वनमागतः ।
वर्जितं मानुषैर्भावैस्तथैव पुरुषैरपि ॥ ९१ ॥

बोलो तो, तुम कौन हो ? इस वनमें तुम क्यों और किस लिये आये हो ? यहाँ तो न कोई मानवीय भाव हैं और न मनुष्योंका ही प्रवेश है ॥ ९१ ॥

क च त्वयाद्य गन्तव्यं प्रब्रूहि पुरुषर्षभ ।
अतः परमगम्योऽयं पर्वतः सुदुरारुहः ॥ ९२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! ठीक-ठीक बतलाओ, तुम्हें आज इधर कहाँतक जाना है ? यहाँसे आगे तो यह पर्वत अगम्य है । इसपर चढ़ना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ ९२ ॥

विना सिद्धगतिं वीर गतिरत्र न विद्यते।
देवलोकस्य मार्गोऽयमगम्यो मानुषैः सदा ॥ ९३ ॥

वीर ! सिद्ध पुरुषोंके सिवा और किसीकी यहाँ गति नहीं है । यह देवलोकका मार्ग है, जो मनुष्योंके लिये सदा अगम्य है ॥ ९३ ॥

कारुण्यात् त्वामहं वीर वारयामि निबोध मे ।
नातः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो ॥ ९४ ॥

वीरवर ! मैं दयावश ही तुम्हें आगे जानेसे रोकता हूँ । मेरी बात सुनो । प्रभो ! यहाँसे आगे तुम किसी प्रकार जा नहीं सकते । इसपर विश्वास करो ॥ ९४ ॥

स्वागतं सर्वथैवेह तवाद्य मनुजर्षभ।
इमान्यमृतकल्पानि मूलानि च फलानि च ॥ ९५ ॥
भक्षयित्वा निवर्तस्व मा वृथा प्राप्स्यसे वधम् ।
ग्राह्यं यदि वचो मह्यं हितं मनुजपुङ्गव ॥ ९६ ॥

मानवशिरोमणे ! आज यहाँ सब प्रकारसे तुम्हारा स्वागत है । ये अमृतके समान मीठे फल-मूल खाकर यहींसे लौट जाओ, अन्यथा व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण संकटमें पड़ जायँगे । नरपुङ्गव ! यदि मेरा कथन हितकर जान पड़े, तो इसे अवश्य मानो ॥ ९५-९६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां भीमकदलीषण्डप्रवेशे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें भीमसेनका कदलीवनमें प्रवेशविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीहनुमान् और भीमसेनका संवाद

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
भीमसेनस्तदा वीरः प्रोवाचामित्रकर्षणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय परम बुद्धिमान् वानरराज हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर शत्रुसूदन वीरवर भीमसेनने इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

भीम उवाच

को भवान् किं निमित्तं वा वानरं वपुराश्रितः ।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वां तु पृच्छति ॥ २ ॥

भीमसेनने पूछा—आप कौन हैं ? और किसलिये वानरका रूप धारण कर रक्खा है ? मैं ब्राह्मणके बादका वर्ण—क्षत्रिय हूँ और मैं आपसे आपका परिचय पूछता हूँ ॥

कौरवः सोमवंशीयः कुन्त्या गर्भेण धारितः ।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः ॥ ३ ॥

मेरा परिचय इस प्रकार है—मैं चन्द्रवंशी क्षत्रिय हूँ । मेरा जन्म कुरुकुलमें हुआ है । माता कुन्तीने मुझे गर्भमें धारण किया था । मैं वायुपुत्र पाण्डव हूँ । मेरा नाम भीमसेन है ॥ ३ ॥

स वाक्यं कुरुवीरस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत्।
हनूमान् वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत ॥ ४ ॥

कुरुवीर भीमसेनका वह वचन मन्द मुसकानके साथ सुनकर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने वायुके ही पुत्र भीमसेनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

हनूमानुवाच

वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम्।
साधु गच्छ निवर्तस्व मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम्॥ ५ ॥

हनुमान्‌जी बोले--भैया ! मैं वानर हूँ। तुम्हें तुम्हारी इच्छाके अनुसार मार्ग नहीं दूँगा। अच्छा तो यह होगा कि तुम यहींसे लौट जाओ, नहीं तो तुम्हारे प्राण संकटमें पड़ जायँगे ॥ ५ ॥

भीमसेन उवाच

वैशसं वास्तु यद्वान्यन्न त्वां पृच्छामि वानर।
प्रयच्छ मार्गमुत्तिष्ठ मा मत्तः प्राप्स्यसे व्यथाम्॥ ६ ॥

भीमसेनने कहा--वानर ! मेरे प्राण संकटमें पड़ें या और कोई दुष्परिणाम भोगना पड़े, इसके विषयमें तुमसे कुछ नहीं पूछता हूँ। उठो और मुझे आगे जानेके लिये रास्ता दो। ऐसा होनेपर तुमको मेरे हाथोंसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा ॥ ६ ॥

हनूमानुवाच

नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम्।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम् ॥ ७ ॥

हनुमान्‌जी बोले--भाई ! मैं रोगसे कष्ट पा रहा हूँ। मुझमें उठनेकी शक्ति नहीं है। यदि तुम्हें जाना अवश्य है, तो मुझे लाँघकर चले जाओ ॥ ७ ॥

भीम उवाच

निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्यावतिष्ठते।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लङ्घये ॥ ८ ॥

भीमसेनने कहा--निर्गुण परमात्मा समस्त प्राणियोंके शरीरमें व्याप्त होकर स्थित हैं। वे ज्ञानसे ही जाननेमें आते हैं। मैं उनका अपमान या उल्लङ्घन नहीं करूँगा ॥ ८ ॥

यद्यागमैर्न विद्यां च तमहं भूतभावनम्।
क्रमेयं त्वां गिरिं चैव हनूमानिव सागरम् ॥ ९ ॥

यदि शास्त्रोंके द्वारा मुझे उन भूतभावन भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होता, तो मैं तुम्हींको क्या इस पर्वतको भी उसी प्रकार लाँघ जाता, जैसे हनुमान्‌जी समुद्रको लाँघ गये थे ॥ ९ ॥

हनूमानुवाच

क एष हनुमान् नाम सागरो येन लङ्घितः।
पृच्छामि त्वां नरश्रेष्ठ कथ्यतां यदि शक्यते ॥ १० ॥

हनुमान्‌जी बोले--नरश्रेष्ठ ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, वह हनुमान् कौन था? जो समुद्रको लाँघ गया था। उसके विषयमें यदि तुम कुछ कह सको तो कहो ॥ १० ॥

भीम उवाच

भ्राता मम गुणश्लाघ्यो बुद्धिसत्त्वबलान्वितः।
रामायणेऽतिविख्यातः श्रीमान् वानरपुङ्गवः ॥ ११ ॥

भीमसेनने कहा—वानरप्रवर श्रीहनुमान्‌जी मेरे बड़े भाई हैं। वे अपने सद्गुणोंके कारण सबके लिये प्रशंसनीय हैं। वे बुद्धि, बल, धैर्य एवं उत्साहसे युक्त हैं। रामायणमें उनकी बड़ी ख्याति है ॥ ११ ॥

रामपत्नीकृते येन शतयोजनविस्तृतः।
सागरः प्लवगेन्द्रेण क्रमेणैकेन लङ्घितः ॥ १२ ॥

वे वानरश्रेष्ठ हनुमान् श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी सीताजीकी खोज करनेके लिये सौ योजन विस्तृत समुद्रको एक ही छलाँगमें लाँघ गये थे ॥ १२ ॥

स मे भ्राता महावीर्यस्तुल्योऽहं तस्य तेजसा।
बले पराक्रमे युद्धे शक्तोऽहं तव निग्रहे ॥ १३ ॥

वे महापराक्रमी वानरवीर मेरे भाई लगते हैं। मैं भी उन्हींके समान तेजस्वी, बलवान् और पराक्रमी हूँ तथा युद्धमें तुम्हें परास्त कर सकता हूँ ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठ देहि मे मार्गं पश्य मे चाद्य पौरुषम्।
मच्छासनमकुर्वाणं त्वां वा नेष्ये यमक्षयम् ॥ १४ ॥

उठो और मुझे रास्ता दो तथा आज मेरा पराक्रम अपनी आँखों देख लो। यदि मेरी आज्ञा नहीं मानोगे, तो तुम्हें यमलोक भेज दूँगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

विज्ञाय तं बलोन्मत्तं बाहुवीर्येण दर्पितम्।
हृदयेनावहस्यैनं हनूमान् वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! भीमसेनको बलके अभिमानसे उन्मत्त तथा अपनी भुजाओंके पराक्रमसे घमंडमें भरा हुआ जान हनुमान्‌जीने मन-ही-मन उनका उपहास करते हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

हनूमानुवाच

प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयानघ।
ममानुकम्पया त्वेतत् पुच्छमुत्सार्य गम्यताम् ॥ १६ ॥

हनुमान्‌जी बोले—अनघ ! मुझपर कृपा करो। बुढ़ापेके कारण मुझमें उठनेकी शक्ति नहीं रह गयी है। इसलिये मेरे ऊपर दया करके इस पूँछको हटा दो और निकल जाओ ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते हनुमता हीनवीर्यपराक्रमम् ।
मनसाचिन्तयद् भीमः स्वबाहुबलदर्पितः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर अपने बाहुबलका घमंड रखनेवाले भीमने मन-ही-मन उन्हें बल और पराक्रमसे हीन समझा ॥ १७ ॥

पुच्छे प्रगृह्य तरसा हीनवीर्यपराक्रमम् ।
सालोक्यमन्तकस्यैनं नयाम्यद्येह वानरम् ॥ १८ ॥

और भीतर-ही-भीतर यह संकल्प किया कि 'आज मैं इस बल और पराक्रमसे शून्य वानरको वेगपूर्वक इसकी पूँछ पकड़कर यमराजके लोकमें भेज देता हूँ' ॥ १८ ॥

सावज्ञमथ वामेन स्मयञ्जग्राह पाणिना ।
न चाशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः ॥ १९ ॥

ऐसा सोचकर उन्होंने बड़ी लापरवाही दिखाते और मुसकराते हुए अपने बायें हाथसे उस महाकपिकी पूँछ पकड़ी, किंतु वे उसे हिला-डुला भी न सके ॥ १९ ॥

उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम् ।
नोद्धर्तुमशकद् भीमो दोर्भ्यामपि महाबलः ॥ २० ॥

तब महाबली भीमसेनने उनकी इन्द्र-धनुषके समान ऊँची पूँछको दोनों हाथोंसे उठानेका पुनः प्रयत्न किया, परंतु दोनों हाथ लगा देनेपर भी वे उसे उठा न सके ॥ २० ॥

उत्क्षिप्तभ्रूर्विवृत्ताक्षः संहतभ्रुकुटीमुखः ।
स्विन्नगात्रोऽभवद् भीमो न चोद्धर्तुं शशाक तम् ॥ २१ ॥

फिर तो उनकी भौंहें तन गयीं, आँखें फटी-सी रह गयीं, मुखमण्डलमें भ्रुकुटी स्पष्ट दिखायी देने लगी और उनके सारे अङ्ग पसीनेसे तर हो गये । फिर भी भीमसेन हनुमान्‌जीकी पूँछको किञ्चित् भी हिला न सके ॥ २१ ॥

यत्नवानपि तु श्रीमाँल्लाङ्गूलोद्धरणोद्धुरः ।
कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडानताननः ॥ २२ ॥
प्रणिपत्य च कौन्तेयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रसीद कपिशार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम ॥ २३ ॥

यद्यपि श्रीमान् भीमसेन उस पूँछको उठानेमें सर्वथा समर्थ थे और उसके लिये उन्होंने बहुत प्रयत्न भी किया, तथापि सफल न हो सके । इससे उनका मुँह लज्जासे झुक गया और वे कुन्तीकुमार भीम हनुमान्‌जीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए खड़े होकर बोले—'कपिप्रवर ! मैंने जो कठोर बातें कही हों, उन्हें क्षमा कीजिये और मुझपर प्रसन्न होइये ॥ २२-२३ ॥

सिद्धो वा यदि वा देवो गन्धर्वो वाथ गुह्यकः ।
पृष्टः सन् काम्यया ब्रूहि कस्त्वं वानररूपधृक् ॥ २४ ॥

'आप कोई सिद्ध हैं या देवता ? गन्धर्व हैं या गुह्यक ? मैं परिचय जाननेकी इच्छासे पूछ रहा हूँ । बतलाइये, इस प्रकार वानरका रूप धारण करनेवाले आप कौन हैं ? ॥ २४ ॥

न चेद् गुह्यं महाबाहो श्रोतव्यं चेद् भवेन्मम ।
शिष्यवत् त्वां तु पृच्छामि उपपन्नोऽस्मि तेऽनघ ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! यदि कोई गुप्त बात न हो और वह मेरे सुनने-योग्य हो, तो बताइये । अनघ ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ और शिष्यभावसे पूछता हूँ । अतः अवश्य बतानेकी कृपा करें' ॥ २५ ॥

हनूमानुवाच

यत् ते मम परिज्ञाने कौतूहलमरिंदम ।
तत् सर्वमखिलेन त्वं शृणु पाण्डवनन्दन ॥ २६ ॥

हनुमान्‌जी बोले—शत्रुदमन पाण्डुनन्दन ! तुम्हारे मनमें मेरा परिचय प्राप्त करनेके लिये जो कौतूहल हो रहा है, उसकी शान्तिके लिये सब बातें विस्तारपूर्वक सुनो ॥ २६ ॥

अहं केसरिणः क्षेत्रे वायुना जगदायुषा ।
जातः कमलपत्राक्ष हनूमान् नाम वानरः ॥ २७ ॥

कमलनयन भीम ! मैं वानरश्रेष्ठ केसरीके क्षेत्रमें जगत्‌के प्राणस्वरूप वायुदेवसे उत्पन्न हुआ हूँ । मेरा नाम हनुमान् वानर है ॥ २७ ॥

सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
सर्वे वानरराजानस्तथा वानरयूथपाः ॥ २८ ॥
उपतस्थुर्महावीर्या मम चामित्रकर्षण ।
सुग्रीवेणाभवत् प्रीतिरनिलस्याग्निना यथा ॥ २९ ॥

पूर्वकालमें सभी वानरराज और वानरयूथपति, जो महान् पराक्रमी थे, सूर्यनन्दन सुग्रीव तथा इन्द्रकुमार वाली-की सेवामें उपस्थित रहते थे । शत्रुसूदन भीम ! उन दिनों सुग्रीवके साथ मेरी वैसी ही प्रेमपूर्ण मित्रता थी, जैसी वायुकी अग्निके साथ मानी गयी है ॥ २८-२९ ॥

निकृतः स ततो भ्रात्रा कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ।
ऋष्यमूके मया सार्धं सुग्रीवो न्यवसच्चिरम् ॥ ३० ॥

किसी कारणान्तरसे वालीने अपने भाई सुग्रीवको घरसे निकाल दिया, तब बहुत दिनोंतक वे मेरे साथ ऋष्यमूक पर्वतपर रहे ॥ ३० ॥

अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः ।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम् ॥ ३१ ॥

उस समय महाबली वीर दशरथनन्दन श्रीराम, जो साक्षात् भगवान् विष्णु ही थे, मनुष्यरूप धारण करके इस भूतलपर विचर रहे थे ॥ ३१ ॥

स पितुः प्रियमन्विच्छन् सहभार्यः सहानुजः ।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ ३२ ॥

वे अपने पिताकी आज्ञा पालन करनेके लिये पत्नी सीता

और छोटे भाई लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यमें चले आये। धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ रघुनाथजी सदा धनुष-बाण लिये रहते थे ॥

तस्य भार्या जनस्थानाच्छलेनापहृता बलात्।
राक्षसेन्द्रेण बलिना रावणेन दुरात्मना ॥ ३३ ॥
सुवर्णरत्नचित्रेण मृगरूपेण रक्षसा।
वञ्चयित्वा नरव्याघ्रं मारीचेन तदानघ ॥ ३४ ॥

अनघ ! दण्डकारण्यमें आकर वे जनस्थानमें रहा करते थे। एक दिन अत्यन्त बलवान् दुरात्मा राक्षसराज रावण मायासे सुवर्ण-रत्नमय विचित्र मृगका रूप धारण करनेवाले मारीच नामक राक्षसके द्वारा नरश्रेष्ठ श्रीरामको धोखेमें डालकर उनकी पत्नी सीताको छल-बलपूर्वक हर ले गया ॥ ३३–३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवाद-विषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्‌जीका भीमसेनको संक्षेपसे श्रीरामका चरित्र सुनाना

हनूमानुवाच

हृतदारः सह भ्रात्रा पत्नीं मार्गन् स राघवः।
दृष्टवाञ्शैलशिखरे सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ १ ॥

हनुमान्‌जी कहते हैं—भीमसेन ! इस प्रकार स्त्रीका अपहरण हो जानेपर अपने भाईके साथ उसकी खोज करते हुए श्रीरघुनाथजी जनस्थानसे आगे बढ़े। उन्होंने ऋष्यमूक पर्वतके शिखरपर रहनेवाले वानरराज सुग्रीवसे भेंट की ॥

तेन तस्याभवत् सख्यं राघवस्य महात्मनः।
स हत्वा वालिनं राज्ये सुग्रीवमभिषिक्तवान् ॥ २ ॥

वहाँ सुग्रीवके साथ महात्मा श्रीरघुनाथजीकी मित्रता हो गयी। तब उन्होंने वालीको मारकर किष्किन्धाके राज्यपर सुग्रीवका अभिषेक कर दिया ॥ २ ॥

स राज्यं प्राप्य सुग्रीवः सीतायाः परिमार्गणे।
वानरान् प्रेषयामास शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३ ॥

राज्य पाकर सुग्रीवने सीताजीकी खोजके लिये सौ-सौ तथा हजार-हजार वानरोंकी टोली इधर-उधर भेजी ॥ ३ ॥

ततो वानरकोटीभिः सहितोऽहं नरर्षभ।
सीतां मार्गन् महाबाहो प्रयातो दक्षिणां दिशम् ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! महाबाहो ! उस समय करोड़ों वानरोंके साथ मैं भी सीताजीका पता लगाता हुआ दक्षिण दिशाकी ओर गया ॥ ४ ॥

ततः प्रवृत्तिः सीताया गृध्रेण सुमहात्मना।
सम्पातिना समाख्याता रावणस्य निवेशने ॥ ५ ॥

तदनन्तर गृध्रजातीय महाबुद्धिमान् सम्पातिने सीताजीके सम्बन्धमें यह समाचार दिया कि वे रावणके नगरमें विद्यमान हैं ॥ ५ ॥

ततोऽहं कार्यसिद्ध्यर्थं रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
शतयोजनविस्तीर्णमर्णवं सहसाऽऽप्लुतः ॥ ६ ॥

तब मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरघुनाथजीकी कार्यसिद्धिके लिये सहसा सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघ गया ॥ ६ ॥

अहं स्ववीर्यादुत्तीर्य सागरं मकरालयम्।
सुतां जनकराजस्य सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ ७ ॥
दृष्टवान् भरतश्रेष्ठ रावणस्य निवेशने।
समेत्य तामहं देवीं वैदेहीं राघवप्रियाम् ॥ ८ ॥
दग्ध्वा लङ्कामशेषेण साट्टप्राकारतोरणाम्।
प्रत्यागतश्चापि पुनर्नाम तत्र प्रकाश्य वै ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मगर और ग्राह आदिसे भरे हुए उस समुद्रको अपने पराक्रमसे पार करके मैं रावणके नगरमें देवकन्याके समान तेजस्विनी जनकराजनन्दिनी सीतासे मिला। रघुनाथजीकी प्रियतमा विदेहराजकुमारी सीतादेवीसे भेंट करके अट्टालिका, चहारदिवारी और नगरद्वारसहित समूची लङ्कापुरीको जलाकर वहाँ श्रीराम-नामकी घोषणा करके मैं पुनः लौट आया ॥ ७–९ ॥

मद्वाक्यं चावधार्याशु रामो राजीवलोचनः।
स बुद्धिपूर्वं सैन्यस्य बद्ध्वा सेतुं महोदधौ ॥ १० ॥
वृतो वानरकोटीभिः समुत्तीर्णो महार्णवम्।
ततो रामेण वीरेण हत्वा तान् सर्वराक्षसान् ॥ ११ ॥
रणे तु राक्षसगणं रावणं लोकरावणम्।
निशाचरेन्द्रं हत्वा तु सभ्रातृसुतबान्धवम् ॥ १२ ॥

मेरी बात मानकर कमलनयन भगवान् श्रीरामने बुद्धिपूर्वक विचार करके सैनिकोंकी सलाहसे महासागरपर पुल बँधवाया और करोड़ों वानरोंसे घिरे हुए वे महासमुद्रको पार करके लङ्कापर जा चढ़े। तदनन्तर वीरवर श्रीरामने उन समस्त राक्षसोंको मारकर युद्धमें समस्त लोकोंको रुलानेवाले राक्षसराज रावणको भी भाई, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मार डाला ॥ १०–१२ ॥

राज्येऽभिषिच्य लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
धार्मिकं भक्तिमन्तं च भक्तानुगतवत्सलम् ॥ १३ ॥
ततः प्रत्याहृता भार्या नष्टा वेदश्रुतिर्यथा ।
तयैव सहितः साध्व्या पत्न्या रामो महायशाः ॥ १४ ॥
गत्वा ततोऽतित्वरितः स्वां पुरीं रघुनन्दनः ।
अध्यावसत् ततोऽयोध्यामयोध्यां द्विषतां प्रभुः ॥ १५ ॥
ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः ।
वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचनः ॥ १६ ॥
यावद् राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन् ।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा, भक्तिमान् तथा भक्तों और सेवकोंपर स्नेह रखनेवाले राक्षसराज विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त किया और खोयी हुई वैदिकी श्रुतिकी भाँति अपनी पत्नीका वहाँसे उद्धार करके महायशस्वी रघुनन्दन श्रीराम अपनी उस साध्वी पत्नीके साथ ही बड़ी उतावलीके साथ अपनी अयोध्यापुरीमें लौट आये। इसके बाद शत्रुओं-को भी वशमें करनेवाले नृपश्रेष्ठ भगवान् श्रीराम अवधके राज्यसिंहासनपर आसीन हो उस अजेय अयोध्यापुरीमें रहने लगे। उस समय मैंने कमलनयन श्रीरामसे यह वर माँगा कि 'शत्रुसूदन! जबतक आपकी यह कथा संसारमें प्रचलित रहे, तबतक मैं अवश्य जीवित रहूँ'। भगवान्ने 'तथास्तु' कहकर मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १३–१७ ॥

सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिंदम ।
उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः ॥ १८ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेन! श्रीसीताजीकी कृपासे यहाँ रहते हुए ही मुझे इच्छानुसार सदा दिव्य भोग प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
राज्यं कारितवान् रामस्ततः स्वभवनं गतः ॥ १९ ॥

श्रीरामजीने ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीपर राज्य किया, फिर वे अपने परम धामको चले गये ॥ १९ ॥

तदिहाप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदानघ ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम् ॥ २० ॥

निष्पाप भीम! इस स्थानपर गन्धर्व और अप्सराएँ वीरवर रघुनाथजीके चरित्रोंको गाकर मुझे आनन्दित करते रहते हैं ॥ २० ॥

अयं च मार्गो मर्त्यानामगम्यः कुरुनन्दन ।
ततोऽहं रुद्धवान् मार्गं तवेमं देवसेवितम् ॥ २१ ॥
धर्षयेद् वा शपेद् वापि मा कश्चिदिति भारत ।
दिव्यो देवपथो ह्येष नात्र गच्छन्ति मानुषाः ।
यदर्थमागतश्चासि अत एव सरश्च तत् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन! यह मार्ग मनुष्योंके लिये अगम्य है। अतः इस देवसेवित पथको मैंने इसीलिये तुम्हारे लिये रोक दिया था, कि इस मार्गसे जानेपर कोई तुम्हारा तिरस्कार न कर दे या शाप न दे दे; क्योंकि यह दिव्य देवमार्ग है। इसपर मनुष्य नहीं जाते हैं। भारत! तुम जहाँ जानेके लिये आये हो, वह सरोवर तो यहीं है ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें हनुमान्जी और भीमसेनका संवादनामक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्जीके द्वारा चारों युगोंके धर्मोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान् ।
प्रणिपत्य ततः प्रीत्या भ्रातरं हृष्टमानसः ॥ १ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हनूमन्तं कपीश्वरम् ।
मया धन्यतरो नास्ति यदार्यं दृष्टवानहम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्जीके ऐसा कहनेपर प्रतापी वीर महाबाहु भीमसेनके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने बड़े प्रेमसे अपने भाई वानरराज हनुमान्को प्रणाम करके मधुर वाणीमें कहा—'अहा! आज मेरे समान बड़भागी दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि आज मुझे अपने ज्येष्ठ भ्राताका दर्शन हुआ है ॥ १-२ ॥

अनुग्रहो मे सुमहांस्तृप्तिश्च तव दर्शनात् ।
एकं तु कृतमिच्छामि त्वयाद्य प्रियमात्मनः ॥ ३ ॥

'आर्य! आपने मुझपर बड़ी कृपा की है। आपके दर्शनसे मुझे बड़ा सुख मिला है। अब मैं पुनः आपके द्वारा अपना एक और प्रिय कार्य पूर्ण करना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

यत् ते तदाऽऽसीत् प्लवतः सागरं मकरालयम् ।
रूपमप्रतिमं वीर तदिच्छामि निरीक्षितुम् ॥ ४ ॥

एवं तुष्टो भविष्यामि श्रद्धास्यामि च ते वचः।
एवमुक्तः स तेजस्वी प्रहस्य हरिरब्रवीत् ॥ ५ ॥

'वीरवर ! मकरालय समुद्रको लाँघते समय आपने जो अनुपम रूप धारण किया था, उसका दर्शन करनेकी मुझे बड़ी इच्छा हो रही है। उसे देखनेसे मुझे संतोष तो होगा ही, आपकी बातपर श्रद्धा भी हो जायगी।' भीमसेनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी हनुमान्‌जीने हँसकर कहा—॥ ४-५ ॥

न तच्छक्यं त्वया द्रष्टुं रूपं नान्येन केनचित्।
कालावस्था तदा ह्यन्या वर्तते सा न साम्प्रतम्॥ ६ ॥

'भैया! तुम उस स्वरूपको नहीं देख सकते, कोई दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं देख सकता। उस समयकी अवस्था कुछ और ही थी, अब वह नहीं है॥ ६ ॥

अन्यः कृतयुगे कालस्त्रेतायां द्वापरे परः।
अयं प्रध्वंसनः कालो नाद्य तद् रूपमस्ति मे ॥ ७ ॥
भूमिर्नद्यो नगाः शैलाः सिद्धा देवा महर्षयः।
कालं समनुवर्तन्ते यथा भावा युगे युगे ॥ ८ ॥
बलवर्ष्मप्रभावा हि प्रहीयन्त्युद्भवन्ति च।
तदलं बत तद् रूपं द्रष्टुं कुरुकुलोद्वह।
युगं समनुवर्तामि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ९ ॥

'सत्ययुगका समय दूसरा था तथा त्रेता और द्वापरका दूसरा ही है। यह काल सभी वस्तुओंको नष्ट करनेवाला है। अब मेरा वह रूप है ही नहीं। पृथ्वी, नदी, वृक्ष, पर्वत, सिद्ध, देवता और महर्षि—ये सभी कालका अनुसरण करते हैं। प्रत्येक युगके अनुसार सभी वस्तुओंके शरीर, बल और प्रभावमें न्यूनाधिकता होती रहती है। अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम उस स्वरूपको देखनेका आग्रह न करो। मैं भी युगका अनुसरण करता हूँ; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है'॥ ७–९ ॥

भीम उवाच

युगसंख्यां समाचक्ष्व आचारं च युगे युगे।
धर्मकामार्थभावांश्च कर्मवीर्यं भवाभवौ ॥ १० ॥

भीमसेनने कहा—कपिप्रवर! आप मुझे युगोंकी संख्या बताइये और प्रत्येक युगमें जो आचार, धर्म, अर्थ एवं कामके तत्त्व, शुभाशुभ कर्म, उन कर्मोंकी शक्ति तथा उत्पत्ति और विनाशादि भाव होते हैं, उनका भी वर्णन कीजिये॥

हनूमानुवाच

कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः।
कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे ॥ ११ ॥

हनुमान्‌जी बोले—तात! सबसे पहला कृतयुग है। उसमें सनातन धर्मकी पूर्ण स्थिति रहती है। उसका कृतयुग नाम इसलिये पड़ा है, कि उस उत्तम युगके लोग अपना सब कर्तव्य कर्म सम्पन्न ही कर लेते थे। उनके लिये कुछ करना शेष नहीं रहता था (अतः 'कृतम् एव सर्वं शुभं यस्मिन् युगे' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह 'कृतयुग' कहलाया)॥ ११॥

न तत्र धर्माः सीदन्ति क्षीयन्ते न च वै प्रजाः।
ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम् ॥ १२ ॥

उस समय धर्मका ह्रास नहीं होता था। प्रजाका अर्थात् (माता-पिताके रहते हुए) संतानका नाश नहीं होता था। तदनन्तर कालक्रमसे उसमें गौणता आ गयी॥ १२ ॥

देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः।
नासन् कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयः ॥ १३ ॥

तात! कृतयुगमें देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग नहीं थे अर्थात् ये परस्पर भेद-भाव नहीं रखते थे। उस समय क्रय-विक्रयका व्यवहार भी नहीं था॥ १३ ॥

न सामऋग्यजुर्वर्णाः क्रिया नासीच्च मानवी।
अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च ॥ १४ ॥

ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रवर्णोंका पृथक्-पृथक् विभाग नहीं था। कोई मानवी क्रिया (कृषि आदि) भी नहीं होती थी। उस समय चिन्तन करनेमात्रसे सबको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो जाती थी। सत्ययुगमें एक ही धर्म था, स्वार्थका त्याग॥ १४ ॥

न तस्मिन् युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः।
नासूया नापि रुदितं न दर्पो नापि वैकृतम् ॥ १५ ॥

उस युगमें बीमारी नहीं होती थी। इन्द्रियोंमें भी क्षीणता नहीं आने पाती थी। कोई किसीके गुणोंमें दोष-दर्शन नहीं करता था। किसीको दुःखसे रोना नहीं पड़ता था और न किसीमें घमंड था तथा न कोई अन्य विकार ही होता था॥

न विग्रहः कुतस्तन्द्री न द्वेषो न च पैशुनम्।
न भयं नापि संतापो न चेर्ष्या न च मत्सरः ॥ १६ ॥

कहीं लड़ाई-झगड़ा नहीं था, आलसी भी नहीं थे। द्वेष, चुगली, भय, संताप, ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं था* ॥

ततः परमकं ब्रह्म सा गतिर्योगिनां परा।
आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा ॥ १७ ॥

उस समय योगियोंके परम आश्रय और सम्पूर्ण भूतोंकी अन्तरात्मा परब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायणका वर्ण शुक्ल था॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः।
कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १८ ॥

* सत्ययुगके मनुष्य आदि प्राणियोंमें दोषोंका अभाव बतलाया है, उसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि अधिकांशमें उनमें इन दोषोंका अभाव था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी शम-दम आदि स्वभावसिद्ध शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थे। सत्ययुगमें समस्त प्रजा अपने-अपने कर्तव्यकर्मोंमें तत्पर रहती थी ॥ १८ ॥

समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम्।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ॥ १९ ॥

उस समय परब्रह्म परमात्मा ही सबके एकमात्र आश्रय थे। उन्हींकी प्राप्तिके लिये सदाचारका पालन किया जाता था। सब लोग एक परमात्माका ही ज्ञान प्राप्त करते थे। सभी वर्णोंके मनुष्य परब्रह्म परमात्माके उद्देश्यसे ही समस्त सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते थे और इस प्रकार उन्हें उत्तम धर्म-फलकी प्राप्ति होती थी ॥ १९ ॥

एकदेवसदायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः ॥ २० ॥

सब लोग सदा एक परमात्मदेवमें ही चित्त लगाये रहते थे। सब लोग एक परमात्माके ही नामका जप और उन्हींकी सेवा-पूजा किया करते थे। सबके वर्णाश्रमानुसार पृथक्-पृथक् धर्म होनेपर भी वे एकमात्र वेदको ही माननेवाले थे और एक ही सनातनधर्मके अनुयायी थे ॥ २० ॥

चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना।
अकामफलसंयोगात् प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥ २१ ॥

सत्ययुगके लोग समय-समयपर किये जानेवाले चार आश्रमसम्बन्धी सत्कर्मोंका अनुष्ठान करके कर्मफलकी कामना और आसक्ति न होनेके कारण परम गति प्राप्त कर लेते थे ॥

आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः।
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः ॥ २२ ॥

चित्तवृत्तियोंको परमात्मामें स्थापित करके उनके साथ एकताकी प्राप्ति करानेवाला यह योग नामक धर्म सत्ययुगका सूचक है। सत्ययुगमें चारों वर्णोंका यह सनातन धर्म चारों चरणोंसे सम्पन्न—सम्पूर्ण रूपसे विद्यमान था ॥ २२ ॥

एतत् कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम्।
त्रेतामपि निबोध त्वं यस्मिन् सत्रं प्रवर्तते ॥ २३ ॥

यह तीनों गुणोंसे रहित सत्ययुगका वर्णन हुआ। अब त्रेताका वर्णन सुनो, जिसमें यज्ञ-कर्मका आरम्भ होता है ॥ २३ ॥

पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाच्युतः।
सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः ॥ २४ ॥

उस समय धर्मके एक चरणका ह्रास हो जाता है और भगवान् अच्युतका स्वरूप लाल वर्णका हो जाता है। लोग सत्यमें तत्पर रहते हैं। शास्त्रोक्त यज्ञक्रिया तथा धर्मके पालनमें परायण रहते हैं ॥ २४ ॥

ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते धर्माश्च विविधाः क्रियाः।
त्रेतायां भावसंकल्पाः क्रियादानफलोपगाः ॥ २५ ॥

त्रेतायुगमें ही यज्ञ, धर्म तथा नाना प्रकारके सत्कर्म आरम्भ होते हैं। लोगोंको अपनी भावना तथा संकल्पके अनुसार वेदोक्त कर्म तथा दान आदिके द्वारा अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

प्रचलन्ति न वै धर्मात् तपोदानपरायणाः।
स्वधर्मस्थाः क्रियावन्तो नरास्त्रेतायुगेऽभवन् ॥ २६ ॥

त्रेतायुगके मनुष्य तप और दानमें तत्पर रहकर अपने धर्मसे कभी विचलित नहीं होते थे। सभी स्वधर्मपरायण तथा क्रियावान् थे ॥ २६ ॥

द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्तते।
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च ॥ २७ ॥

द्वापरमें हमारे धर्मके दो ही चरण रह जाते हैं, उस समय भगवान् विष्णुका स्वरूप पीले वर्णका हो जाता है और वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन) चार भागोंमें बँट जाता है ॥ २७ ॥

ततोऽन्ये च चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे।
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथापरे ॥ २८ ॥

उस समय कुछ द्विज चार वेदोंके ज्ञाता, कुछ तीन वेदोंके विद्वान्, कुछ दो ही वेदोंके जानकार, कुछ एक ही वेदके पण्डित और कुछ वेदकी ऋचाओंके ज्ञानसे सर्वथा शून्य होते हैं ॥ २८ ॥

एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया।
तपोदानप्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा ॥ २९ ॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके होनेसे उनके बताये हुए कर्मोंमें भी अनेक भेद हो जाते हैं तथा प्रजा तप और दान—इन दो ही धर्मोंमें प्रवृत्त होकर राजसी हो जाती है ॥ २९ ॥

एकवेदस्य चाज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्त्वस्य चेह विभ्रंशात् सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ३० ॥

द्वापरमें सम्पूर्ण एक वेदका भी ज्ञान न होनेसे वेदके बहुत-से विभाग कर लिये गये हैं। इस युगमें सात्त्विक बुद्धिका क्षय होनेसे कोई विरला ही सत्यमें स्थित होता है ॥ ३० ॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां व्याधयो बहवोऽभवन्।
कामाश्चोपद्रवाश्चैव तदा वै दैवकारिताः ॥ ३१ ॥

सत्यसे भ्रष्ट होनेके कारण द्वापरके लोगोंमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उनके मनमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ पैदा होती हैं और वे बहुत-से दैवी उपद्रवोंसे भी पीड़ित हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

यैरर्द्यमानाः सुभृशं तपस्तप्यन्ति मानवाः।
कामकामाः स्वर्गकामा यज्ञांस्तन्वन्ति चापरे ॥ ३२ ॥

उन सबसे अत्यन्त पीड़ित होकर लोग तप करने लगते हैं। कुछ लोग भोग और स्वर्गकी कामनासे यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ ३२ ॥

एवं द्वापरमासाद्य प्रजाः क्षीयन्त्यधर्मतः ।
पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार द्वापरयुगके आनेपर अधर्मके कारण प्रजा क्षीण होने लगती है। (तत्पश्चात् कलियुगका आगमन होता है।) कुन्तीनन्दन! कलियुगमें धर्म एक ही चरणसे स्थित होता है ॥ ३३ ॥

तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः ।
वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा ॥ ३४ ॥

इस तमोगुणी युगको पाकर भगवान् विष्णुके श्रीविग्रहका रंग काला हो जाता है। वैदिक सदाचार, धर्म तथा यज्ञ-कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

ईतयो व्याधयस्तन्द्री दोषाः क्रोधादयस्तथा ।
उपद्रवाः प्रवर्तन्ते आधयः क्षुद्भयं तथा ॥ ३५ ॥

ईति, व्याधि, आलस्य, क्रोध आदि दोष, मानसिक रोग तथा भूख-प्यासका भय—ये सभी उपद्रव बढ़ जाते हैं ॥ ३५ ॥

युगेष्वावर्तमानेषु धर्मो व्यावर्तते पुनः ।
धर्मे व्यावर्तमाने तु लोको व्यावर्तते पुनः ॥ ३६ ॥

युगोंके परिवर्तन होनेपर आनेवाले युगोंके अनुसार धर्मका भी ह्रास होता जाता है। इस प्रकार धर्मके क्षीण होनेसे लोक (की सुख-सुविधा) का भी क्षय होने लगता है ॥ ३६ ॥

लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोकप्रवर्तकाः ।
युगक्षयकृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते ॥ ३७ ॥

लोकके क्षीण होनेपर उसके प्रवर्तक भावोंका भी क्षय हो जाता है। युग-क्षयजनित धर्म मनुष्यकी अभीष्ट कामनाओं-के विपरीत फल देते हैं ॥ ३७ ॥

एतत् कलियुगं नाम अचिराद् यत् प्रवर्तते ।
युगानुवर्तनं त्वेतत् कुर्वन्ति चिरजीविनः ॥ ३८ ॥

यह कलियुगका वर्णन किया गया, जो शीघ्र ही आने-वाला है। चिरजीवीलोग भी इस प्रकार युगका अनुसरण करते हैं ॥ ३८ ॥

यच्च ते मत्परिज्ञाने कौतूहलमरिंदम ।
अनर्थकेषु को भावः पुरुषस्य विजानतः ॥ ३९ ॥

शत्रुदमन! तुम्हें मेरे पुरातन स्वरूपको देखने या जाननेके लिये जो कौतूहल हुआ है, वह ठीक नहीं है। किसी भी समझदार मनुष्यका निरर्थक विषयोंके लिये आग्रह क्यों होना चाहिये? ॥ ३९ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
युगसंख्यां महाबाहो स्वस्ति प्राप्नुहि गम्यताम् ॥ ४० ॥

महाबाहो! तुमने युगोंकी संख्याके विषयमें मुझसे जो प्रश्न किया है, उसके उत्तरमें मैंने यह सब बातें बतायी हैं। तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम लौट जाओ ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कदलीषण्डे हनुमद्भीमसंवादे
एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें कदलीवनके भीतर हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९ ॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्‌जीके द्वारा भीमसेनको अपने विशाल रूपका प्रदर्शन और चारों वर्णोंके धर्मोंका प्रतिपादन

भीमसेन उवाच

पूर्वरूपमदृष्ट्वा ते न यास्यामि कथंचन ।
यदि तेऽहमनुग्राह्यो दर्शयात्मानमात्मना ॥ १ ॥

भीमसेनने कहा—कपिप्रवर! मैं आपका वह पूर्वरूप देखे बिना किसी प्रकार नहीं जाऊँगा। यदि मैं आपका कृपापात्र होऊँ, तो आप स्वयं ही अपने आपको मेरे सामने प्रकट कर दीजिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन स्मितं कृत्वा प्लवंगमः ।
तद् रूपं दर्शयामास यद् वै सागरलङ्घने ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने मुसकराकर उन्हें अपना वह रूप दिखाया, जो उन्होंने समुद्र-लङ्घनके समय धारण किया था ॥

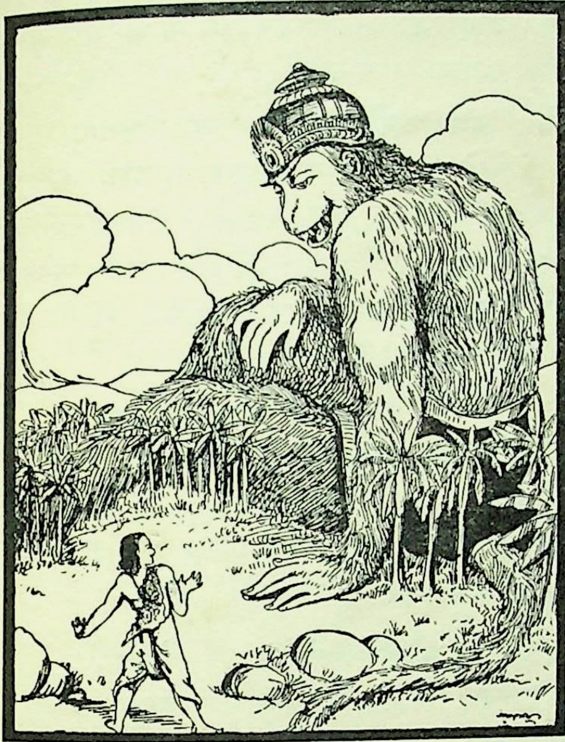
भ्रातुः प्रियमभीप्सन् वै चकार सुमहद् वपुः ।
देहस्तस्य ततोऽतीव वर्धत्यायामविस्तरैः ॥ ३ ॥
सद्रुमं कदलीषण्डं छादयन्नमितद्युतिः ।
गिरेश्चोच्छ्रयमाक्रम्य तस्थौ तत्र च वानरः ॥ ४ ॥

उन्होंने अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे अत्यन्त विशाल शरीर धारण किया। उनका शरीर लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाईमें बहुत बड़ा हो गया। वे अमित तेजस्वी वानरवीर वृक्षोंसहित समूचे कदलीवनको आच्छादित करते हुए गन्धमादन पर्वतकी ऊँचाईको भी लाँघकर वहाँ खड़े हो गये ॥ ३-४ ॥

समुच्छ्रितमहाकायो द्वितीय इव पर्वतः ।
ताम्रेक्षणस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः ॥ ५ ॥

उनका वह उन्नत विशाल शरीर दूसरे पर्वतके समान

प्रतीत होता था। लाल आँखों, तीखी दाढ़ों और टेढ़ी भौंहोंसे युक्त उनका मुख था ॥ ५ ॥



दीर्घलाङ्गूलमाविध्य दिशो व्याप्य स्थितः कपिः।
तद् रूपं महदालक्ष्य भ्रातुः कौरवनन्दनः ॥ ६ ॥
विसिष्मिये तदा भीमो जहृषे च पुनः पुनः।
तमर्कमिव तेजोभिः सौवर्णमिव पर्वतम् ॥ ७ ॥
प्रदीप्तमिव चाकाशं दृष्ट्वा भीमो न्यमीलयत्।
आबभाषे च हनुमान् भीमसेनं स्मयन्निव ॥ ८ ॥

वे वानरवीर अपनी विशाल पूँछको हिलाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंको घेरकर खड़े थे। भाईके उस विराट् रूपको देखकर कौरवनन्दन भीमको बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके शरीरमें बार-बार हर्षसे रोमाञ्च होने लगा। हनुमान्जी तेजमें सूर्यके समान दिखायी देते थे। उनका शरीर सुवर्णमय मेरुपर्वतके समान था और उनकी प्रभासे सारा आकाश-मण्डल प्रज्वलित-सा जान पड़ता था। उनकी ओर देखकर भीमसेनने दोनों आँखें बंद कर लीं। तब हनुमान्जी उनसे मुसकराते हुए-से बोले—॥ ६-८ ॥

एतावदिह शक्तस्त्वं द्रष्टुं रूपं ममानघ।
वर्धेऽहं चाप्यतो भूयो यावन्मे मनसि स्थितम्।
भीमशत्रुषु चात्यर्थं वर्धते मूर्तिरोजसा ॥ ९ ॥

'अनघ! तुम यहाँ मेरे इतने ही बड़े रूपको देख सकते हो, परंतु मैं इससे भी बड़ा हो सकता हूँ। मेरे मनमें जितने बड़े स्वरूपकी भावना होती है, उतना ही मैं बढ़ सकता हूँ। भयानक शत्रुओंके समीप मेरी मूर्ति अत्यन्त ओजके साथ बढ़ती है' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तदद्भुतं महारौद्रं विन्ध्यपर्वतसंनिभम्।
दृष्ट्वा हनूमतो वर्ष्म सम्भ्रान्तः पवनात्मजः ॥ १० ॥
प्रत्युवाच ततो भीमः सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
कृताञ्जलिरदीनात्मा हनूमन्तमवस्थितम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्जीका वह विन्ध्य पर्वतके समान अत्यन्त भयंकर और अद्भुत शरीर देखकर वायुपुत्र भीमसेन घबरा गये। उनके शरीर-में रोंगटे खड़े होने लगे। उस समय उदारहृदय भीमने हाथ जोड़कर अपने सामने खड़े हुए हनुमान्जीसे कहा—॥

दृष्टं प्रमाणं विपुलं शरीरस्यास्य ते विभो।
संहरस्व महावीर्य स्वयमात्मानमात्मना ॥ १२ ॥

'प्रभो! आपके इस शरीरका विशाल प्रमाण प्रत्यक्ष देख लिया। महापराक्रमी वीर! अब आप स्वयं ही अपने शरीर-को समेट लीजिये ॥ १२ ॥

न हि शक्नोमि त्वां द्रष्टुं दिवाकरमिवोदितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १३ ॥

'आप तो सूर्यके समान उदित हो रहे हैं। मैं आपकी ओर देख नहीं सकता। आप अप्रमेय तथा दुर्धर्ष मैनाक पर्वतके समान खड़े हैं ॥ १३ ॥

विस्मयश्चैव मे वीर सुमहान् मनसोऽद्य वै।
यद् रामस्त्वयि पार्श्वस्थे स्वयं रावणमभ्यगात् ॥ १४ ॥

'वीर! आज मेरे मनमें इस बातको लेकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि आपके निकट रहते हुए भी भगवान् श्रीरामने स्वयं ही रावणका सामना किया ॥ १४ ॥

त्वमेव शक्तस्तां लङ्कां सयोधां सहवाहनाम्।
स्वबाहुबलमाश्रित्य विनाशयितुमञ्जसा ॥ १५ ॥

'आप तो अकेले ही अपने बाहुबलका आश्रय लेकर योद्धाओं और वाहनोंसहित समूची लङ्काको अनायास नष्ट कर सकते थे ॥ १५ ॥

न हि ते किंचिदप्राप्यं मारुतात्मज विद्यते।
तव नैकस्य पर्याप्तो रावणः सगणो युधि ॥ १६ ॥

'मारुतनन्दन! आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। समर-भूमिमें अपने सैनिकोंसहित रावण अकेले आपका ही सामना करनेमें समर्थ नहीं था' ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन हनूमान् प्लवगोत्तमः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमके ऐसा कहनेपर कपिश्रेष्ठ हनुमान्जीने स्नेहयुक्त गम्भीर वाणीमें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १७ ॥

हनूमानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
भीमसेन न पर्याप्तो ममासौ राक्षसाधमः ॥ १८ ॥

हनुमान्‌जी बोले—भारत ! महाबाहु भीमसेन ! तुम जैसा कहते हो, ठीक ही है। वह अधम राक्षस वास्तवमें मेरा सामना नहीं कर सकता था ॥ १८ ॥

मया तु निहते तस्मिन् रावणे लोककण्टके।
कीर्तिर्नश्येद् राघवस्य तत एतदुपेक्षितम् ॥ १९ ॥

किंतु सम्पूर्ण लोकोंको काँटेके समान कष्ट देनेवाला रावण यदि मेरे ही हाथों मारा जाता, तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी कीर्ति नष्ट हो जाती। इसीलिये मैंने उसकी उपेक्षा कर दी ॥ १९ ॥

तेन वीरेण तं हत्वा सगणं राक्षसाधमम्।
आनीता स्वपुरं सीता कीर्तिश्चाख्यापिता नृषु ॥ २० ॥

वीरवर श्रीरामचन्द्रजी सेनासहित उस अधम राक्षसका वध करके सीताजीको अपनी अयोध्यापुरीमें ले आये। इससे मनुष्योंमें उनकी कीर्तिका भी विस्तार हुआ ॥ २० ॥

तद् गच्छ विपुलप्रज्ञ भ्रातुः प्रियहिते रतः।
अरिष्टं क्षेममध्वानं वायुना परिरक्षितः ॥ २१ ॥

अच्छा, महाप्राज्ञ ! अब तुम अपने भाईके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहकर वायुदेवतासे सुरक्षित हो क्लेशरहित मार्गसे कुशलपूर्वक जाओ ॥ २१ ॥

एष पन्थाः कुरुश्रेष्ठ सौगन्धिकवनाय ते।
द्रक्ष्यसे धनदोद्यानं रक्षितं यक्षराक्षसैः ॥ २२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह मार्ग सौगन्धिक वनको जाता है। इससे जानेपर तुम्हें कुबेरका बगीचा दिखायी देगा, जो यक्षों तथा राक्षसोंसे सुरक्षित है ॥ २२ ॥

न च ते तरसा कार्यः कुसुमावचयः स्वयम्।
दैवतानि हि मान्यानि पुरुषेण विशेषतः ॥ २३ ॥

वहाँ जाकर तुम जल्दीसे स्वयं ही उसके फूल न तोड़ने लगना। मनुष्योंको तो विशेषरूपसे देवताओंका सम्मान ही करना चाहिये ॥ २३ ॥

बलिहोमनमस्कारैर्मन्त्रैश्च भरतर्षभ।
दैवतानि प्रसादं हि भक्त्या कुर्वन्ति भारत ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूजा, होम, नमस्कार, मन्त्रजप तथा भक्तिभावसे देवता प्रसन्न होकर कृपा करते हैं ॥ २४ ॥

मा तात साहसं कार्षीः स्वधर्मं परिपालय।
स्वधर्मस्थः परं धर्मं बुध्यस्व गमयस्व च ॥ २५ ॥

तात ! तुम दुःसाहस न कर बैठना, अपने धर्मका पालन करना, स्वधर्ममें स्थित रहकर तुम श्रेष्ठ धर्मको समझो और उसका पालन करो ॥ २५ ॥

न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ २६ ॥

क्योंकि धर्मको जाने बिना और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा किये बिना बृहस्पति-जैसे विद्वानोंके लिये भी धर्म और अर्थके तत्त्वको समझना सम्भव नहीं है ॥ २६ ॥

अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाधर्मसंज्ञितः।
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः ॥ २७ ॥

कहीं अधर्म ही धर्म कहलाता है और कहीं धर्म भी अधर्म कहा जाता है। अतः धर्म और अधर्मके स्वरूपका पृथक्-पृथक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। बुद्धिहीनलोग इसमें मोहित हो जाते हैं ॥ २७ ॥

आचारसम्भवो धर्मो धर्मे वेदाः प्रतिष्ठिताः।
वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्ना यज्ञैर्देवाः प्रतिष्ठिताः ॥ २८ ॥

आचारसे धर्मकी उत्पत्ति होती है। धर्ममें वेदोंकी प्रतिष्ठा है। वेदोंसे यज्ञ प्रकट हुए हैं और यज्ञोंसे देवताओंकी स्थिति है ॥ २८ ॥

वेदाचारविधानोक्तैर्यज्ञैर्धार्यन्ति देवताः।
बृहस्पत्युशनःप्रोक्तैर्नयैर्धार्यन्ति मानवाः ॥ २९ ॥

वेदोक्त आचारके विधानसे बतलाये हुए यज्ञोंद्वारा देवताओंकी आजीविका चलती है और बृहस्पति तथा शुक्राचार्यकी कही हुई नीतियाँ मनुष्योंके जीवन-निर्वाहकी आधारभूमि हैं ॥ २९ ॥

पण्याकरवणिज्याभिः कृष्यागोजाविपोषणैः।
विद्यया धार्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः ॥ ३० ॥

हाट-बाजार करना, कर (लगान या टैक्स) लेना, व्यापार, खेती, गोपालन, भेड़ और बकरोंका पोषण तथा विद्या पढ़ना-पढ़ाना—इन धर्मानुकूल वृत्तियोंद्वारा द्विजगण सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करते हैं ॥ ३० ॥

त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या विजानताम्।
ताभिः सम्यक् प्रयुक्ताभिर्लोकयात्रा विधीयते ॥ ३१ ॥

वेदत्रयी, वार्ता (कृषि-वाणिज्य आदि) और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ हैं (इनमें वेदाध्ययन ब्राह्मणकी, वार्ता वैश्यकी और दण्डनीति क्षत्रियकी जीविकावृत्ति है)। विज्ञ पुरुषोंद्वारा इन वृत्तियोंका ठीक-ठीक प्रयोग होनेसे लोकयात्राका निर्वाह होता है ॥ ३१ ॥

सा चेद् धर्मकृता न स्यात् त्रयीधर्ममृते भुवि।
दण्डनीतिमृते चापि निर्मर्यादमिदं भवेत् ॥ ३२ ॥

यदि लोकयात्रा धर्मपूर्वक न चलायी जाय, इस पृथ्वीपर वेदोक्त धर्मका पालन न हो और दण्डनीति भी उठा दी जाय तो यह सारा जगत् मर्यादाहीन हो जाय ॥ ३२ ॥

वार्ताधर्मे ह्यवर्तिन्यो विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
सुप्रवृत्तैस्त्रिभिर्ह्येतैर्धर्मं सूयन्ति वै प्रजाः ॥ ३३ ॥

यदि यह प्रजा वार्ता-धर्म (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) में प्रवृत्त न हो तो नष्ट हो जायगी। इन तीनोंकी सम्यक् प्रवृत्ति होनेसे प्रजा धर्मका सम्पादन करती है ॥ ३३ ॥

द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकलक्षणः।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः ॥ ३४ ॥

द्विजातियोंका मुख्य धर्म है सत्य (सत्य-भाषण, सत्य-व्यवहार, सद्भाव)। यह धर्मका एक प्रधान लक्षण है। यज्ञ, स्वाध्याय और दान—ये तीन धर्म द्विजमात्रके सामान्य धर्म माने गये हैं ॥ ३४ ॥

याजनाध्यापनं विप्रे धर्मश्चैव प्रतिग्रहः।
पालनं क्षत्रियाणां वै वैश्यधर्मश्च पोषणम् ॥ ३५ ॥

यज्ञ कराना, वेद और शास्त्रोंको पढ़ाना तथा दान ग्रहण करना—यह ब्राह्मणका ही आजीविकाप्रधान धर्म है। प्रजा-पालन क्षत्रियोंका और पशु-पालन वैश्योंका धर्म है ॥३५॥

शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्यते।
भैक्ष्यहोमव्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिताः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रोंका धर्म बताया गया है। तीनों वर्णोंकी सेवामें रहनेवाले शूद्रोंके लिये भिक्षा, होम और व्रत मना है ॥ ३६ ॥

क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम्।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेन्द्रियः ॥ ३७ ॥

कुन्तीनन्दन ! सबकी रक्षा करना क्षत्रियका धर्म है, अतः तुम्हारा धर्म भी यही है। अपने धर्मका पालन करो। विनयशील बने रहो और इन्द्रियोंको वशमें रक्खो ॥ ३७ ॥

वृद्धैः सम्मन्त्र्य सद्भिश्च बुद्धिमद्भिः श्रुतान्वितैः।
आस्थितः शास्ति दण्डेन व्यसनी परिभूयते ॥ ३८ ॥

वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, बुद्धिमान् तथा बड़े-बूढ़े श्रेष्ठ पुरुषोंसे सलाह करके उनका कृपापात्र बना हुआ राजा ही दण्डनीतिके द्वारा शासन कर सकता है। जो राजा दुर्व्यसनोंमें आसक्त होता है, उसका पराभव हो जाता है ॥ ३८ ॥

निग्रहानुग्रहैः सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते।
तदा भवन्ति लोकस्य मर्यादाः सुव्यवस्थिताः ॥ ३९ ॥

जब राजा निग्रह और अनुग्रहके द्वारा प्रजावर्गके साथ यथोचित वर्ताव करता है, तभी लोककी सम्पूर्ण मर्यादाएँ सुरक्षित होती हैं ॥ ३९ ॥

तस्माद् देशे च दुर्गे च शत्रुमित्रबलेषु च।
नित्यं चारेण बोद्धव्यं स्थानं वृद्धिः क्षयस्तथा ॥ ४० ॥

इसलिये राजाको उचित है कि वह देश और दुर्गमें अपने शत्रु और मित्रोंके सैनिकोंकी स्थिति, वृद्धि और क्षयका गुप्तचरोंद्वारा सदा पता लगाता रहे ॥ ४० ॥

राज्ञामुपायश्चारश्च बुद्धिमन्त्रपराक्रमाः।
निग्रहप्रग्रहौ चैव दाक्ष्यं वै कार्यसाधकम् ॥ ४१ ॥

साम, दान, दण्ड, भेद—ये चार उपाय, गुप्तचर, उत्तम बुद्धि, सुरक्षित मन्त्रणा, पराक्रम, निग्रह, अनुग्रह और चतुरता—ये राजाओंके लिये कार्य-सिद्धिके साधन हैं ॥४१॥

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च।
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगतः ॥ ४२ ॥

साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन नीतियोंमें-से एक-दोके द्वारा या सबके एक साथ प्रयोगद्वारा राजाओंको अपने कार्य सिद्ध करने चाहिये ॥ ४२ ॥

मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ।
सुमन्त्रितेन या सिद्धिस्तां द्विजैः सह मन्त्रयेत् ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सारी नीतियों और गुप्तचरोंका मूल आधार है मन्त्रणाको गुप्त रखना। उत्तम मन्त्रणा या विचारसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसके लिये द्विजोंके साथ गुप्त परामर्श करना चाहिये ॥ ४३ ॥

स्त्रिया मूढेन बालेन लुब्धेन लघुनापि वा।
न मन्त्रयीत गुह्यानि येषु चोन्मादलक्षणम् ॥ ४४ ॥

स्त्री, मूर्ख, बालक, लोभी और नीच पुरुषोंके साथ तथा जिसमें उन्मादका लक्षण दिखायी दे, उसके साथ भी गुप्त परामर्श न करे ॥ ४४ ॥

मन्त्रयेत् सह विद्वद्भिः शक्तैः कर्माणि कारयेत्।
स्निग्धैश्च नीतिविन्यासान् मूर्खान् सर्वत्र वर्जयेत् ॥ ४५ ॥

विद्वानोंके साथ ही गुप्त मन्त्रणा करनी चाहिये। जो शक्तिशाली हों, उन्हींसे कार्य कराने चाहिये। जो स्नेही (सुहृद्) हों उन्हींके द्वारा नीतिके प्रयोगका काम कराना चाहिये। मूर्खोंको तो सभी कार्योंसे अलग रखना चाहिये ॥ ४५ ॥

धार्मिकान् धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान्।
स्त्रीषु क्लीबान् नियुञ्जीत क्रूरान् क्रूरेषु कर्मसु ॥ ४६ ॥

राजाको चाहिये कि वह धर्मके कार्योंमें धार्मिक पुरुषोंको, अर्थसम्बन्धी कार्योंमें अर्थ-शास्त्रके पण्डितोंको, स्त्रियोंकी देख-भालके लिये नपुंसकोंको और कठोर कार्योंमें क्रूर स्वभावके मनुष्योंको लगावे ॥ ४६ ॥

स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च कार्याकार्यसमुद्भवा।
बुद्धिः कर्मसु विज्ञेया रिपूणां च बलाबलम् ॥ ४७ ॥

बहुत-से कार्योंको आरम्भ करते समय अपने तथा शत्रु-पक्षके लोगोंसे भी यह सलाह लेनी चाहिये कि अमुक काम करने योग्य है या नहीं। साथ ही, शत्रुकी प्रबलता और दुर्बलताको भी जाननेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४७ ॥

बुद्ध्या स्वप्रतिपन्नेषु कुर्यात् साधुष्वनुग्रहम् ।
निग्रहं चाप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत् ॥ ४८ ॥

बुद्धिसे सोच-विचारकर अपनी शरणमें आये हुए श्रेष्ठ कर्म करनेवाले पुरुषोंपर अनुग्रह करना चाहिये और मर्यादा भङ्ग करनेवाले दुष्ट पुरुषोंको दण्ड देना चाहिये ॥ ४८ ॥

निग्रहे प्रग्रहे सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता ॥ ४९ ॥

जब राजा निग्रह और अनुग्रहमें ठीक तौरसे प्रवृत्त होता है, तभी लोककी मर्यादा सुरक्षित रहती है ॥ ४९ ॥

एष तेऽभिहितः पार्थ घोरो धर्मो दुरन्वयः ।
तं स्वधर्मविभागेन विनयस्थोऽनुपालय ॥ ५० ॥

कुन्तीनन्दन ! यह मैंने तुम्हें कठोर राज्य-धर्मका उपदेश दिया है । इसके मर्मको समझना अत्यन्त कठिन है । तुम अपने धर्मके विभागानुसार विनीत भावसे इसका पालन करो॥

तपोधर्मदमेज्याभिर्विप्रा यान्ति यथा दिवम् ।
दानातिथ्यक्रियाधर्मैर्यान्ति वैश्याश्च सद्गतिम् ॥ ५१ ॥
क्षत्रं याति तथा स्वर्गं भुवि निग्रहपालनैः ।
सम्यक् प्रणीतदण्डा हि कामद्वेषविवर्जिताः ।
अलुब्धा विगतक्रोधाः सतां यान्ति सलोकताम् ॥ ५२ ॥

जैसे तपस्या, धर्म, इन्द्रिय-संयम और यज्ञानुष्ठानके द्वारा ब्राह्मण उत्तम लोकमें जाते हैं तथा जिस प्रकार वैश्य दान और आतिथ्यरूप धर्मोंसे उत्तम गति प्राप्त कर लेते हैं; उसी प्रकार इस लोकमें निग्रह और अनुग्रहके यथोचित प्रयोगसे क्षत्रिय स्वर्गलोकमें जाता है । जिनके द्वारा दण्डनीतिका उचित रीतिसे प्रयोग किया गया है, जो राग-द्वेषसे रहित, लोभशून्य तथा क्रोधहीन हैं; वे क्षत्रिय सत्पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले लोकोंमें जाते हैं ॥ ५१-५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसेनसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्‌जीका भीमसेनको आश्वासन और विदा देकर अन्तर्धान होना

वैशम्पायन उवाच

ततः संहृत्य विपुलं तद् वपुः कामतः कृतम् ।
भीमसेनं पुनर्दोर्भ्यां पर्यष्वजत वानरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अपनी इच्छासे बढ़ाये हुए उस विशाल शरीरका उपसंहार कर वानरराज हनुमान्‌जीने अपनी दोनों भुजाओंद्वारा भीमसेनको हृदयसे लगा लिया ॥ १ ॥

परिष्वक्तस्य तस्याशु भ्रात्रा भीमस्य भारत ।
श्रमो नाशमुपागच्छत् सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम् ॥ २ ॥

भारत ! भाईका आलिङ्गन प्राप्त होनेपर भीमसेनकी सारी थकावट तत्काल नष्ट हो गयी और सब कुछ उन्हें अनुकूल प्रतीत होने लगा ॥ २ ॥

बलं चातिबलो मेने न मेऽस्ति सदृशो महान् ।
ततः पुनरथोवाच पर्यश्रुनयनो हरिः ॥ ३ ॥
भीममाभाष्य सौहार्दाद् बाष्पगद्गदया गिरा ।
गच्छ वीर स्वमावासं स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ॥ ४ ॥

अत्यन्त बलशाली भीमसेनको यह अनुभव हुआ कि मेरा बल बहुत बढ़ गया । अब मेरे समान दूसरा कोई महान् नहीं है । फिर हनुमान्‌जीने अपने नेत्रोंमें आँसू भरकर सौहार्दसे गद्गदवाणीद्वारा भीमसेनको सम्बोधित करके कहा—



'वीर ! अब तुम अपने निवासस्थानपर जाओ । बातचीतके प्रसङ्गमें कभी मेरा भी स्मरण करते रहना ॥ ३-४ ॥

इहस्थश्च कुरुश्रेष्ठ न निवेद्योऽस्मि कर्हिचित् ।

धनदस्यालयाच्चापि विसृष्टानां महाबल ॥ ५ ॥
देशकाल इहायातुं देवगन्धर्वयोषिताम् ।
ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चास्मि राघवम् ॥ ६ ॥
रामाभिधानं विष्णुं हि जगद्धृदयनन्दनम् ।
सीतावक्त्रारविन्दार्कं दशास्यध्वान्तभास्करम् ॥ ७ ॥
मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह ।
तदस्मद्दर्शनं वीर कौन्तेयामोघमस्तु ते ॥ ८ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! मैं इस स्थानपर रहता हूँ, यह बात कभी किसीसे न कहना । महाबली वीर ! अब कुबेरके भवनसे भेजी हुई देवाङ्गनाओं तथा गन्धर्व-सुन्दरियोंके यहाँ आनेका समय हो गया है । भीम ! तुम्हें देखकर मेरी भी आँखें सफल हो गयीं । तुम्हारे साथ मिलकर तुम्हारे मानवशरीरका स्पर्श करके मुझे उन भगवान् रामचन्द्रजीका स्मरण हो आया है, जो श्रीराम-नामसे प्रसिद्ध साक्षात् विष्णु हैं । जगत्के हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाले, मिथिलेश-नन्दिनी सीताके मुखारविन्दको विकसित करनेके लिये सूर्यके समान तेजस्वी तथा दशमुख रावणरूपी अन्धकारराशिको नष्ट करनेके लिये साक्षात् भुवन-भास्कररूप हैं । वीर कुन्तीकुमार ! तुमने जो मेरा दर्शन किया है, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये ॥ ५-८ ॥

भ्रातृत्वं त्वं पुरस्कृत्य वरं वरय भारत ।
यदि तावन्मया क्षुद्रा गत्वा वारणसाह्वयम् ॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा निहन्तव्या यावदेतत् करोम्यहम् ।
शिलया नगरं वापि मर्दितव्यं मया यदि ॥ १० ॥
बद्ध्वा दुर्योधनं चाद्य आनयामि तवान्तिकम् ।
यावदेतत् करोम्यद्य कामं तव महाबल ॥ ११ ॥

'भारत ! तुम मुझे अपना बड़ा भाई समझकर कोई वर माँगो । यदि तुम्हारी इच्छा हो कि मैं हस्तिनापुरमें जाकर तुच्छ धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मार डालूँ तो मैं यह भी कर सकता हूँ अथवा यदि तुम चाहो कि मैं पत्थरोंकी वर्षासे सारे नगरको रौंदकर धूलमें मिला दूँ अथवा दुर्योधनको बाँधकर अभी तुम्हारे पास ला दूँ तो यह भी कर सकता हूँ । महाबली वीर ! तुम्हारी जो इच्छा हो, वही पूर्ण कर दूँगा' ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तद् वाक्यं श्रुत्वा तस्य महात्मनः ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १२ ॥
कृतमेव त्वया सर्वं मम वानरपुङ्गव ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाबाहो कामये त्वां प्रसीद मे ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा हनुमान्जीका यह वचन सुनकर भीमसेनने हर्षोल्लासपूर्ण हृदयसे हनुमान्जीको इस प्रकार उत्तर दिया—'वानरशिरोमणे ! आपने मेरा यह सब कार्य कर दिया । आपका कल्याण हो । महाबाहो ! अब आपसे मेरी इतनी ही कामना है कि आप मुझपर प्रसन्न रहिये—मुझपर आपकी कृपा बनी रहे ॥

सनाथाः पाण्डवाः सर्वे त्वया नाथेन वीर्यवन् ।
तवैव तेजसा सर्वान् विजेष्यामो वयं परान् ॥ १४ ॥

'शक्तिशाली वीर ! आप-जैसे नाथ (संरक्षक) को पाकर सब पाण्डव सनाथ हो गये । आपके ही प्रभावसे हमलोग अपने सब शत्रुओंको जीत लेंगे' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु हनुमान् भीमसेनमभाषत ।
भ्रातृत्वात् सौहृदाच्चैव करिष्यामि प्रियं तव ॥ १५ ॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर हनुमान्जीने उनसे कहा—'तुम मेरे भाई और सुहृद् हो, इसलिये मैं तुम्हारा प्रिय अवश्य करूँगा ॥ १५ ॥

चमूं विगाह्य शत्रूणां शरशक्तिसमाकुलाम् ।
यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महाबल ॥ १६ ॥
तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव ।
विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान् मोक्ष्यामि दारुणान् ॥ १७ ॥
शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ ।
एवमाभाष्य हनुमांस्तदा पाण्डवनन्दनम् ॥ १८ ॥
मार्गमाख्याय भीमाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ १९ ॥

'महाबली वीर ! जब तुम बाण और शक्तिके आघातसे व्याकुल हुई शत्रुओंकी सेनामें घुसकर सिंहनाद करोगे, उस समय मैं अपनी गर्जनासे तुम्हारे उस सिंहनादको और बढ़ा दूँगा । उसके सिवा अर्जुनकी ध्वजापर बैठकर मैं ऐसी भीषण गर्जना करूँगा, जो शत्रुओंके प्राणोंको हरनेवाली होगी, जिससे तुमलोग उन्हें सुगमतासे मार सकोगे ।' पाण्डवोंका आनन्द बढ़ानेवाले भीमसेनसे ऐसा कहकर हनुमान्जीने उन्हें जानेके लिये मार्ग बता दिया और स्वयं वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १६-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे हनुमद्भीमसंवादे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें गन्धमादन पर्वतपर हनुमान्जी और भीमसेनका संवाद विषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका सौगन्धिक वनमें पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

गते तस्मिन् हरिवरे भीमोऽपि बलिनां वरः।
तेन मार्गेण विपुलं व्यचरद् गन्धमादनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन कपिप्रवर हनुमान्‌जीके चले जानेपर बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन भी उनके बताये हुए मार्गसे विशाल गन्धमादन पर्वतपर विचरने लगे॥

अनुस्मरन् वपुस्तस्य श्रियं चाप्रतिमां भुवि।
माहात्म्यमनुभावं च स्मरन् दाशरथेर्ययौ ॥ २ ॥

मार्गमें वे हनुमान्‌जीके उस अद्भुत विशाल विग्रह और अनुपम शोभाका तथा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीके अलौकिक माहात्म्य एवं प्रभावका बारंबार स्मरण करते जाते थे ॥२॥

स तानि रमणीयानि वनान्युपवनानि च।
विलोकयामास तदा सौगन्धिकवनेप्सया ॥ ३ ॥
फुल्लद्रुमविचित्राणि सरांसि सरितस्तथा।
नानाकुसुमचित्राणि पुष्पितानि वनानि च ॥ ४ ॥

सौगन्धिक वनको प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने उस समय वहाँके सभी रमणीय वनों और उपवनोंका अवलोकन किया। विकसित वृक्षोंके कारण विचित्र शोभा धारण करनेवाले कितने ही सरोवर और सरिताओंपर दृष्टिपात किया तथा अनेक प्रकारके कुसुमोंसे अद्भुत प्रतीत होनेवाले खिले फूलोंसे युक्त काननोंका भी निरीक्षण किया ॥ ३-४ ॥

मत्तवारणयूथानि पङ्कक्लिन्नानि भारत।
वर्षतामिव मेघानां वृन्दानि ददृशे तदा ॥ ५ ॥

भारत ! उस समय बहते हुए मदके पङ्कसे भीगे मतवाले गजराजोंके अनेकानेक यूथ वर्षा करनेवाले मेघोंके समूहके समान दिखलायी देते थे ॥ ५ ॥

हरिणैश्चपलापाङ्गैर्हरिणीसहितैर्वनम् ।
सशष्पकवलैः श्रीमान् पथि दृष्ट्वा द्रुतं ययौ ॥ ६ ॥

शोभाशाली भीमसेन मुँहमें हरी घासका कौर लिये हुए चञ्चल नेत्रोंवाले हरिणों और हरिणियोंसे युक्त उस वनकी शोभा देखते हुए बड़े वेगसे चले जा रहे थे ॥ ६ ॥

महिषैश्च वराहैश्च शार्दूलैश्च निषेवितम्।
व्यपेतभीर्गिरिं शौर्याद् भीमसेनो व्यगाहत ॥ ७ ॥

उन्होंने अपनी अद्भुत शूरतासे निर्भय होकर भैंसों, वराहों और सिंहोंसे सेवित गहन वनमें प्रवेश किया ॥ ७ ॥

कुसुमानन्तगन्धैश्च ताम्रपल्लवकोमलैः।
याच्यमान इवारण्ये द्रुमैर्मारुतकम्पितैः ॥ ८ ॥

फूलोंकी अनन्त सुगन्धसे वासित तथा लाल-लाल पल्लवोंके कारण कोमल प्रतीत होनेवाले वृक्ष हवाके वेगसे हिल-हिलकर मानो उस वनमें भीमसेनसे याचना कर रहे थे ॥८॥

कृतपद्माञ्जलिपुटा मत्तषट्पदसेविताः।
प्रियतीर्थवना मार्गे पद्मिनीः समतिक्रमन् ॥ ९ ॥

मार्गमें उन्हें अनेक ऐसी पुष्करिणियोंको लाँघना पड़ा, जिनके घाट और वन देखनेमें बहुत प्रिय लगते थे। मतवाले भ्रमर उनका सेवन करते थे तथा वे सम्पुटित कमलकोषोंसे अलंकृत हो ऐसी जान पड़ती थीं, मानो उन्होंने कमलोंकी अञ्जलि बाँध रक्खी थी ॥ ९ ॥

मज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ॥ १० ॥

भीमसेनका मन और उनके नेत्र कुसुमोंसे अलंकृत पर्वतीय शिखरोंपर लगे थे। द्रौपदीका अनुरोधपूर्ण वचन ही उनके लिये पाथेय था और इस अवस्थामें वे अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे ॥ १० ॥

परिवृत्तेऽहनि ततः प्रकीर्णहरिणे वने।
काञ्चनैर्विमलैः पद्मैर्ददर्श विपुलां नदीम् ॥ ११ ॥

दिन बीतते-बीतते भीमसेनने एक वनमें, जहाँ चारों ओर बहुतसे हरिण विचर रहे थे, सुन्दर सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित विशाल नदी देखी ॥ ११ ॥

हंसकारण्डवयुतां चक्रवाकोपशोभिताम्।
रचितामिव तस्याद्रेर्मालां विमलपङ्कजाम् ॥ १२ ॥

उसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी निवास करते थे। चक्रवाक उसकी शोभा बढ़ाते थे। वह नदी क्या थी उस पर्वतके लिये स्वच्छ सुन्दर कमलोंकी माला-सी रची गयी थी ॥ १२ ॥

तस्यां नद्यां महासत्त्वः सौगन्धिकवनं महत्।
अपश्यत् प्रीतिजननं बालार्कसदृशद्युति ॥ १३ ॥

महान् धैर्य और उत्साहसे सम्पन्न वीरवर भीमसेनने उसी नदीमें विशाल सौगन्धिक वन देखा, जो उनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला था। उस वनसे प्रभातकालीन सूर्यकी भाँति प्रभा फैल रही थी ॥ १३ ॥

तद् दृष्ट्वा लब्धकामः स मनसा पाण्डुनन्दनः।
वनवासपरिक्लिष्टां जगाम मनसा प्रियाम् ॥ १४ ॥

उस वनको देखकर पाण्डुनन्दन भीमने मन-ही-मन यह अनुभव किया कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। फिर उन्हें वनवासके क्लेशोंसे पीड़ित अपनी प्रियतमा द्रौपदीकी याद आ गयी ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थ-यात्रा पर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिक कमलको लानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

क्रोधवश नामक राक्षसोंका भीमसेनसे सरोवरके निकट आनेका कारण पूछना

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा नलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम्।
कैलासशिखराभ्याशे ददर्श शुभकाननाम् ॥ १ ॥
कुबेरभवनाभ्याशे जातां पर्वतनिर्झरैः।
सुरम्यां विपुलच्छायां नानाद्रुमलताकुलाम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार आगे बढ़नेपर भीमसेनने कैलास पर्वतके निकट कुबेरभवनके समीप एक रमणीय सरोवर देखा, जिसके आस-पास सुन्दर वनस्थली शोभा पा रही थी। बहुतसे राक्षस उसकी रक्षाके लिये नियुक्त थे। वह सरोवर पर्वतीय झरनोंके जलसे भरा था। वह देखनेमें बहुत ही सुन्दर, घनी छायासे सुशोभित तथा अनेक प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त था ॥१-२॥

हरिताम्बुजसंछन्नां दिव्यां कनकपुष्कराम्।
नानापक्षिजनाकीर्णां सूपतीर्थामकर्दमाम् ॥ ३ ॥

हरे रङ्गके कमलोंसे वह दिव्य सरोवर ढका हुआ था। उसमें सुवर्णमय कमल खिले थे। वह नाना प्रकारके पक्षियोंसे युक्त था। उसका किनारा बहुत सुन्दर था और उसमें कीचड़ नहीं था ॥ ३ ॥

अतीवरम्यां सुजलां जातां पर्वतसानुषु।
विचित्रभूतां लोकस्य शुभामद्भुतदर्शनाम् ॥ ४ ॥

वह सरोवर अत्यन्त रमणीय, सुन्दर जलसे परिपूर्ण, पर्वतीय शिखरोंके झरनोंसे उत्पन्न, देखनेमें विचित्र, लोकके लिये मङ्गलकारक तथा अद्भुत दृश्यसे सुशोभित था ॥ ४ ॥

तत्रामृतरसं शीतं लघु कुन्तीसुतः शुभम्।
ददर्श विमलं तोयं पिवंश्च बहु पाण्डवः ॥ ५ ॥

उस सरोवरमें कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीमने अमृतके समान स्वादिष्ट, शीतल, हल्का, शुभकारक और निर्मल जल देखा तथा उसे भरपेट पीया ॥ ५ ॥

तां तु पुष्करिणीं रम्यां दिव्यसौगन्धिकावृताम्।
जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः ॥ ६ ॥
वैदूर्यवरनालैश्च बहुचित्रैर्मनोरमैः।
हंसकारण्डवोद्धूतैः सृजद्भिरमलं रजः ॥ ७ ॥

वह सरोवर दिव्य सौगन्धिक कमलोंसे आवृत तथा रमणीय था। परम सुगन्धित सुवर्णमय कमल उसे ढँके हुए थे। उन कमलोंकी नाल उत्तम वैदूर्यमणिमय थी। वे कमल देखनेमें अत्यन्त विचित्र और मनोरम थे। हंस और कारण्डव आदि पक्षी उन कमलोंको हिलाते रहते थे, जिससे वे निर्मल पराग प्रकट किया करते थे ॥ ६-७ ॥

आक्रीडं राजराजस्य कुबेरस्य महात्मनः।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम् ॥ ८ ॥

वह सरोवर राजाधिराज महाबुद्धिमान् कुबेरका क्रीडा-स्थल था। गन्धर्व, अप्सरा और देवता भी उसकी बड़ी प्रशंसा करते थे ॥ ८ ॥

सेवितामृषिभिर्दिव्यैर्यक्षैः किम्पुरुषैस्तथा।
राक्षसैः किन्नरैश्चापि गुप्तां वैश्रवणेन च ॥ ९ ॥

दिव्य ऋषि-मुनि, यक्ष, किम्पुरुष, राक्षस और किन्नर उसका सेवन करते थे तथा साक्षात् कुबेरके द्वारा उसके संरक्षणकी व्यवस्था की जाती थी ॥ ९ ॥

तां च दृष्ट्वैव कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः।
बभूव परमप्रीतो दिव्यं सम्प्रेक्ष्य तत् सरः ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन महाबली भीमसेन उस दिव्य सरोवरको देखते ही अत्यन्त प्रसन्न हो गये ॥ १० ॥

तच्च क्रोधवशा नाम राक्षसा राजशासनात्।
रक्षन्ति शतसाहस्राश्चित्रायुधपरिच्छदाः ॥ ११ ॥

महाराज कुबेरके आदेशसे क्रोधवश नामक राक्षस, जिनकी संख्या एक लाख थी, विचित्र आयुध और वेश-भूषासे सुसज्जित हो उसकी रक्षा करते थे ॥ ११ ॥

ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयमजिनैः प्रतिवासितम्।
रुक्माङ्गदधरं वीरं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १२ ॥
सायुधं बद्धनिस्त्रिंशमशङ्कितमरिंदमम्।
पुष्करेप्सुमुपायान्तमन्योन्यमभिचुक्रुशुः ॥ १३ ॥

उस समय भयानक पराक्रमी कुन्तीकुमार वीरवर भीम

अपने अङ्गोंमें मृगचर्म लपेटे हुए थे। भुजाओंमें सोनेके अङ्गद (बाजूबंद) पहन रक्खे थे। वे धनुष और गदा आदि आयुधोंसे युक्त थे। उन्होंने कमरमें तलवार बाँध रक्खी थी। वे शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ और निर्भीक थे। उन्हें कमल लेनेकी इच्छासे वहाँ आते देख वे पहरा देनेवाले राक्षस आपसमें कोलाहल करने लगे ॥ १२-१३ ॥

अयं पुरुषशार्दूलः सायुधोऽजिनसंवृतः।
यच्चिकीर्षुरिह प्राप्तस्तत् सम्प्रष्टुमिहार्हथ ॥ १४ ॥

उनमें परस्पर इस प्रकार बातचीत हुई—'देखो यह नरश्रेष्ठ मृगचर्मसे आच्छादित होनेपर भी हाथमें आयुध लिये हुए है। यह यहाँ जिस कार्यके लिये आया है, उसे पूछो' ॥ १४ ॥

ततः सर्वे महाबाहुं समासाद्य वृकोदरम्।
तेजोयुक्तमपृच्छन्त कस्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ १५॥

तब वे सब राक्षस परम तेजस्वी महाबाहु भीमसेनके पास आकर पूछने लगे—'तुम कौन हो?' यह बताओ ॥१५॥

मुनिवेषधरश्चैव सायुधश्चैव लक्ष्यसे।
यदर्थमभिसम्प्राप्तस्तदाचक्ष्व महामते ॥ १६॥

'महामते! तुमने वेष तो मुनियोंका-सा धारण कर रक्खा है; परंतु आयुधोंसे सम्पन्न दिखायी देते हो। तुम किसलिये यहाँ आये हो?' बताओ ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा क्रोधवश नामक राक्षसोंकी पराजय और द्रौपदीके लिये सौगन्धिक कमलोंका संग्रह करना

भीम उवाच

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः।
विशालां बदरीं प्राप्तो भ्रातृभिः सह राक्षसाः ॥ १ ॥
अपश्यत् तत्र पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम्।
अनिलोढमितो नूनं सा बहूनि परीप्सति ॥ २ ॥

भीमसेन बोले—राक्षसो! मैं धर्मराज युधिष्ठिरका छोटा भाई पाण्डुपुत्र भीमसेन हूँ और भाइयोंके साथ विशाला बदरी नामक तीर्थमें आकर ठहरा हूँ। वहाँ पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीने सौगन्धिक नामक एक परम उत्तम कमल देखा। उसे देखकर वह उसी तरहके और भी बहुत-से पुष्प प्राप्त करना चाहती है, जो निश्चय ही यहींसे हवामें उड़कर वहाँ पहुँचा होगा ॥ १-२ ॥

तस्या मामनवद्याङ्ग्या धर्मपत्न्याः प्रिये स्थितम्।
पुष्पाहारमिह प्राप्तं निबोधत निशाचराः ॥ ३ ॥

निशाचरो! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैं उसी अनिन्द्य सुन्दरी धर्मपत्नीका प्रिय मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उद्यत हो बहुत-से सौगन्धिक पुष्पोंका अपहरण करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ३ ॥

राक्षसा ऊचुः

आक्रीडोऽयं कुबेरस्य दयितः पुरुषर्षभ।
नेह शक्यं मनुष्येण विहर्तुं मर्त्यधर्मणा ॥ ४ ॥

राक्षसोंने कहा—नरश्रेष्ठ! यह सरोवर कुबेरकी परम प्रिय क्रीड़ास्थली है। इसमें मरणधर्मा मनुष्य विहार नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

देवर्षयस्तथा यक्षा देवाश्चात्र वृकोदर।
आमन्त्र्य यक्षप्रवरं पिबन्ति रमयन्ति च।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव विहरन्त्यत्र पाण्डव ॥ ५ ॥

वृकोदर! देवर्षि, यक्ष तथा देवता भी यक्षराज कुबेरकी अनुमति लेकर ही यहाँका जल पीते और इसमें विहार करते हैं। पाण्डुनन्दन! गन्धर्व और अप्सराएँ भी इसी नियमके अनुसार यहाँ विहार करती हैं ॥ ५ ॥

अन्यायेनेह यः कश्चिदवमान्य धनेश्वरम्।
विहर्तुमिच्छेद् दुर्वृत्तः स विनश्येन्न संशयः ॥ ६ ॥

जो कोई दुराचारी पुरुष धनाध्यक्ष कुबेरकी अवहेलना करके अन्यायपूर्वक यहाँ विहार करना चाहेगा, वह नष्ट हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

तमनादृत्य पद्मानि जिहीर्षसि बलाद्‌इतः।
धर्मराजस्य चात्मानं ब्रवीषि भ्रातरं कथम् ॥ ७ ॥

भीमसेन! तुम अपने बलके घमंडमें आकर कुबेरकी अवहेलना करके यहाँसे कमलपुष्पोंका अपहरण करना चाहते हो। ऐसी दशामें अपने-आपको धर्मराजका भाई कैसे बता रहे हो? ॥ ७ ॥

आमन्त्र्य यक्षराजं वै ततः पिब हरस्व च।
नातोऽन्यथा त्वया शक्यं किंचित् पुष्करमीक्षितुम् ॥

पहले यक्षराजकी आज्ञा ले लो, उसके बाद इस सरोवरका जल पीओ और यहाँसे कमलके फूल ले जाओ। ऐसा किये बिना तुम यहाँके किसी कमलकी ओर देख भी नहीं सकते ॥

भीमसेन उवाच

राक्षसास्तं न पश्यामि धनेश्वरमिहान्तिके ।
दृष्ट्वापि च महाराजं नाहं याचितुमुत्सहे ॥ ९ ॥
न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः ।
न चाहं हातुमिच्छामि क्षात्रधर्मं कथंचन ॥ १० ॥

भीमसेन बोले—राक्षसो ! प्रथम तो मैं यहाँ आस-पास कहीं भी धनाध्यक्ष कुबेरको देख नहीं रहा हूँ, दूसरे यदि मैं उन महाराजको देख भी लूँ तो भी उनसे याचना नहीं कर सकता, क्योंकि क्षत्रिय किसीसे कुछ माँगते नहीं हैं, यही उनका सनातन धर्म है । मैं किसी तरह क्षात्र-धर्मको छोड़ना नहीं चाहता ॥ ९-१० ॥

इयं च नलिनी रम्या जाता पर्वतनिर्झरे ।
नेयं भवनमासाद्य कुबेरस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

यह रमणीय सरोवर पर्वतीय झरनोंसे प्रकट हुआ है, यह महामना कुबेरके घरमें नहीं है ॥ ११ ॥

तुल्या हि सर्वभूतानामियं वैश्रवणस्य च ।
एवं गतेषु द्रव्येषु कः कं याचितुमर्हति ॥ १२ ॥

अतः इसपर अन्य सब प्राणियोंका और कुबेरका भी समान अधिकार है । ऐसी सार्वजनिक वस्तुओंके लिये कौन किससे याचना करेगा ? ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा राक्षसान् सर्वान् भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
व्यगाहत महाबाहुर्नलिनीं तां महाबलः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सभी राक्षसोंसे ऐसा कहकर अमर्षमें भरे हुए महाबली महाबाहु भीमसेन उस सरोवरमें प्रवेश करने लगे ॥ १३ ॥

ततः स राक्षसैर्वाचा प्रतिषिद्धः प्रतापवान् ।
मा मैवमिति सक्रोधैर्भर्त्सयद्भिः समन्ततः ॥ १४ ॥

उस समय क्रोधमें भरे राक्षस चारों ओरसे प्रतापी भीमको फटकारते हुए वाणीद्वारा रोकने लगे—'नहीं-नहीं, ऐसा न करो' ॥ १४ ॥

कदर्थीकृत्य तु स तान् राक्षसान् भीमविक्रमः ।
व्यगाहत महातेजास्ते तं सर्वे न्यवारयन् ॥ १५ ॥

परंतु भयंकर पराक्रमी महातेजस्वी भीम उन सब राक्षसोंकी अवहेलना करके उस जलाशयमें उतर ही गये । यह देख सब राक्षस उन्हें रोकनेकी चेष्टा करते हुए चिल्ला उठे—॥ १५ ॥

गृह्णीत बध्नीत विकर्ततेमं
पचाम खादाम च भीमसेनम् ।
क्रुद्धा ब्रुवन्तोऽभिययुर्द्रुतं ते
शस्त्राणि चोद्यम्य विवृत्तनेत्राः ॥ १६ ॥

'अरे ! इसे पकड़ो, बाँध लो, काट डालो, हम सब लोग इस भीमको पकायेंगे और खा जायँगे ।' क्रोधपूर्वक उपर्युक्त बातें कहते और आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए वे सभी राक्षस शस्त्र उठाकर तुरंत उनकी ओर दौड़े ॥ १६ ॥

ततः स गुर्वीं यमदण्डकल्पां
महागदां काञ्चनपट्टनद्धाम् ।
प्रगृह्य तानभ्यपतत् तरस्वी
ततोऽब्रवीत् तिष्ठत तिष्ठतेति ॥ १७ ॥

तब भीमसेनने यमदण्डके समान विशाल और भारी गदा उठा ली, जिसपर सोनेका पत्र मढ़ा हुआ था । उसे लेकर वे बड़े वेगसे उन राक्षसोंपर टूट पड़े और ललकारते हुए बोले—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥ १७ ॥



ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यै-
र्व्याविद्धशस्त्रैः सहसा निपेतुः ।
जिघांसवः क्रोधवशाः सुभीमा
भीमं समन्तात् परिवव्रुरुग्राः ॥ १८ ॥
वातेन कुन्त्यां बलवान् सुजातः
शूरस्तरस्वी द्विषतां निहन्ता ।
सत्ये च धर्मे च रतः सदैव
पराक्रमे शत्रुभिरप्रधृष्यः ॥ १९ ॥

यह देख वे भयंकर क्रोधवश नामक राक्षस भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे शत्रुओंके शस्त्रोंको नष्ट कर देनेवाले तोमर, पट्टिश आदि आयुधोंको लेकर सहसा उनकी ओर दौड़े और उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये । वे सब-के-सब

बड़े उग्र स्वभावके थे । इधर भीमसेन कुन्तीदेवीके गर्भसे वायु देवताके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण बड़े बलवान्, शूर-वीर, वेगशाली एवं शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ थे । वे सदा ही सत्य एवं धर्ममें रत थे । पराक्रमी तो वे ऐसे थे कि अनेक शत्रु मिलकर भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते थे ॥१८-१९॥

तेषां स मार्गान् विविधान् महात्मा
विहत्य शस्त्राणि च शात्रवाणाम् ।
यथा प्रवीरान् निजघान भीमः
परं शतं पुष्करिणीसमीपे ॥ २० ॥

महामना भीमने शत्रुओंके भाँति-भाँतिके पैंतरों तथा अस्त्र-शस्त्रोंको विफल करके उनके सौसे भी अधिक प्रमुख वीरोंको उस सरोवरके समीप मार गिराया ॥ २० ॥

ते तस्य वीर्यं च बलं च दृष्ट्वा
विद्याबलं बाहुबलं तथैव ।
अशक्नुवन्तः सहितं समन्ताद्
द्रुतं प्रवीराः सहसा निवृत्ताः ॥ २१ ॥

भीमसेनका पराक्रम, शारीरिक बल, विद्याबल और बाहु-बल देखकर वे वीर राक्षस एक साथ संगठित होकर भी उनका वेग सहनेमें असमर्थ हो गये और सहसा सब ओरसे युद्ध छोड़कर निवृत्त हो गये ॥ २१ ॥

विदीर्यमाणास्तत एव तूर्ण-
माकाशमास्थाय विमूढसंज्ञाः ।
कैलासशृङ्गाण्यभिदुद्रुवुस्ते
भीमार्दिताः क्रोधवशाः प्रभग्नाः ॥ २२ ॥

भीमसेनकी मारसे क्षत-विक्षत एवं पीड़ित हो वे क्रोधवश नामक राक्षस अपनी सुध-बुध खो बैठे थे । अतः उनके पाँव उखड़ गये और वे तुरंत वहाँसे आकाशमें उड़कर कैलासके शिखरोंपर भाग गये ॥ २२ ॥

स शक्रवद् दानवदैत्यसङ्घान्
विक्रम्य जित्वा च रणेऽरिसङ्घान् ।
विगाह्य तां पुष्करिणीं जितारिः
कामाय जग्राह ततोऽम्बुजानि ॥ २३ ॥

शत्रुविजयी भीम इन्द्रकी भाँति पराक्रम करके दानव और दैत्योंके दलको युद्धमें हराकर उस सरोवरमें प्रविष्ट हो इच्छानुसार कमलोंका संग्रह करने लगे ॥ २३ ॥

ततः स पीत्वामृतकल्पमम्भो
भूयो बभूवोत्तमवीर्यतेजाः ।
उत्पाट्य जग्राह च सोऽम्बुजानि
सौगन्धिकान्युत्तमगन्धवन्ति ॥ २४ ॥

तदनन्तर उस सरोवरका अमृतके समान मधुर जल पीकर वे पुनः उत्तम बल और तेजसे सम्पन्न हो गये और श्रेष्ठ सुगन्धसे युक्त सौगन्धिक कमलोंको उखाड़-उखाड़कर संगृहीत करने लगे ॥ २४ ॥

ततस्तु ते क्रोधवशाः समेत्य
धनेश्वरं भीमबलप्रणुन्नाः ।
भीमस्य वीर्यं च बलं च संख्ये
यथावदाचख्युरतीव भीताः ॥ २५ ॥

तब भीमसेनके बलसे पीड़ित और अत्यन्त भयभीत हुए क्रोधवशोंने धनाध्यक्ष कुबेरके पास जाकर युद्धमें भीमके बल और पराक्रमका यथावत् वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २५ ॥

तेषां वचस्तत् तु निशम्य देवः
प्रहस्य रक्षांसि ततोऽभ्युवाच ।
गृह्णातु भीमो जलजानि कामात्
कृष्णानिमित्तं विदितं ममैतत् ॥ २६ ॥

उनकी बातें सुनकर देवप्रवर कुबेरने हँसकर उन राक्षसोंसे कहा—'मुझे यह मालूम है । भीमसेनको द्रौपदीके लिये इच्छानुसार कमल ले लेने दो' ॥ २६ ॥

ततोऽभ्यनुज्ञाप्य धनेश्वरं ते
जग्मुः कुरूणां प्रवरं विरोषाः ।
भीमं च तस्यां ददृशुर्नलिन्यां
यथोपजोषं विहरन्तमेकम् ॥ २७ ॥

तब धनाध्यक्षकी आज्ञा पाकर वे राक्षस रोषरहित हो कुरुप्रवर भीमके पास गये और उन्हें अकेले ही उस सरोवरमें इच्छानुसार विहार करते देखा ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भयंकर उत्पात देखकर युधिष्ठिर आदिकी चिन्ता और सबका गन्धमादनपर्वतपर सौगन्धिकवनमें भीमसेनके पास पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तानि महार्हाणि दिव्यानि भरतर्षभ ।
बहूनि बहुरूपाणि विरजांसि समाददे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर भीमसेनने अनेक प्रकारके बहुमूल्य, दिव्य और निर्मल बहुतसे सौगन्धिक कमल संगृहीत कर लिये ॥ १ ॥

ततो वायुर्महाञ्शीघ्रो नीचैः शर्करकर्षणः ।
प्रादुरासीद् खरस्पर्शः संग्राममभिचोदयन् ॥ २ ॥

इसी समय गन्धमादन पर्वतपर तीव्र वेगसे बड़े जोरकी आँधी उठी, जो नीचे कंकड़-बालूकी वर्षा करनेवाली थी। उसका स्पर्श तीक्ष्ण था। वह किसी भारी संग्रामकी सूचना देनेवाली थी ॥ २ ॥

पपात महती चोल्का सनिर्घाता महाभया ।
निष्प्रभश्चाभवत् सूर्यश्छन्नरश्मिस्तमोवृतः ॥ ३ ॥

वज्रकी गड़गड़ाहटके साथ अत्यन्त भयदायक भारी उल्कापात होने लगा। सूर्य अन्धकारसे आवृत्त हो प्रभाशून्य हो गये। उनकी किरणें आच्छादित हो गयीं ॥ ३ ॥

निर्घातश्चाभवद् भीमो भीमे विक्रममास्थिते ।
चचाल पृथिवी चापि पांसुवर्षं पपात च ॥ ४ ॥

जिस समय भीम राक्षसोंके साथ युद्धमें भारी पराक्रम दिखा रहे थे, उस समय पृथ्वी हिलने लगी, आकाशमें भीषण गर्जना होने लगी और धूलकी वर्षा आरम्भ हो गयी ॥ ४ ॥

सलोहिता दिशश्चासन् खरवाचो मृगद्विजाः ।
तमोवृतमभूत् सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण दिशाएँ लाल हो गयीं, मृग और पक्षी कठोर शब्द करने लगे, सारा जगत् अन्धकारसे आच्छन्न हो गया और किसीको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ५ ॥

अन्ये च बहवो भीमा उत्पातास्तत्र जज्ञिरे ।
तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः कोऽस्मानभिभविष्यति ।
सज्जीभवत भद्रं वः पाण्डवा युद्धदुर्मदाः ॥ ७ ॥
यथारूपाणि पश्यामि स्वभ्यग्रो नः पराक्रमः ।
एवमुक्त्वा ततो राजा वीक्षांश्चक्रे समन्ततः ॥ ८ ॥

इसके सिवा और भी बहुत-से भयानक उत्पात वहाँ प्रकट होने लगे। यह अद्भुत घटना देखकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने कहा—'कौन हम लोगोंको पराजित कर सकेगा ? रणोन्मत्त पाण्डवो ! तुम्हारा भला हो, तुम युद्धके लिये तैयार हो जाओ। मैं जैसे लक्षण देख रहा हूँ, उससे पता लगता है कि हमारे लिये पराक्रम दिखानेका समय अत्यन्त निकट आ गया है।' ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने चारों ओर दृष्टिपात किया ॥ ६–८ ॥

अपश्यमानो भीमं तु धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ततः कृष्णां यमौ चापि समीपस्थावरिंदमः ॥ ९ ॥
पप्रच्छ भ्रातरं भीमं भीमकर्माणमाहवे ।
कच्चित् क्व भीमः पाञ्चालि किंचित् कृत्यं चिकीर्षति ।१०।

जब भीम नहीं दिखायी दिये, तब शत्रुदमन धर्मनन्दन युधिष्ठिरने द्रौपदी तथा पास ही बैठे हुए नकुल सहदेवसे अपने भाई भीमके सम्बन्धमें, जो रण-भूमिमें भयानक कर्म करनेवाले थे, पूछा—'पाञ्चालराजकुमारी ! भीमसेन कहाँ है ? क्या वे कोई काम करना चाहते हैं ? ॥ ९–१० ॥

कृतवानपि वा वीरः साहसं साहसप्रियः ।
इमे ह्यकस्मादुत्पाता महासमरदर्शनाः ॥ ११ ॥

'अथवा साहसप्रेमी वीरवर भीमने कोई साहसका कार्य तो नहीं कर डाला ? यह अकस्मात् प्रकट हुए उत्पात महान् युद्धके सूचक हैं ॥ ११ ॥

दर्शयन्तो भयं तीव्रं प्रादुर्भूताः समन्ततः ।
तं तथावादिनं कृष्णा प्रत्युवाच मनस्विनी ।
प्रिया प्रियं चिकीर्षन्ती महिषी चारुहासिनी ॥ १२ ॥

'ये चारों ओर तीव्र भयका प्रदर्शन करते हुए प्रकट हो रहे हैं।' धर्मराज युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख मनोहर मुस्कानवाली मनस्विनी महारानी पतिप्रिया द्रौपदीने उनका प्रिय करनेकी इच्छासे इस प्रकार उत्तर दिया—॥१२॥

द्रौपद्युवाच

यत् तत् सौगन्धिकं राजन्नाहृतं मातरिश्वना ।
तन्मया भीमसेनस्य प्रीतयाद्योपपादितम् ॥ १३ ॥
अपि चोक्तो मया वीरो यदि पश्येर्बहून्यपि ।
तानि सर्वाण्युपादाय शीघ्रमागम्यतामिति ॥ १४ ॥

द्रौपदी बोली—राजन् ! आज जो सौगन्धिक पुष्प वायु उड़ा लायी थी, उसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक भीमसेनको दिया और उन वीर-शिरोमणिसे यह भी कहा कि 'यदि इसी तरहके बहुत-से पुष्प तुम्हें दिखायी दें, तो उन सबको लेकर शीघ्र यहाँ लौट आना' ॥ १३–१४ ॥

स तु नूनं महाबाहुः प्रियार्थं मम पाण्डवः ।
प्रागुदीचीं दिशं राजंस्तान्याहर्तुमितो गतः ॥ १५ ॥

महाराज ! मालूम होता है कि वे महाबाहु पाण्डुकुमार निश्चय ही मेरा प्रिय करनेके लिये उन्हीं फूलोंको लानेके निमित्त यहाँसे पूर्वोत्तर दिशाको गये हैं ॥ १५ ॥

उक्तस्त्वेवं तया राजा यमाविदमथाब्रवीत् ।
गच्छाम सहितास्तूर्णं येन यातो वृकोदरः ॥ १६ ॥

द्रौपदीके ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिरने नकुल-सहदेवसे इस प्रकार कहा—'अब हम लोग भी एक साथ शीघ्र ही उसी मार्गपर चलें' जिससे भीमसेन गये हैं ॥ १६ ॥

वहन्तु राक्षसा विप्रान् यथाश्रान्तान् यथाकृशान् ।
त्वमप्यमरसंकाश वह कृष्णां घटोत्कच ॥ १७ ॥

'देवताओंके समान तेजस्वी घटोत्कच ! तुम्हारे साथी राक्षस लोग इन ब्राह्मणोंको, जो जैसे थके और दुर्बल हों,

उसके अनुसार कंधेपर बिठाकर ले चले और तुम भी द्रौपदीको ले चलो ॥ १७ ॥

व्यक्तं दूरमितो भीमः प्रविष्ट इति मे मतिः ।
चिरं च तस्य कालोऽयं स च वायुसमो जवे ॥ १८ ॥
तरस्वी वैनतेयस्य सदृशो भुवि लङ्घने ।
उत्पतेदपि चाकाशं निपतेच्च यथेच्छकम् ॥ १९ ॥

'यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भीमसेन यहाँसे बहुत दूर चले गये हैं, मेरा यही विश्वास है । क्योंकि उनको गये बहुत समय हो गया है तथा वे वेगमें वायुके समान हैं और इस पृथ्वीको लाँघनेमें गरुड़के समान शीघ्रगामी हैं । वे आकाशमें छलाँग मार सकते हैं और इच्छानुसार कहीं भी कूद सकते हैं ॥ १८-१९ ॥

तमन्वियाम भवतां प्रभावाद् रजनीचराः ।
पुरा स नापराध्नोति सिद्धानां ब्रह्मवादिनाम् ॥ २० ॥

'निशाचरो ! भीमसेन ब्रह्मवादी सिद्धोंका कुछ अपराध न कर पावें, इसके पहले ही तुम्हारे प्रभावसे हम उन्हें ढूँढ़ निकालें' ॥ २० ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे हैडिम्बप्रमुखास्तदा ।
उद्देशज्ञाः कुबेरस्य नलिन्या भरतर्षभ ॥ २१ ॥
आदाय पाण्डवांश्चैव तांश्च विप्राननेकशः ।
लोमशेनैव सहिताः प्रययुः प्रीतमानसाः ॥ २२ ॥

जनमेजय ! तब कुबेरके उस सरोवरका पता जाननेवाले उन घटोत्कच आदि सब राक्षसोंने 'तथास्तु' कहकर पाण्डवों तथा उन अनेकानेक ब्राह्मणोंको कंधेपर बैठाकर लोमशजीके साथ वहाँसे प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ २१-२२ ॥

ते सर्वे त्वरिता गत्वा ददृशुः शुभकाननाम् ।
पद्मसौगन्धिकवतीं नलिनीं सुमनोरमाम् ॥ २३ ॥

उन सबने शीघ्रतापूर्वक जाकर सुन्दर वनस्थलीसे सुशोभित वह अत्यन्त मनोरम सरोवर देखा, जिसमें सौगन्धिक कमल थे ॥ २३ ॥

तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे मनस्विनम् ।
ददृशुर्निहतांश्चैव यक्षांश्च विपुलेक्षणान् ॥ २४ ॥
भिन्नकायाक्षिबाहूरून् संचूर्णितशिरोधरान् ।
तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे व्यवस्थितम् ॥ २५ ॥

उसके तटपर मनस्वी महामना भीमको तथा उनके द्वारा मारे गये बड़े-बड़े नेत्रोंवाले यक्षोंको भी देखा,—जिनके शरीर, नेत्र, भुजाएँ और जाँघें छिन्न-भिन्न हो गयी थीं, गर्दन कुचल दी गयी थी; महात्मा भीम उस सरोवरके तटपर खड़े थे ॥ २४-२५ ॥

सक्रोधं स्तब्धनयनं संदष्टदशनच्छदम् ।
उद्यम्य च गदां दोर्भ्यां नदीतीरेष्ववस्थितम् ॥ २६ ॥

उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ था । उनकी आँखें स्तब्ध हो रही थीं । वे दोनों हाथोंसे गदा उठाये और दाँतोंसे ओठ दबाये नदीके तटपर खड़े थे ॥ २६ ॥

प्रजासंक्षेपसमये दण्डहस्तमिवान्तकम् ।
तं दृष्ट्वा धर्मराजस्तु परिष्वज्य पुनः पुनः ॥ २७ ॥

उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो प्रजाके संहार-कालमें दण्ड हाथमें लिये यमराज खड़े हों । भीमसेनको उस अवस्थामें देखकर धर्मराजने उन्हें बार-बार हृदयसे लगाया ॥

उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेय किमिदं कृतम् ।
साहसं बत भद्रं ते देवानामथ चाप्रियम् ॥ २८ ॥

और मधुर वाणीमें कहा—'कुन्तीनन्दन ! यह तुमने क्या कर डाला ? तुम्हारा कल्याण हो । खेदके साथ कहना पड़ता है कि तुम्हारा यह कार्य साहसपूर्ण है और देवताओं-के लिये अप्रिय है ॥ २८ ॥

पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
अनुशिष्य तु कौन्तेयं पद्मानि परिगृह्य च ॥ २९ ॥
तस्यामेव नलिन्यां तु विजह्रुरमरोपमाः ।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रगृहीतशिलायुधाः ॥ ३० ॥
प्रादुरासन् महाकायास्तस्योद्यानस्य रक्षिणः ।
ते दृष्ट्वा धर्मराजानं महर्षिं चापि लोमशम् ॥ ३१ ॥
नकुलं सहदेवं च तथान्यान् ब्राह्मणर्षभान् ।
विनयेन नताः सर्वे प्रणिपत्य च भारत ॥ ३२ ॥
सान्त्विता धर्मराजेन प्रसेदुः क्षणदाचराः ।
विदिताश्च कुबेरस्य तत्र ते कुरुपुङ्गवाः ॥ ३३ ॥
ऊषुर्नातिचिरं कालं रममाणाः कुरूद्वहाः ।
प्रतीक्षमाणा बीभत्सुं गन्धमादनसानुषु ॥ ३४ ॥

'यदि मेरा प्रिय करना चाहते हो तो फिर ऐसा काम न करना ।' भीमसेनको ऐसा उपदेश देकर उन्होंने पूर्वोक्त सौगन्धिक कमल ले लिये और वे देवोपम पाण्डव उसी सरोवरके तटपर इधर-उधर भ्रमण करने लगे । इसी समय शिलाओंको आयुधरूपमें ग्रहण किये, बहुत-से विशालकाय उद्यानरक्षक वहाँ प्रकट हो गये । भारत ! उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर, महर्षि लोमश, नकुल-सहदेव तथा अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको विनयपूर्वक नतमस्तक होकर प्रणाम किया । फिर धर्मराज युधिष्ठिरने उन्हें सान्त्वना दी । इससे वे निशाचर (राक्षस) प्रसन्न हो गये । तदनन्तर वे कुरु-प्रवर पाण्डव धनाध्यक्ष कुबेरकी जानकारीमें कुछ कालतक वहाँ आनन्दपूर्वक टिके रहे और गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते रहे ॥ २९-३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिकाहरणविषयक एकसौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आकाशवाणीके आदेशसे पुनः नरनारायणाश्रममें लौटना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् निवसमानोऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः।
कृष्णया सहितान् भ्रातॄनित्युवाच सहद्विजान्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस सौगन्धिक सरोवरके तटपर निवास करते हुए धर्मराज युधिष्ठिरने एक दिन ब्राह्मणों तथा द्रौपदीसहित अपने भाइयोंसे इस प्रकार कहा—॥

दृष्टानि तीर्थान्यस्माभिः पुण्यानि च शिवानि च।
मनसो ह्लादनीयानि वनानि च पृथक् पृथक्॥ २॥

'हम लोगोंने अनेक पुण्य-दायक एवं कल्याणस्वरूप तीर्थोंके दर्शन किये। मनको आह्लाद प्रदान करनेवाले भिन्न-भिन्न वनोंका भी अवलोकन किया॥ २॥

देवैः पूर्वं विचीर्णानि मुनिभिश्च महात्मभिः।
यथाक्रमविशेषेण द्विजैः सम्पूजितानि च॥ ३॥

'वे तीर्थ और वन ऐसे थे, जहाँ पूर्वकालमें देवता और महात्मा, मुनि विचरण कर चुके हैं तथा क्रमशः अनेक द्विजोंने उनका समादर किया है॥ ३॥

ऋषीणां पूर्वचरितं तथा कर्म विचेष्टितम्।
राजर्षीणां च चरितं कथाश्च विविधाः शुभाः॥ ४॥
शृण्वानास्तत्र तत्र स्म आश्रमेषु शिवेषु च।
अभिषेकं द्विजैः सार्धं कृतवन्तो विशेषतः॥ ५॥

'हमने ऋषियोंके पूर्वचरित्र, कर्म और चेष्टाओंकी कथा सुनी है। राजर्षियोंके भी चरित्र और भाँति-भाँतिकी शुभ कथाएँ सुनते हुए मङ्गलमय आश्रमोंमें विशेषतः ब्राह्मणोंके साथ तीर्थस्नान किया है॥ ४—५॥

अर्चिताः सततं देवाः पुष्पैरद्भिः सदा च वः।
यथालब्धैर्मूलफलैः पितरश्चापि तर्पिताः॥ ६॥

'हमने सदा फूल और जलसे देवताओंकी पूजा की है और यथाप्राप्त फल-मूलसे पितरोंको भी तृप्त किया है॥ ६॥

पर्वतेषु च रम्येषु सर्वेषु च सरस्सु च।
उदधौ च महापुण्ये सूपस्पृष्टं महात्मभिः॥ ७॥

'रमणीय पर्वतों और समस्त सरोवरोंमें विशेषतः परम पुण्यमय समुद्रके जलमें इन महात्माओंके साथ भली-भाँति स्नान एवं आचमन किया है॥ ७॥

इला सरस्वती सिन्धुर्यमुना नर्मदा तथा।
नानातीर्थेषु रम्येषु सूपस्पृष्टं सह द्विजैः॥ ८॥

'इला, सरस्वती, सिंधु, यमुना तथा नर्मदा आदि नाना रमणीय तीर्थोंमें भी ब्राह्मणोंके साथ विधिवत् स्नान और आचमन किया है॥ ८॥

गङ्गाद्वारमतिक्रम्य बहवः पर्वताः शुभाः।
हिमवान् पर्वतश्चैव नानाद्विजगणायुतः॥ ९॥

'गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को लाँघकर बहुत-से मङ्गलमय पर्वत देखे तथा बहुसंख्यक ब्राह्मणोंसे युक्त हिमालय पर्वतका भी दर्शन किया॥ ९॥

विशाला बदरी दृष्टा नरनारायणाश्रमः।
दिव्या पुष्करिणी दृष्टा सिद्धदेवर्षिपूजिता॥ १०॥

'विशाल बदरीतीर्थ, भगवान् नर-नारायणके आश्रम तथा सिद्धों और देवर्षियोंसे पूजित इस दिव्य सरोवरका भी दर्शन किया॥ १०॥

यथाक्रमविशेषेण सर्वाण्यायतनानि च।
दर्शितानि द्विजश्रेष्ठा लोमशेन महात्मना॥ ११॥

'विप्रवरो! महात्मा लोमशजीने हमें सभी पुण्यस्थानोंके क्रमशः दर्शन कराये हैं॥ ११॥

इमं वैश्रवणावासं पुण्यं सिद्धनिषेवितम्।
कथं भीम गमिष्यामो गतिरन्तरधीयताम्॥ १२॥

'भीमसेन! यह सिद्धसेवित पुण्य-प्रदेश कुबेरका निवासस्थान है। अब हम कुबेरके भवनमें कैसे प्रवेश करेंगे? इसका उपाय सोचो'॥ १२॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे वागुवाचाशरीरिणी।
न शक्यो दुर्गमो गन्तुमितो वैश्रवणाश्रमात्॥ १३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज युधिष्ठिरके ऐसा कहते ही आकाशवाणी बोल उठी—'कुबेरके इस आश्रमसे आगे जाना सम्भव नहीं है। यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है॥

अनेनैव पथा राजन् प्रतिगच्छ यथागतम्।
नरनारायणस्थानं बदरीत्यभिविश्रुतम्॥ १४॥

'राजन्! जिससे तुम आये हो, उसी मार्गसे विशाला बदरीके नामसे विख्यात भगवान् नर-नारायणके स्थानको लौट जाओ॥ १४॥

तस्माद् यास्यसि कौन्तेय सिद्धचारणसेवितम्।
बहुपुष्पफलं रम्यमाश्रमं वृषपर्वणः॥ १५॥

'कुन्तीकुमार! वहाँसे तुम प्रचुर फल-फूलसे सम्पन्न वृषपर्वाके रमणीय आश्रमपर जाओ, जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं॥ १५॥

अतिक्रम्य च तं पार्थ त्वार्ष्टिषेणाश्रमे वसेः।
ततो द्रक्ष्यसि कौन्तेय निवेशं धनदस्य च॥ १६॥

'उस आश्रमको भी लाँघकर आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाना और वहीं निवास करना। तदनन्तर तुम्हें धनदाता कुबेरके निवासस्थानका दर्शन होगा' ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वायुर्दिव्यगन्धवहः शुचिः।
सुखप्रह्लादनः शीतः पुष्पवर्षं ववर्ष च ॥ १७ ॥

इसी समय दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण पवित्र वायु चलने लगी, जो शीतल तथा सुख और आह्लाद देनेवाली थी। साथ ही वहाँ फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १७ ॥

श्रुत्वा तु दिव्यामाकाशाद् वाचं सर्वे विसिस्मियुः।
ऋषीणां ब्राह्मणानां च पार्थिवानां विशेषतः ॥ १८ ॥

वह दिव्य आकाशवाणी सुनकर सबको बड़ा विस्मय हुआ। ऋषियों, ब्राह्मणों और विशेषतः राजर्षियोंको अधिक आश्चर्य हुआ ॥ १८ ॥

श्रुत्वा तन्महदाश्चर्यं द्विजो धौम्योऽब्रवीत् तदा।
न शक्यमुत्तरं वक्तुमेवं भवतु भारत ॥ १९ ॥

वह महान् आश्चर्यजनक बात सुनकर विप्रर्षि धौम्यने कहा—'भारत ! इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। ऐसा ही होना चाहिये' ॥ १९ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रतिजग्राह तद् वचः।
प्रत्यागम्य पुनस्तं तु नरनारायणाश्रमम् ॥ २० ॥
भीमसेनादिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः परिवारितः।
पाञ्चाल्या ब्राह्मणैश्चैव न्यवसन्त सुखं तदा ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने वह आकाशवाणी स्वीकार कर ली और पुनः नर-नारायणके आश्रममें लौटकर भीमसेन आदि सब भाइयों और द्रौपदीके साथ वहीं रहने लगे। उस समय साथ आये हुए ब्राह्मण लोग भी वहीं सुखपूर्वक निवास करने लगे ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां पुनर्नरनारायणाश्रमागमने षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें पाण्डवोंका पुनः नर-नारायणके आश्रममें आगमनविषयक एकसौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

(जटासुरवधपर्व)

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

जटासुरके द्वारा द्रौपदीसहित युधिष्ठिर, नकुल, सहदेवका हरण तथा भीमसेनद्वारा जटासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतस्तत्र पाण्डवान्।
पर्वतेन्द्रे द्विजैः सार्धं पार्थागमनकाङ्क्षया ॥ १ ॥
गतेषु तेषु रक्षःसु भीमसेनात्मजेऽपि च।
रहितान् भीमसेनेन कदाचित् तान् यदृच्छया ॥ २ ॥
जहार धर्मराजानं यमौ कृष्णां च राक्षसः।
ब्राह्मणो मन्त्रकुशलः सर्वशास्त्रविदुत्तमः ॥ ३ ॥
इति ब्रुवन् पाण्डवेयान् पर्युपास्ते स नित्यदा।
परीप्समानः पार्थानां कलापानि धनूंषि च ॥ ४ ॥
अन्तरं सम्परिप्रेप्सुर्द्रौपद्या हरणं प्रति।
दुष्टात्मा पापबुद्धिः स नाम्ना ख्यातो जटासुरः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पर्वतराज गन्धमादनपर सब पाण्डव अर्जुनके आनेकी प्रतीक्षा करते हुए ब्राह्मणोंके साथ निःशङ्क रहने लगे। उन्हें पहुँचानेके लिये आये हुए राक्षस चले गये। भीमसेनका पुत्र घटोत्कच भी विदा हो गया। तत्पश्चात् एक दिनकी बात है, भीमसेनकी अनुपस्थितिमें अकस्मात् एक राक्षसने धर्मराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीको हर लिया। वह ब्राह्मणके वेषमें प्रतिदिन उन्हींके साथ रहता था और सब पाण्डवोंसे कहता था कि 'मैं सम्पूर्ण शास्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ और मन्त्र-कुशल ब्राह्मण हूँ।' वह कुन्ती-कुमारोंके तरकस और धनुषको भी हर लेना चाहता था और द्रौपदीका अपहरण करनेके लिये सदा अवसर ढूँढ़ता रहता था। उस दुष्टात्मा एवं पापबुद्धि राक्षसका नाम जटासुर था ॥ १–५ ॥

पोषणं तस्य राजेन्द्र चक्रे पाण्डवनन्दनः।
बुबुधे न च तं पापं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ६ ॥

जनमेजय ! पाण्डवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले युधिष्ठिर अन्य ब्राह्मणोंकी तरह उसका भी पालन-पोषण करते थे। परंतु राखमें छिपी हुई आगकी भाँति उस पापीके असली स्वरूपको वे नहीं जानते थे ॥ ६ ॥

स भीमसेने निष्क्रान्ते मृगयार्थमरिन्दम।
घटोत्कचं सानुचरं दृष्ट्वा विप्रद्रुतं दिशः ॥ ७ ॥
लोमशप्रभृतींस्तांस्तु महर्षींश्च समाहितान्।
स्नातुं विनिर्गतान् दृष्ट्वा पुष्पार्थं च तपोधनान् ॥ ८ ॥
रूपमन्यत् समास्थाय विकृतं भैरवं महत्।
गृहीत्वा सर्वशस्त्राणि द्रौपदीं परिगृह्य च ॥ ९ ॥
प्रातिष्ठत स दुष्टात्मा त्रीन् गृहीत्वा च पाण्डवान्।
सहदेवस्तु यत्नेन ततोऽपक्रम्य पाण्डवः ॥ १० ॥

विक्रम्य कौशिकं खड्गं मोक्षयित्वा ग्रहं रिपोः ।
आक्रन्दद् भीमसेनं वै येन यातो महाबलः ॥ ११ ॥

शत्रुसूदन ! हिंसक पशुओंको मारनेके लिये भीमसेनके आश्रमसे बाहर चले जानेपर उस राक्षसने देखा कि घटोत्कच अपने सेवकोंसहित किसी अज्ञात दिशाको चला गया, लोमश आदि महर्षि ध्यान लगाये बैठे हैं तथा दूसरे तपोधन स्नान करने और फूल लानेके लिये कुटियासे बाहर निकल गये हैं, तब उस दुष्टात्माने विशाल, विकराल एवं भयंकर दूसरा रूप धारण करके पाण्डवोंके सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र, द्रौपदी तथा तीनों पाण्डवोंको भी लेकर वहाँसे प्रस्थान कर दिया।



उस समय पाण्डु-कुमार सहदेव प्रयत्न करके उस राक्षसकी पकड़से छूट गये और पराक्रम करके म्यानसे निकली हुई अपनी तलवारको भी उससे छुड़ा लिया। फिर वे महाबली भीमसेन जिस मार्गसे गये थे, उधर ही जाकर उन्हें जोर-जोरसे पुकारने लगे ॥ ७–११ ॥

तमब्रवीद् धर्मराजो ह्रियमाणो युधिष्ठिरः ।
धर्मस्ते हीयते मूढ न तत्त्वं समवेक्षसे ॥ १२ ॥

इधर जिन्हें वह जटासुर हरकर लिये जा रहा था 'वे धर्मराज युधिष्ठिर उससे इस प्रकार बोले—'अरे मूर्ख ! इस प्रकार (विश्वासघात करनेसे) तो तेरे धर्मका ही नाश हो रहा है। किंतु उधर तेरी दृष्टि नहीं जाती है ॥ १२ ॥

येऽन्ये क्वचिन्मनुष्येषु तिर्यग्योनिगताश्च ये ।
धर्मं ते समवेक्षन्ते रक्षांसि च विशेषतः ॥ १३ ॥

'दूसरे भी जहाँ कहीं मनुष्य अथवा पशु-पक्षीकी योनि-में स्थित प्राणी हैं, वे सभी धर्मपर दृष्टि रखते हैं। राक्षस तो (पशु-पक्षीकी अपेक्षा भी) विशेषरूपसे धर्मका विचार करते हैं।

धर्मस्य राक्षसा मूलं धर्मं ते विदुरुत्तमम् ।
एतत् परीक्ष्य सर्वं त्वं समीपे स्थातुमर्हसि ॥ १४ ॥
देवाश्च ऋषयः सिद्धाः पितरश्चापि राक्षस ।
गन्धर्वोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ १५ ॥
तिर्यग्योनिगताश्चैव अपि कीटपिपीलिकाः ।
मनुष्यानुपजीवन्ति ततस्त्वमपि जीवसि ॥ १६ ॥

'राक्षस धर्मके मूल हैं। वे उत्तम धर्मका ज्ञान रखते हैं। इन सब बातोंका विचार करके तुझे हमलोगोंके समीप ही रहना चाहिये। राक्षस ! देवता, ऋषि, सिद्ध, पितर, गन्धर्व, नाग, राक्षस, पशु, पक्षी, तिर्यग्योनिके सभी प्राणी और कीड़े-मकोड़े, चींटी आदि भी मनुष्योंके आश्रित हो जीवन-निर्वाह करते हैं। इस दृष्टिसे तू भी मनुष्योंसे ही जीविका चलाता है ॥ १४–१६ ॥

समृद्ध्या ह्यस्य लोकस्य लोको युष्माकमृध्यति ।
इमं च लोकं शोचन्तमनुशोचन्ति देवताः ॥ १७ ॥

'इस मनुष्यलोककी समृद्धिसे ही तुम सब लोगोंका लोक समृद्धिशाली होता है। यदि इस लोककी दशा शोचनीय हो तो देवता भी शोकमें पड़ जाते हैं ॥ १७ ॥

पूज्यमानाश्च वर्धन्ते हव्यकव्यैर्यथाविधि ।
वयं राष्ट्रस्य गोप्तारो रक्षितारश्च राक्षस ॥ १८ ॥

'क्योंकि मनुष्यद्वारा हव्य और कव्यसे विधिपूर्वक पूजित होनेपर उनकी वृद्धि होती है। राक्षस ! हमलोग राष्ट्रके पालक और संरक्षक हैं ॥ १८ ॥

राष्ट्रस्यारक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम् ।
न च राजावमन्तव्यो रक्षसा जात्वनागसि ॥ १९ ॥

'हमारे द्वारा रक्षित न होनेपर राष्ट्रको कैसे समृद्धि प्राप्त होगी और कैसे उसे सुख मिलेगा ? राक्षसको भी उचित है कि वह बिना अपराधके कभी किसी राजाका अपमान न करे ॥ १९ ॥

अणुरप्यपचारश्च नास्त्यस्माकं नराशन ।
विघसाशान् यथाशक्त्या कुर्महे देवतादिषु ॥ २० ॥

'नरभक्षी निशाचर ! तेरे प्रति हमलोगोंकी ओरसे थोड़ा-सा भी अपराध नहीं हुआ है। हम देवता आदिको समर्पित करके बचे हुए प्रसादस्वरूप अन्नका यथाशक्ति गुरुजनों और ब्राह्मणोंको भोजन कराते हैं ॥ २० ॥

गुरूंश्च ब्राह्मणांश्चैव प्रणामप्रवणाः सदा ।
द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु न विश्वस्तेषु कर्हिचित् ॥ २१ ॥

'गुरुजनों तथा ब्राह्मणोंके सम्मुख हमारा मस्तक सदा

झुका रहता है। किसी भी पुरुषको कभी अपने मित्रों और विश्वासी पुरुषोंके साथ द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

येषां चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः।
स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं पूज्यमानः सुखोषितः ॥ २२ ॥

'जिनका अन्न खाये और जहाँ अपनेको आश्रय मिला हो, उनके साथ भी द्रोह या विश्वासघात करना उचित नहीं है। तू हमारे आश्रयमें हमलोगोंसे सम्मानित होकर सुखपूर्वक रहा है ॥ २२ ॥

भुक्त्वा चान्नानि दुष्प्रज्ञ कथमस्मान् जिहीर्षसि।
एवमेव वृथाचारो वृथावृद्धो वृथामतिः ॥ २३ ॥

'खोटी बुद्धिवाले राक्षस ! तू हमारा अन्न खाकर हमें ही हर ले जानेकी इच्छा कैसे करता है ? इस प्रकार तो अबतक तूने ब्राह्मणरूपसे जो आचार दिखाया था, वह सब व्यर्थ ही था। तेरा बढ़ना या वृद्ध होना भी व्यर्थ ही है। तेरी बुद्धि भी व्यर्थ है ॥ २३ ॥

वृथामरणमर्हश्च वृथाद्य न भविष्यसि।
अथ चेद् दुष्टबुद्धिस्त्वं सर्वैर्धर्मैर्विवर्जितः ॥ २४ ॥
प्रदाय शस्त्राण्यस्माकं युद्धेन द्रौपदीं हर।
अथ चेत् त्वमविज्ञानादिदं कर्म करिष्यसि ॥ २५ ॥
अधर्मं चाप्यकीर्तिं च लोके प्राप्स्यसि केवलम्।
एतामद्य परामृश्य स्त्रियं राक्षस मानुषीम् ॥ २६ ॥
विषमेतत् समालोड्य कुम्भेन प्राशितं त्वया।
ततो युधिष्ठिरस्तस्य गुरुकः समपद्यत ॥ २७ ॥

'ऐसी दशामें तू व्यर्थ मृत्युका ही अधिकारी है और आज व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण नष्ट हो जायँगे। यदि तेरी बुद्धि दुष्टतापर ही उतर आयी है और तू सम्पूर्ण धर्मोंको भी छोड़ बैठा है, तो हमें हमारे अस्त्र देकर युद्ध कर तथा उसमें विजयी होनेपर द्रौपदीको ले जा। यदि तू अज्ञानवश यह विश्वासघात या अपहरण कर्म करेगा, तो संसारमें तुझे केवल अधर्म और अकीर्ति ही प्राप्त होगी। निशाचर ! आज तूने इस मानव-जातिकी स्त्रीका स्पर्श करके जो पाप किया है, यह भयंकर विष है, जिसे तूने घड़ेमें घोलकर पी लिया है।' इतना कहकर युधिष्ठिर उसके लिये बहुत भारी हो गये ॥

स तु भाराभिभूतात्मा न तथा शीघ्रगोऽभवत्।
अथाब्रवीद् द्रौपदीं च नकुलं च युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

भारसे उसका शरीर दबने लगा, इसलिये अब वह पहलेकी तरह शीघ्रतापूर्वक न चल सका। तब युधिष्ठिरने नकुल और द्रौपदीसे कहा—॥ २८ ॥

मा भैष्ट राक्षसान्मूढाद् गतिरस्य मया हृता।
नातिदूरे महाबाहुर्भविता पवनात्मजः ॥ २९ ॥

'तुमलोग इस मूढ़ राक्षससे डरना मत। मैंने इसकी गति कुण्ठित कर दी है। वायुपुत्र महाबाहु भीमसेन यहाँसे अधिक दूर नहीं होंगे ॥ २९ ॥

अस्मिन् मुहूर्ते सम्प्राप्ते न भविष्यति राक्षसः।
सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं मूढचेतनम् ॥ ३० ॥
उवाच वचनं राजन् कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
राजन् किं नाम सत्कृत्यं क्षत्रियस्यास्त्यतोऽधिकम् ॥ ३१ ॥
यद् युद्धेऽभिमुखः प्राणांस्त्यजेच्छत्रुं जयेत वा।
एष चास्मान् वयं चैनं युद्ध्यमानाः परंतप ॥ ३२ ॥
सूदयेम महाबाहो देशकालो ह्ययं नृप।
क्षत्रधर्मस्य सम्प्राप्तः कालः सत्यपराक्रमः ॥ ३३ ॥

'इस आगामी मुहूर्तके आते ही इस राक्षसके प्राण नहीं रहेंगे।' इधर सहदेवने उस मूढ़ राक्षसकी ओर देखते हुए कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे कहा—'राजन् ! क्षत्रियके लिये इससे अधिक सत्कर्म क्या होगा कि वह युद्धमें शत्रुका सामना करते हुए प्राणोंका त्याग कर दे अथवा शत्रुको ही जीत ले। राजन् ! इस प्रकार यह हमें अथवा हम इसे युद्ध करते हुए मार डालें। परंतप महाबाहु नरेश ! यह क्षत्रिय धर्मके अनुकूल देश-काल प्राप्त हुआ है। यह समय यथार्थ पराक्रम प्रकट करनेके लिये है ॥ ३०–३३ ॥

जयन्तो हन्यमाना वा प्राप्तुमर्हाम सद्गतिम्।
राक्षसे जीवमानेऽद्य रविरस्तमियाद् यदि ॥ ३४ ॥
नाहं ब्रूयां पुनर्जातु क्षत्रियोऽस्मीति भारत।
भो भो राक्षस तिष्ठस्व सहदेवोऽस्मि पाण्डवः ॥ ३५ ॥
हत्वा वा मां नयस्वैनां हतो वाद्येह स्वप्स्यसि।
तदा ब्रुवति माद्रेये भीमसेनो यदृच्छया ॥ ३६ ॥
प्रत्यदृश्यद् गदाहस्तः सवज्र इव वासवः।
सोऽपश्यद् भ्रातरौ तत्र द्रौपदीं च यशस्विनीम् ॥ ३७ ॥

'भारत ! हम विजयी हों या मारे जायँ, सभी दशाओंमें उत्तम गति प्राप्त कर सकते हैं। यदि इस राक्षसके जीते-जी सूर्य डूब गये, तो मैं फिर कभी अपनेको क्षत्रिय नहीं कहूँगा। अरे ओ निशाचर ! खड़ा रहा, मैं पाण्डुकुमार सहदेव हूँ, या तो तू मुझे मारकर द्रौपदीको ले जा या स्वयं मेरे हाथों मारा जाकर आज यहीं सदाके लिये सो जा।' माद्री-नन्दन सहदेव जब ऐसी बात कह रहे थे, उसी समय अकस्मात् गदा हाथमें लिये भीमसेन दिखायी दिये, मानो वज्रधारी इन्द्र आ पहुँचे हों। उन्होंने वहाँ (राक्षसके अधिकारमें पड़े हुए) अपने दोनों भाइयों तथा यशस्विनी द्रौपदीको देखा ॥ ३४–३७ ॥

क्षितिस्थं सहदेवं च क्षिपन्तं राक्षसं तदा।
मार्गाच्च राक्षसं मूढं कालोपहतचेतसम् ॥ ३८ ॥
भ्रमन्तं तत्र तत्रैव दैवेन विनिवारितम्।
भ्रातॄंस्तान् ह्रियतो दृष्ट्वा द्रौपदीं च महाबलः ॥ ३९ ॥

क्रोधमाहारयद् भीमो राक्षसं चेदमब्रवीत्।
विज्ञातोऽसि मया पूर्वं पाप शस्त्रपरीक्षणे ॥ ४० ॥

उस समय सहदेव धरतीपर खड़े होकर राक्षसपर आक्षेप कर रहे थे और वह मूढ़ राक्षस मार्गसे भ्रष्ट होकर वहीं चक्कर काट रहा था। कालने उसकी बुद्धि मारी गयी थी। दैवने ही उसे वहाँ रोक रक्खा था। भाइयों और द्रौपदीका अपहरण होता देख महाबली भीमसेन कुपित हो उठे और जटासुरसे बोले—'ओ पापी! पहले जब तू शस्त्रोंकी परीक्षा कर रहा था, तभी मैंने तुझे पहचान लिया था ॥ ३८–४० ॥

आस्था तु त्वयि मे नास्ति यतोऽसि न हतस्तदा।
ब्रह्मरूपप्रतिच्छन्नो न नो वदसि चाप्रियम् ॥ ४१ ॥

'तुझपर मेरा विश्वास नहीं रह गया था। तो भी तू ब्राह्मणके रूपमें अपने असली स्वरूपको छिपाये हुए था और हमलोगोंसे कोई अप्रिय बात नहीं कहता था। इसीलिये मैंने तुम्हें तत्काल नहीं मार डाला ॥ ४१ ॥

प्रियेषु रममाणं त्वां न चैवाप्रियकारिणम्।
अतिथिं ब्रह्मरूपं च कथं हन्यामनागसम् ॥ ४२ ॥
राक्षसं जानमानोऽपि यो हन्यान्नरकं व्रजेत्।
अपक्वस्य च कालेन वधस्तव न विद्यते ॥ ४३ ॥

'तू हमारे प्रिय कार्योंमें मन लगाता था। जो हमें प्रिय न लगे, ऐसा काम नहीं करता था। ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आया था और कभी कोई अपराध नहीं किया था। ऐसी दशामें मैं तुझे कैसे मारता? जो राक्षसको राक्षस जानते हुए भी बिना किसी अपराधके उसका वध करता है, वह नरकमें जाता है। अभी तेरा समय पूरा नहीं हुआ था, इसलिये भी आजसे पहले तेरा वध नहीं किया जा सकता था ॥४२-४३॥

नूनमद्यासि सम्पक्वो यथा ते मतिरीदृशी।
दत्ता कृष्णापहरणे कालेनाद्भुतकर्मणा ॥ ४४ ॥

'आज निश्चय ही तेरी आयु पूरी हो चुकी है, तभी तो अद्भुत कर्म करनेवाले कालने तुझे इस प्रकार द्रौपदीके अपहरणकी बुद्धि दी है ॥ ४४ ॥

बडिशोऽयं त्वया ग्रस्तः कालसूत्रेण लम्बितः।
मत्स्योऽम्भसीव स्यूतास्यः कथमद्य भविष्यसि ॥ ४५ ॥

'कालरूपी डोरेसे लटकाया हुआ वंशीका काँटा तूने निगल लिया है। तेरा मुँह जलकी मछलीके समान उस काँटेमें गुँथ गया है, अतः अब तू कैसे जीवन धारण करेगा?

यं चासि प्रस्थितो देशं मनः पूर्वं गतं च ते।
न तं गन्तासि गन्तासि मार्गं बकहिडिम्बयोः ॥ ४६ ॥

'जिस देशकी ओर तू प्रस्थित हुआ है और जहाँ तेरा मन पहलेसे ही जा पहुँचा है, वहाँ अब तू न जा सकेगा। तुझे तो बक और हिडिम्बके मार्गपर जाना है' ॥ ४६ ॥

एवमुक्तस्तु भीमेन राक्षसः कालचोदितः।
भीत उत्सृज्य तान् सर्वान् युद्धाय समुपस्थितः ॥ ४७ ॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर वह राक्षस भयभीत हो उन सबको छोड़कर कालकी प्रेरणासे युद्धके लिये उद्यत हो गया॥

अब्रवीच्च पुनर्भीमं रोषात् प्रस्फुरिताधरः।
न मे मूढा दिशः पाप त्वदर्थं मे विलम्बितम् ॥ ४८ ॥

उस समय रोषसे उसके ओठ फड़क रहे थे। उसने भीमसेनको उत्तर देते हुए कहा—'ओ पापी! मुझे दिग्भ्रम नहीं हुआ था। मैंने तेरे ही लिये विलम्ब किया था ॥४८॥

श्रुता मे राक्षसा ये ये त्वया विनिहता रणे।
तेषामद्य करिष्यामि तवास्रेणोदकक्रियाम् ॥ ४९ ॥

'तूने जिन-जिन राक्षसोंको युद्धमें मारा है, उन सबके नाम मैंने सुने हैं। आज तेरे रक्तसे ही मैं उनका तर्पण करूँगा' ॥ ४९ ॥

एवमुक्तस्ततो भीमः सृक्किणी परिसंलिहन्।
स्मयमान इव क्रोधात् साक्षात् कालान्तकोपमः ॥ ५० ॥
(ब्रुवन् वै तिष्ठ तिष्ठेति क्रोधसंरक्तलोचनः।)
बाहुसंरम्भमेवैक्षन्नभिदुद्राव राक्षसम्।
राक्षसोऽपि तदा भीमं युद्धार्थिनमवस्थितम् ॥ ५१ ॥
मुहुर्मुहुर्व्याददानः सृक्किणी परिसंलिहन्।
अभिदुद्राव संरब्धो बलिर्वज्रधरं यथा ॥ ५२ ॥

राक्षसके ऐसा कहनेपर भीमसेन अपने मुखके दोनों कोने चाटते हुए कुछ मुस्कराते-से प्रतीत हुए फिर क्रोधसे साक्षात् काल और यमराजके समान जान पड़ने लगे। रोषसे उनकी आँखें लाल हो गयी थीं और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए ताल ठोंककर राक्षसकी ओर दृष्टि गड़ाये उसपर टूट पड़े। राक्षस भी उस समय भीमसेनको युद्धके लिये उपस्थित देख बार-बार मुँह फैलाकर मुँहके दोनों कोने चाटने लगा और जैसे बलिराजा वज्रधारी इन्द्रपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार कुपित हो उसने भीमसेनपर धावा किया ॥५०–५२॥

(भीमसेनोऽप्यवष्टब्धो नियुद्धायाभवत् स्थितः।
राक्षसोऽपि च विस्रब्धो बाहुयुद्धमकाङ्क्षत) ॥
वर्तमाने तदा ताभ्यां बाहुयुद्धे सुदारुणे।
माद्रीपुत्रावतिक्रुद्धावुभावप्यभ्यधावताम् ॥ ५३ ॥

भीमसेन भी स्थिर होकर उससे युद्धके लिये खड़े हो गये और वह राक्षस भी निश्चिन्त हो उनके साथ बाहु-युद्धकी इच्छा करने लगा। उस समय उन दोनोंमें बड़ा भयंकर बाहु-युद्ध होने लगा। यह देख माद्री-पुत्र नकुल और सहदेव अत्यन्त क्रोधमें भरकर उसकी ओर दौड़े ॥ ५३ ॥

न्यवारयत् तौ प्रहसन् कुन्तीपुत्रो वृकोदरः।
शक्तोऽहं राक्षसस्येति प्रेक्षध्वमिति चाब्रवीत् ॥ ५४ ॥

परंतु कुन्तीकुमार भीमसेनने हँसकर उन दोनोंको रोक दिया और कहा—'मैं अकेला ही इस राक्षसके लिये पर्याप्त हूँ। तुमलोग चुप-चाप देखते रहो' ॥ ५४ ॥

आत्मना भ्रातृभिश्चैव धर्मेण सुकृतेन च।
इष्टेन च शपे राजन् सूदयिष्यामि राक्षसम् ॥ ५५ ॥

फिर वे युधिष्ठिरसे बोले—'महाराज ! मैं अपनी, सब भाइयोंकी, धर्मकी, पुण्य कर्मोंकी तथा यज्ञकी शपथ खाकर कहता हूँ, इस राक्षसको अवश्य मार डालूँगा' ॥ ५५ ॥

इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ स्पर्धमानौ परस्परम्।
बाहुभ्यां समसज्जेतामुभौ रक्षोवृकोदरौ ॥ ५६ ॥

ऐसा कहकर वे दोनों वीर राक्षस और भीम एक दूसरेसे स्पर्धा रखते हुए बाहोंसे बाहें मिलाकर गुथ गये ॥ ५६ ॥

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्भीमरक्षसोः।
अमृष्यमाणयोः सङ्ख्ये देवदानवयोरिव ॥ ५७ ॥

भीमसेन तथा राक्षस दोनोंमें देवताओं और दानवोंके समान युद्ध होने लगा। दोनों ही रोष और अमर्षमें भरकर एक दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ५७ ॥

आरुज्यारुज्य तौ वृक्षानन्योन्यमभिजघ्नतुः।
जीमूताविव गर्जन्तौ निनदन्तौ महाबलौ ॥ ५८ ॥

दोनोंका बल महान् था। वे गर्जते हुए दो मेघोंकी भाँति सिंहनाद करके वृक्षोंको तोड़-तोड़कर परस्पर चोट करते थे ॥ ५८ ॥

बभञ्जतुर्महावृक्षानूरुभिर्बलिनां वरौ।
अन्योन्येनाभिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ॥ ५९ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वे दोनों वीर अपनी जाँघोंके धक्केसे बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ डालते थे और परस्पर कुपित हो एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखते थे ॥ ५९ ॥

तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम्।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरा स्त्रीकाङ्क्षिणोर्यथा ॥ ६० ॥

जैसे पूर्वकालमें स्त्रीकी इच्छावाले दो भाई बालि और सुग्रीवमें भयंकर संग्राम हुआ था, उसी प्रकार भीमसेन और राक्षसमें होने लगा। उन दोनोंका वह वृक्षयुद्ध उस वनके वृक्षसमूहोंके लिये महान् विनाशकारी सिद्ध हुआ ॥ ६० ॥

आविध्याविध्य तौ वृक्षान् मुहूर्तमितरेतरम्।
ताडयामासतुरुभौ विनदन्तौ मुहुर्मुहुः ॥ ६१ ॥

वे दोनों बड़े-बड़े वृक्षोंको हिला-हिलाकर बार-बार विकट गर्जना करते हुए दो घड़ीतक एक दूसरेपर प्रहार करते रहे ॥ ६१ ॥

तस्मिन् देशे यदा वृक्षाः सर्व एव निपातिताः।
पुञ्जीकृताश्च शतशः परस्परवधेप्सया ॥ ६२ ॥
ततः शिलाः समादाय मुहूर्तमिव भारत।
महाभ्रैरिव शैलेन्द्रौ युयुधाते महाबलौ ॥ ६३ ॥
शिलाभिरुग्ररूपाभिर्बृहतीभिः परस्परम्।
वज्रैरिव महावेगैराजघ्नतुरमर्षणौ ॥ ६४ ॥

भारत ! जब उस प्रदेशके सारे वृक्ष गिरा दिये गये, तब एक दूसरेका वध करनेकी इच्छासे उन महाबली वीरोंने वहाँ ढेर-की-ढेर पड़ी हुई सैकड़ों शिलाएँ लेकर दो घड़ीतक इस प्रकार युद्ध किया, मानो दो पर्वतराज बड़े-बड़े मेघ खण्डोंद्वारा परस्पर युद्ध कर रहे हों। वहाँकी शिलाएँ विशाल और अत्यन्त भयंकर थीं। वे देखनेमें महान् वेगशाली वज्रोंके समान जान पड़ती थीं। अमर्षमें भरे हुए वे दोनों योद्धा उन्हीं शिलाओंद्वारा एक दूसरेको मारने लगे ॥ ६२-६४ ॥

अभिद्रुत्य च भूयस्तावन्योन्यं बलदर्पितौ।
भुजाभ्यां परिगृह्याथ चकर्षाते गजाविव ॥ ६५ ॥

तत्पश्चात् अपने-अपने बलके घमंडमें भरे हुए वे दोनों वीर एक दूसरेकी ओर झपटकर पुनः अपनी भुजाओंसे कसते हुए विपक्षीको उसी प्रकार खींचने लगे, जैसे दो गजराज परस्पर भिड़कर एक-दूसरेको खींच रहे हों ॥ ६५ ॥

मुष्टिभिश्च महाघोरैरन्योन्यमभिजघ्नतुः।
ततः कटकटाशब्दो बभूव सुमहात्मनोः ॥ ६६ ॥

अपने अत्यन्त भयानक मुक्कोंद्वारा वे परस्पर चोट करने लगे। तब उन दोनों महाकाय वीरोंमें जोर-जोरसे कटकटानेकी आवाज होने लगी ॥ ६६ ॥

ततः संहृत्य मुष्टिं तु पञ्चशीर्षमिवोरगम्।
वेगेनाभ्यहनद् भीमो राक्षसस्य शिरोधराम् ॥ ६७ ॥

तदनन्तर भीमसेनने पाँच सिरवाले सर्पकी भाँति अपने

पाँच अङ्गुलियोंसे युक्त हाथकी मुट्ठी बाँधकर उसे राक्षसकी गर्दनपर बड़े वेगसे दे मारा ॥ ६७ ॥

ततः श्रान्तं तु तद् रक्षो भीमसेनभुजाहतम् ।
सुपरिश्रान्तमालक्ष्य भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ६८ ॥

भीमसेनकी भुजाओंके आघातसे वह राक्षस थक गया था । तदनन्तर उसे अधिक थका हुआ देख भीमसेन आगे बढ़ते गये ॥ ६८ ॥



तत एनं महाबाहुर्बाहुभ्याममरोपमः ।
समुत्क्षिप्य बलाद् भीमो विनिष्पिष्य महीतले ॥ ६९ ॥

तत्पश्चात् देवताओंके समान तेजस्वी महाबाहु भीमसेनने उस राक्षसको दोनों भुजाओंसे बलपूर्वक उठा लिया और उसे पृथ्वीपर पटककर पीस डाला ॥ ६९ ॥

तस्य गात्राणि सर्वाणि चूर्णयामास पाण्डवः ।
अरत्निना चाभिहत्य शिरः कायादपाहरत् ॥ ७० ॥

उस समय पाण्डुनन्दन भीमने उसके सारे अङ्गोंको दबाकर चूर-चूर कर दिया और थप्पड़ मारकर उसके सिरको धड़से अलग कर दिया ॥ ७० ॥

संदष्टौष्ठं विवृत्ताक्षं फलं वृक्षादिव च्युतम् ।
जटासुरस्य तु शिरो भीमसेनबलाद्धृतम् ॥ ७१ ॥

भीमसेनके बलसे कटकर अलग हुआ जटासुरका वह सिर वृक्षसे टूटकर गिरे हुए फलके समान जान पड़ता था । उसका ओठ दाँतोंसे दबा हुआ था और आँखें बहुत फैली हुई थीं ॥ ७१ ॥

पपात रुधिरादिग्धं संदष्टदशनच्छदम् ।
तं निहत्य महेष्वासो युधिष्ठिरमुपागमत् ।
स्तूयमानो द्विजाग्र्यैस्तु मरुद्भिरिव वासवः ॥ ७२ ॥

दाँतोंसे दबे हुए ओठवाला वह मस्तक खूनसे लथपथ होकर गिर पड़ा था । इस प्रकार जटासुरको मारकर महान् धनुर्धर भीमसेन युधिष्ठिरके पास आये । उस समय श्रेष्ठ द्विज उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे, मानो मरुद्गण देवराज इन्द्रके गुण गा रहे हों ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि जटासुरवधपर्वणि सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत जटासुरवधपर्वमें एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

॥ समाप्तं जटासुरवधपर्व ॥

(यक्षयुद्धपर्व)

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नर-नारायण-आश्रमसे वृषपर्वाके यहाँ होते हुए राजर्षि आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाना

वैशम्पायन उवाच

निहते राक्षसे तस्मिन् पुनर्नारायणाश्रमम् ।
अभ्येत्य राजा कौन्तेयो निवासमकरोत् प्रभुः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उस राक्षसके मारे जानेपर कुन्तीकुमार शक्तिशाली राजा युधिष्ठिर पुनः नर-नारायण-आश्रममें आकर रहने लगे ॥ १ ॥

स समानीय तान् सर्वान् भ्रातॄनित्यब्रवीद् वचः।
द्रौपद्या सहितान् काले संस्मरन् भ्रातरं जयम्॥ २॥

एक दिन उन्होंने द्रौपदीसहित सब भाइयोंको एकत्र करके अपने प्रियबन्धु अर्जुनका स्मरण करते हुए कहा—॥ २॥

समाश्वतस्रोऽभिगताः शिवेन चरतां वने।
कृतोद्देशः स बीभत्सुः पञ्चमीमभितः समाम्॥ ३॥

'हमलोगोंको कुशलपूर्वक वनमें विचरते हुए चार वर्ष हो गये। अर्जुनने यह संकेत किया था कि मैं पाँचवें वर्षमें लौट आऊँगा॥ ३॥

प्राप्य पर्वतराजानं श्वेतं शिखरिणां वरम्।
पुष्पितैर्द्रुमषण्डैश्च मत्तकोकिलषट्पदैः॥ ४॥
मयूरैश्चातकैश्चापि नित्योत्सवविभूषितम्।
व्याघ्रैर्वराहैर्महिषैर्गवयैर्हरिणैस्तथा॥ ५॥
श्वापदैर्व्यालरूपैश्च रुरुभिश्च निषेवितम्।
फुल्लैः सहस्रपत्रैश्च शतपत्रैस्तथोत्पलैः॥ ६॥
प्रफुल्लैः कमलैश्चैव तथा नीलोत्पलैरपि।
महापुण्यं पवित्रं च सुरासुरनिषेवितम्॥ ७॥

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ गिरिराज कैलासपर आकर अर्जुनसे मिलनेके शुभ अवसरकी प्रतीक्षामें हमने यहाँ डेरा डाला है। (क्योंकि वहीं मिलनेका उनकी ओरसे संकेत प्राप्त हुआ था।) वह श्वेत कैलास-शिखर पुष्पित वृक्षावलियोंसे सुशोभित है। वहाँ मतवाले कोकिलोंकी काकली, भ्रमरोंके गुञ्जारव तथा मोर और पपीहोंकी मीठी वाणीसे नित्य उत्सव-सा होता रहता है, जो उस पर्वतकी शोभाको बढ़ा देता है। वहाँ व्याघ्र, वराह, महिष, गवय, हरिण, हिंसक जन्तु, सर्प तथा रुरुमृग निवास करते हैं। खिले हुए सहस्रदल, शतदल, उत्पल, प्रफुल्ल कमल तथा नीलोत्पल आदिसे उस पर्वतकी रमणीयता और भी बढ़ गयी है। वह परम पुण्यमय और पवित्र है। देवता और असुर दोनों ही उसका सेवन करते हैं॥ ४—७॥

तत्रापि च कृतोद्देशः समागमदिदृक्षुभिः।
कृतश्च समयस्तेन पार्थेनामिततेजसा॥ ८॥
पञ्चवर्षाणि वत्स्यामि विद्यार्थीति पुरा मयि।

अमिततेजस्वी अर्जुनने वहाँ भी अपना आगमन देखनेके लिये उत्सुक हुए हमलोगोंके साथ संकेतपूर्वक यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं अस्त्रविद्याका अध्ययन करनेके लिये पाँच वर्षोंतक देवलोकमें निवास करूँगा॥ ८½॥

अत्र गाण्डीवधन्वानमवाप्तास्त्रमरिन्दमम्॥ ९॥
देवलोकादिमं लोकं द्रक्ष्यामः पुनरागतम्।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणान् सर्वानामन्त्रयत पाण्डवः॥ १०॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुन अस्त्र-विद्या प्राप्त करके पुनः देवलोकसे इस मनुष्यलोकमें आनेवाले हैं। हमलोग शीघ्र ही उनसे मिलेंगे' ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंको आमन्त्रित किया॥ ९-१०॥

कारणं चैव तत् तेषामाचचक्षे तपस्विनाम्।
तानुग्रतपसः प्रीतान् कृत्वा पार्थाः प्रदक्षिणाम्॥ ११॥

और उन तपस्वियोंके सामने उन्हें बुला भेजनेका कारण बताया। उन कठोर तपस्वियोंको प्रसन्न करके कुन्तीकुमारोंने उनकी परिक्रमा की॥ ११॥

ब्राह्मणास्तेऽन्वमोदन्त शिवेन कुशलेन च।
सुखोदर्कमिमं क्लेशमचिराद् भरतर्षभ॥ १२॥

तब उन ब्राह्मणोंने कुशल-मङ्गलके साथ उन सबके अभीष्ट मनोरथकी पूर्तिका अनुमोदन किया और कहा—'भरतश्रेष्ठ! आजका यह क्लेश शीघ्र ही सुखद भविष्यके रूपमें परिणत हो जायगा॥ १२॥

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ तीर्त्वा गां पालयिष्यसि।
तत् तु राजा वचस्तेषां प्रतिगृह्य तपस्विनाम्॥ १३॥
प्रतस्थे सह विप्रैस्तैर्भ्रातृभिश्च परन्तपः।
राक्षसैरनुयातो वै लोमशेनाभिरक्षितः॥ १४॥

'धर्मज्ञ! तुम क्षत्रियधर्मके अनुसार इस संकटसे पार होकर सारी पृथ्वीका पालन करोगे।' राजा युधिष्ठिरने उन तपस्वी ब्राह्मणोंका यह आशीर्वाद शिरोधार्य किया और वे परंतप नरेश उन ब्राह्मणों तथा भाइयोंके साथ वहाँसे प्रस्थित हुए। घटोत्कच आदि राक्षस भी उनकी सेवाके लिये पीछे-पीछे चले। राजा युधिष्ठिर महर्षि लोमशके द्वारा सर्वथा सुरक्षित थे।१३-१४।

क्वचित् पद्भ्यां ततोऽगच्छद् राक्षसैरुह्यते क्वचित्।
तत्र तत्र महातेजा भ्रातृभिः सह सुव्रतः॥ १५॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महातेजस्वी भूपाल कहीं तो भाइयोंसहित पैदल चलते और कहीं राक्षसलोग उन्हें पीठपर बैठाकर ले जाते थे। इस प्रकार वे अनेक स्थानोंमें गये॥

ततो युधिष्ठिरो राजा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन्।
सिंहव्याघ्रगजाकीर्णामुदीचीं प्रययौ दिशम्॥ १६॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर अनेक क्लेशोंका चिन्तन करते

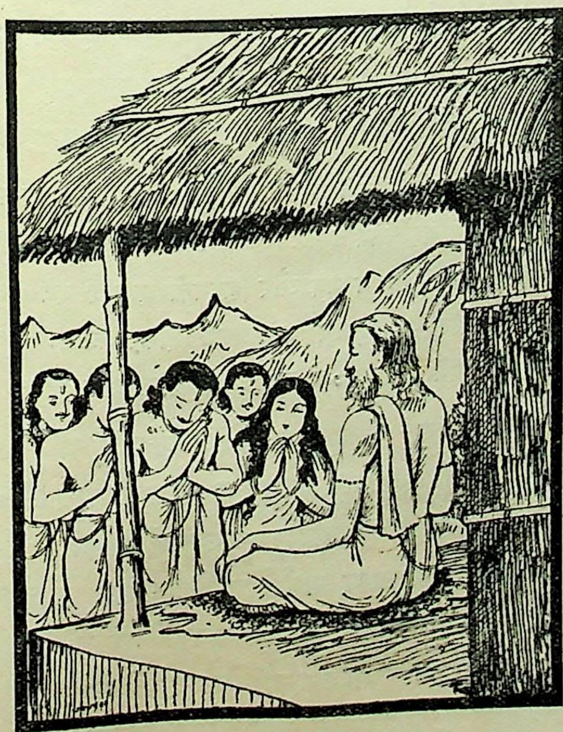
हुए सिंह, व्याघ्र और हाथियोंसे भरी हुई उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ॥ १६ ॥

अवेक्षमाणः कैलासं मैनाकं चैव पर्वतम् ।
गन्धमादनपादांश्च श्वेतं चापि शिलोच्चयम् ॥ १७ ॥
उपर्युपरि शैलस्य बह्वीश्च सरितः शिवाः ।
पृष्ठं हिमवतः पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि ॥ १८ ॥

कैलास, मैनाकपर्वत, गन्धमादनकी घाटियों और श्वेत (हिमालय) पर्वतका दर्शन करते हुए उन्होंने पर्वतमालाओंके ऊपर-ऊपर बहुत-सी कल्याणमयी सरिताएँ देखीं तथा सत्रहवें दिन वे हिमालयके एक पावन पृष्ठभागपर जा पहुँचे ॥१७-१८॥

ददृशुः पाण्डवा राजन् गन्धमादनमन्तिकात् ।
पृष्ठे हिमवतः पुण्ये नानाद्रुमलतावृते ॥ १९ ॥
सलिलावर्तसंजातैः पुष्पितैश्च महीरुहैः ।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपर्वणः ॥ २० ॥
तमुपागम्य राजर्षिं धर्मात्मानमरिन्दमाः ।
पाण्डवा वृषपर्वाणमवन्दन्त गतक्लमाः ॥ २१ ॥

राजन् ! वहाँ पाण्डवोंने गन्धमादन पर्वतका निकटसे दर्शन किया । हिमालयका वह पावन पृष्ठभाग नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे आवृत था । वहाँ जलके आवर्तोंसे सींचकर उत्पन्न हुए फूलवाले वृक्षोंसे घिरा हुआ वृषपर्वाका परम पवित्र आश्रम था । शत्रुदमन पाण्डवोंने उन धर्मात्मा राजर्षि वृषपर्वाके पास जाकर क्लेशरहित हो उन्हें प्रणाम किया ॥



अभ्यनन्दत् स राजर्षिः पुत्रवद् भरतर्षभान् ।
पूजिताश्चावसंस्तत्र सप्तरात्रमरिन्दमाः ॥ २२ ॥

उन राजर्षिने भरतकुलभूषण पाण्डवोंका पुत्रके समान अभिनन्दन किया और उनसे सम्मानित होकर वे शत्रुदमन पाण्डव वहाँ सात रात ठहरे रहे ॥ २२ ॥

अष्टमेऽहनि सम्प्राप्ते तमृषिं लोकविश्रुतम् ।
आमन्त्र्य वृषपर्वाणं प्रस्थानं प्रत्यरोचयन् ॥ २३ ॥

आठवें दिन उन विश्वविख्यात राजर्षि वृषपर्वाकी आज्ञा ले उन्होंने वहाँसे प्रस्थान करनेका विचार किया ॥ २३ ॥

एकैकशश्च तान् विप्रान् निवेद्य वृषपर्वणि ।
न्यासभूतान् यथाकालं बन्धूनिव सुसत्कृतान् ॥ २४ ॥
पारिबर्हं च तं शेषं परिदाय महात्मने ।
ततस्ते यज्ञपात्राणि रत्नान्याभरणानि च ॥ २५ ॥
न्यदधुः पाण्डवा राजन्नाश्रमे वृषपर्वणः ।

अपने साथ आये हुए ब्राह्मणोंको उन्होंने एक-एक करके वृषपर्वाके यहाँ धरोहरकी भाँति सौंपा । उन सबका पाण्डवोंने समय-समयपर सगे बन्धुकी भाँति सत्कार किया था । ब्राह्मणों-को सौंपनेके पश्चात् पाण्डवोंने अपनी शेष सामग्री भी उन्हीं महामनाको दे दी। तदनन्तर पाण्डुपुत्रोंने वृषपर्वाके ही आश्रममें अपने यज्ञपात्र तथा रत्नमय आभूषण भी रख दिये ॥२४-२५½॥

अतीतानागते विद्वान् कुशलः सर्वधर्मवित् ॥ २६ ॥
अन्वशासत् स धर्मज्ञः पुत्रवद्भरतर्षभान् ।
तेऽनुज्ञाता महात्मानः प्रययुर्दिशमुत्तराम् ॥ २७ ॥

वृषपर्वा भूत और भविष्यके ज्ञाता, कार्यकुशल और सम्पूर्ण धर्मोंके मर्मज्ञ थे । उन धर्मज्ञ नरेशने भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंको पुत्रकी भाँति उपदेश दिया । उनकी आज्ञा पाकर महामना पाण्डव उत्तरदिशाकी ओर चले ॥ २६-२७ ॥

तान् प्रस्थितानभ्यगच्छद् वृषपर्वा महीपतिः ।
उपन्यस्य महातेजा विप्रेभ्यः पाण्डवांस्तदा ॥ २८ ॥
अनुसंसार्य कौन्तेयानाशीर्भिरभिनन्द्य च ।
वृषपर्वा निववृते पन्थानमुपदिश्य च ॥ २९ ॥

उस समय उनके प्रस्थान करनेपर महातेजस्वी राजर्षि वृषपर्वाने पाण्डवोंको (उस देशके जानकार अन्य) ब्राह्मणों-

के सुपुर्द कर दिया और कुछ दूर पीछे-पीछे जाकर उन कुन्तीकुमारोंको आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया। तत्पश्चात् उन्हें रास्ता बताकर वृषपर्वा लौट आये ॥ २८-२९ ॥

नानामृगगणैर्जुष्टं कौन्तेयः सत्यविक्रमः।
पदातिर्भ्रातृभिः सार्धं प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥

फिर सत्यपराक्रमी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने भाइयों-के साथ पैदल ही (वृषपर्वाके बताये हुए मार्गपर) चले, जो अनेक जातिके मृगोंके झुंडोंसे भरा हुआ था ॥ ३० ॥

नानाद्रुमनिरोधेषु वसन्तः शैलसानुषु।
पर्वतं विविशुः श्वेतं चतुर्थेऽहनि पाण्डवाः ॥ ३१ ॥
महाभ्रघनसंकाशं सलिलोपहितं शुभम्।
मणिकाञ्चनरूप्यस्य शिलानां च समुच्चयम् ॥ ३२ ॥
(रूपं हिमवतः प्रस्थं बहुकन्दरनिर्झरम्।
शिलाविभङ्गविकटं लतापादपसंकुलम् ॥)
ते समासाद्य पन्थानं यथोक्तं वृषपर्वणा।
अनुसस्रुर्यथोद्देशं पश्यन्तो विविधान्नगान् ॥ ३३ ॥

वे सभी पाण्डव नाना प्रकारके वृक्षोंसे हरे-भरे पर्वतीय शिखरोंपर डेरा डालते हुए चौथे दिन श्वेत (हिमालय) पर्वतपर जा पहुँचे, जो महामेघके समान शोभा पाता था। वह सुन्दर शैल शीतल सलिलराशिसे सम्पन्न था और मणि, सुवर्ण, रजत तथा शिलाखण्डोंका समुदायरूप था। हिमालयका वह रमणीय प्रदेश अनेकानेक कन्दराओं और निर्झरोंसे सुशोभित शिलाखण्डोंके कारण दुर्गम तथा लताओं और वृक्षोंसे व्याप्त था। पाण्डव वृषपर्वाके बताये हुए मार्गका आश्रय ले नाना प्रकारके वृक्षोंका अवलोकन करते हुए अपने अभीष्ट स्थानकी ओर अग्रसर हो रहे थे ॥ ३१–३३ ॥

उपर्युपरि शैलस्य गुहाः परमदुर्गमाः।
सुदुर्गमांस्ते सुबहून् सुखेनैवाभिचक्रमुः ॥ ३४ ॥
धौम्यः कृष्णा च पार्थाश्च लोमशश्च महानृषिः।
अगच्छन् सहितास्तत्र न कश्चिदवहीयते ॥ ३५ ॥

उस पर्वतके ऊपर बहुत-सी अत्यन्त दुर्गम गुफाएँ थीं और अनेक दुर्गम्य प्रदेश थे। पाण्डव उन सबको सुखपूर्वक लाँघकर आगे बढ़ गये। पुरोहित धौम्य, द्रौपदी, चारों पाण्डव तथा महर्षि लोमश—ये सब लोग एक साथ चल रहे थे। कोई पीछे नहीं छूटता था ॥ ३४-३५ ॥

ते मृगद्विजसंघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम्।
शाखामृगगणैश्चैव सेवितं सुमनोरमम् ॥ ३६ ॥
पुण्यं पद्मसरोयुक्तं सपल्वलमहावनम्।
उपतस्थुर्महाभागा माल्यवन्तं महागिरिम् ॥ ३७ ॥

आगे बढ़ते हुए वे महाभाग पाण्डव पुण्यमय माल्यवान् नामक महान् पर्वतपर जा पहुँचे, जो अनेक प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित तथा अत्यन्त मनोरम था। वहाँ मृगोंके झुंड विचरते और भाँति-भाँतिके पक्षी कलरव कर रहे थे। बहुतसे वानर भी उस पर्वतका सेवन करते थे। उसके शिखरपर कमलमण्डित सरोवर, छोटे-छोटे जलकुण्ड और विशाल वन थे ॥ ३६-३७ ॥

ततः किम्पुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम्।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ३८ ॥

वहाँसे उन्हें गन्धमादन पर्वत दिखायी दिया, जो किम्पुरुषों-का निवासस्थान है। सिद्ध और चारण उसका सेवन करते हैं। उसे देखकर पाण्डवोंका रोम-रोम हर्षसे खिल उठा ॥ ३८ ॥

विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च।
गजसङ्घसमावासं सिंहव्याघ्रगणायुतम् ॥ ३९ ॥

उस पर्वतपर विद्याधर विहार करते थे। किन्नरियाँ क्रीड़ा करती थीं। झुंड-के-झुंड हाथी, सिंह और व्याघ्र निवास करते थे ॥ ३९ ॥

शरभोन्नादसंघुष्टं नानामृगनिषेवितम्।
ते गन्धमादनवनं तन्नन्दनवनोपमम् ॥ ४० ॥
मुदिताः पाण्डुतनया मनोहृदयनन्दनम्।
विविशुः क्रमशो वीराः शरण्यं शुभकाननम् ॥ ४१ ॥

शरभोंके सिंहनादसे वह पर्वत गूँजता रहता था। नाना प्रकारके मृग वहाँ निवास करते थे। गन्धमादन पर्वतका वह वन नन्दनवनके समान मन और हृदयको आनन्द देनेवाला था। वे वीर पाण्डुकुमार बड़े प्रसन्न होकर क्रमशः उस सुन्दर काननमें प्रविष्ट हुए, जो सबको शरण देनेवाला था। ४०-४१।

द्रौपदीसहिता वीरास्तैश्च विप्रैर्महात्मभिः।
शृण्वन्तः प्रीतिजननान् वल्गून् मदकलाञ्छुभान् ॥ ४२ ॥
श्रोत्ररम्यान् सुमधुराञ्छब्दान् खगमुखेरितान्।
सर्वर्तुफलभाराढ्यान् सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलान् ॥ ४३ ॥
पश्यन्तः पादपांश्चापि फलभारावनामितान्।
आम्रानाम्रातकान् भव्यान् नारिकेलान् सतिन्दुकान् ॥
मुञ्जातकांस्तथा जीरान् दाडिमान् बीजपूरकान्।

पनसाँल्लकुचान् मोचान् खर्जूरानम्लवेतसान् ॥ ४५ ॥
पारावतांस्तथा क्षौद्रान् नीपांश्चापि मनोरमान् ।
बिल्वान् कपित्थाञ्जम्बूंश्च काश्मरीर्बदरीस्तथा ॥ ४६ ॥
प्लक्षानुदुम्बरवटानश्वत्थान् क्षीरिकांस्तथा ।
भल्लातकानामलकीर्हरीतकबिभीतकान् ॥ ४७ ॥
इङ्गुदान् करमर्दांश्च तिन्दुकांश्च महाफलान् ।
एतानन्यांश्च विविधान् गन्धमादनसानुषु ॥ ४८ ॥
फलैरमृतकल्पैस्तानाचितान् स्वादुभिस्तरून् ।
तथैव चम्पकाशोकान् केतकान् बकुलांस्तथा ॥ ४९
पुन्नागान् सप्तपर्णांश्च कर्णिकारान् सकेतकान् ।
पाटलान् कुटजान् रम्यान् मन्दारेन्दीवरांस्तथा ॥५०॥
पारिजातान् कोविदारान् देवदारुद्रुमांस्तथा ।
शालांस्तालांस्तमालांश्च पिप्पलान् हिङ्गुकांस्तथा॥ ५१ ॥
शाल्मलीः किंशुकाशोकाञ्छिंशपाः सरलांस्तथा।

उनके साथ द्रौपदी तथा पूर्वोक्त महामना ब्राह्मण भी थे । वे सब लोग विहंगोंके मुखसे निकले हुए अत्यन्त मधुर सुन्दर, श्रवण-सुखद मादक एवं मोदजनक शुभ शब्द सुनते हुए तथा सभी ऋतुओंके पुष्पों और फलोंसे सुशोभित एवं उनके भारसे झुके वृक्षोंको देखते हुए आगे बढ़ रहे थे । आम, आमड़ा, भव्य नारियल, तेंदू, मुञ्जातक, अञ्जीर, अनार, नीबू, कटहल, लकुच (बड़हर), मोच (केला), खजूर, अम्लवेंत, पारावत, क्षौद्र, सुन्दर कदम्ब, बेल, कैथ, जामुन, गम्भारी, बेर, पाकड़, गूलर, बरगद, पीपल, पिंड खजूर, भिलावा, आँवला, हर्रे, बहेड़ा, इङ्गुद, करौंदा तथा बड़े-बड़े फलवाले तिंदुक—ये और दूसरे भी नाना प्रकारके वृक्ष गन्धमादनके शिखरोंपर लहलहा रहे थे, जो अमृतके समान स्वादिष्ट फलोंसे लदे हुए थे । (इन सबको देखते हुए पाण्डव लोग आगे बढ़ने लगे ।) इसी प्रकार चम्पा, अशोक, केतकी, बकुल (मौलशिरी), पुन्नाग (सुल्ताना चंपा), सप्तपर्ण (छितवन), कनेर, केवड़ा, पाटल (पाड़रि या गुलाब) कुटज, सुन्दर मन्दार, इन्दीवर (नीलकमल), पारिजात, कोविदार, देवदारु, शाल, ताल, तमाल, पिप्पल, हिङ्गुक (हींगका वृक्ष), सेमल, पलाश, अशोक, शीशम तथा सरल आदि वृक्षोंको देखते हुए पाण्डव-लोग अग्रसर हो रहे थे ॥ ४२–५१½ ॥

चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गराजैस्तथा शुकैः ॥ ५२ ॥
कोकिलैः कलविङ्कैश्च हारितैर्जीवजीवकैः ।
प्रियकैश्चातकैश्चैव तथान्यैर्विविधैः खगैः ॥ ५३ ॥
श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चाप्यधिष्ठितान् ।
सरांसि च मनोज्ञानि समन्ताज्जलचारिभिः ॥ ५४ ॥
कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा कोकनदोत्पलैः ।
कह्लारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः ॥ ५५ ॥
कादम्बैश्चक्रवाकैश्च कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैर्बकैर्मद्गुभिरेव च ॥ ५६ ॥
एतैश्चान्यैश्च कीर्णानि समन्ताज्जलचारिभिः ।
हृष्टैस्तथा तामरसरसासवमदालसैः ॥ ५७ ॥

इन वृक्षोंपर निवास करनेवाले चकोर, मोर, भृङ्गराज, तोते, कोयल, कलविङ्क (गौरैया-चिड़िया), हारीत (हारिल), चकवा, प्रियक, चातक तथा दूसरे नाना प्रकारके पक्षी, श्रवणसुखद मधुर शब्द बोल रहे थे । वहाँ चारों ओर जलचर जन्तुओंसे भरे हुए मनोहर सरोवर दृष्टिगोचर होते थे । जिनमें कुमुद, पुण्डरीक, कोकनद, उत्पल, कह्लार और कमल सब ओर व्याप्त थे । कादम्ब, चक्रवाक, कुरर, जल-कुक्कुट, कारण्डव, प्लव, हंस, बक, मद्गु तथा अन्य कितने ही जलचर पक्षी कमलोंके मकरन्दका पान करके मदसे मतवाले और हर्षसे मुग्ध हुए उन सरोवरोंमें सब ओर फैले थे ॥ ५२–५७ ॥

पद्मोदरच्युतरजःकिंजल्कारुणरञ्जितैः ।
मञ्जुस्वरैर्मधुकरैर्विरुतान् कमलाकरान् ॥ ५८ ॥

कमलोंसे भरे हुए तालाबोंमें मीठे स्वरसे बोलनेवाले भ्रमरोंके शब्द गूँज रहे थे । वे भ्रमर कमलके भीतरसे निकली हुई रज तथा केसरोंसे लाल रंगमें रँगे-से जान पड़ते थे ॥ ५८ ॥

अपश्यंस्ते नरव्याघ्रा गन्धमादनसानुषु ।
तथैव पद्मषण्डैश्च मण्डितांश्च समन्ततः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार वे नरश्रेष्ठ गन्धमादनके शिखरोंपर पद्मषण्ड-मण्डित तालाबोंको सब ओर देखते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ५९ ॥

शिखण्डिनीभिः सहिताँल्लतामण्डलकेषु च ।
मेघतूर्यरवोद्दाममदनाकुलितान् भृशम् ॥ ६० ॥
कृत्वैव केकामधुरं संगीतं मधुरस्वरम् ।
चित्रान् कलापान् विस्तीर्य सविलासान् मदालसान् ॥ ६१
मयूरान् ददृशुर्हृद्यान् नृत्यतो वनलालसान् ।
कांश्चित् प्रियाभिः सहितान् रममाणान् कलापिनः ॥ ६२ ॥
वल्लीलतासंकटेषु कुटजेषु स्थितांस्तथा ।
कांश्चिच्च कुटजानां तु विटपेषूत्कटानिव ॥ ६३ ॥
कलापरुचिराटोपनिचितान् मुकुटानिव ।

विवरेषु तरूणां च रुचिरान् ददृशुश्च ते ॥ ६४ ॥

वहाँ लता-मण्डपोंमें मोरिनियोंके साथ नाचते हुए मोर दिखायी देते थे। जो मेघोंकी मृदङ्गतुल्य गम्भीर गर्जना सुनकर उद्दाम कामसे अत्यन्त उन्मत्त हो रहे थे। वे अपनी मधुर केकाध्वनिका विस्तार करके मीठे स्वरमें संगीतकी रचना करते थे और अपनी विचित्र पाँखें फैलाकर विलासयुक्त मदालस भावसे वनविहारके लिये उत्सुक हो प्रसन्नताके साथ नाच रहे थे। कुछ मोर लतावल्लरियोंसे व्याप्त कुटज वृक्षोंके कुञ्जोंमें स्थित हो अपनी प्यारी मोरिनियोंके साथ रमण करते थे और कुछ कुटजोंकी डालियोंपर मदमत्त होकर बैठे थे तथा अपनी सुन्दर पाँखोंके घटाटोपसे युक्त हो मुकुटके समान जान पड़ते थे। कितने ही सुन्दर मोर वृक्षोंके कोटरोंमें बैठे थे। पाण्डवोंने उन सबको देखा ॥ ६०–६४ ॥

सिन्धुवारांस्तथोदारान् मन्मथस्येव तोमरान्।
सुवर्णवर्णकुसुमान् गिरीणां शिखरेषु च ॥ ६५ ॥

पर्वतोंके शिखरोंपर अधिकाधिक संख्यामें सुनहरे कुसुमोंसे सुशोभित सुन्दर शेफालिकाके[१] पौधे दिखायी देते थे, जो कामदेवके तोमर नामक बाण-से प्रतीत होते थे ॥ ६५ ॥

कर्णिकारान् विकसितान् कर्णपूरानिवोत्तमान्।
तथापश्यन् कुरबकान् वनराजिषु पुष्पितान् ॥ ६६ ॥
कामवश्यौत्सुक्यकरान् कामस्येव शरोत्करान्।
तथैव वनराजीनामुदारान् रचितानिव ॥ ६७ ॥
विराजमानांस्तेऽपश्यंस्तिलकांस्तिलकानिव ।
तथानङ्गशराकारान् सहकारान् मनोरमान् ॥ ६८ ॥
अपश्यन् भ्रमरारावान् मञ्जरीभिर्विराजितान्।
हिरण्यसदृशैः पुष्पैर्दावाग्निसदृशैरपि ॥ ६९ ॥
लोहितैरञ्जनाभैश्च वैदूर्यसदृशैरपि।
अतीव वृक्षा राजन्ते पुष्पिताः शैलसानुषु ॥ ७० ॥

खिले हुए कनेरके फूल उत्तम कर्णपूरके समान प्रतीत होते थे। इसी प्रकार वन-श्रेणियोंमें विकसित कुरबक नामक वृक्ष भी उन्होंने देखे, जो कामासक्त पुरुषोंको उत्कण्ठित करनेवाले कामदेवके बाण-समूहोंके समान जान पड़ते थे। इसी प्रकार उन्हें तिलकके वृक्ष दृष्टिगोचर हुए, जो वन-श्रेणियोंके ललाटमें रचित सुन्दर तिलकके समान शोभा पा रहे थे। कहीं मनोहर मञ्जरियोंसे विभूषित मनोरम आम्र वृक्ष दीख पड़ते थे, जो कामदेवके बाणोंकी-सी आकृति धारण करते थे। उनकी डालियोंपर भौंरोंकी भीड़ गूँजती रहती थी। उन पर्वतोंके शिखरोंपर कितने ही ऐसे वृक्ष थे, जिनमें सुवर्णके समान सुन्दर पुष्प खिले थे। कुछ वृक्षोंके पुष्प देखनेमें दावानलका भ्रम उत्पन्न करते थे। किन्हीं वृक्षोंके फूल लाल, काले तथा वैदूर्य-मणिके सदृश धूमिल थे। इस प्रकार पर्वतीय शिखरोंपर विभिन्न प्रकारके पुष्पोंसे विभूषित वृक्ष बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ६६–७० ॥

तथा शालांस्तमालांश्च पाटलान् बकुलानपि।
माला इव समासक्ताः शैलानां शिखरेषु च ॥ ७१ ॥

इसी तरह शाल, तमाल, पाटल और बकुल आदि वृक्ष उन शैल-शिखरोंपर धारण की हुई मालाकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ७१ ॥

विमलस्फाटिकाभानि पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः।
कलहंसैरुपेतानि सारसाभिरुतानि च ॥ ७२ ॥
सरांसि बहुशः पार्थाः पश्यन्तः शैलसानुषु।
पद्मोत्पलविमिश्राणि सुखशीतजलानि च ॥ ७३ ॥

पाण्डवोंने पर्वतीय शिखरोंपर बहुत-से ऐसे सरोवर देखे, जो निर्मल स्फटिकमणिके समान सुशोभित थे। उनमें सफेद पाँखवाले पक्षी कलहंस आदि विचरते तथा सारस कलरव करते थे। कमल और उत्पल पुष्पोंसे संयुक्त उन सरोवरोंमें सुखद एवं शीतल जल भरा था ॥ ७२-७३ ॥

एवं क्रमेण ते वीरा वीक्षमाणाः समन्ततः।
गन्धवन्त्यथ माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ७४ ॥
सरांसि च मनोज्ञानि वृक्षांश्चातिमनोरमान्।
विविशुः पाण्डवाः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार वे वीर पाण्डव चारों ओर सुगन्धित पुष्प-मालाएँ, सरस फल, मनोहर सरोवर और मनोरम वृक्षावलियोंको क्रमशः देखते हुए गन्धमादन पर्वतके वनमें प्रविष्ट हुए। वहाँ पहुँचनेपर उन सबकी आँखें आश्चर्यसे खिल उठीं ॥ ७४-७५ ॥

---

१. सिन्धुवार शब्दका अर्थ आचार्य नीलकण्ठने कमल माना है। आधुनिक कोषकारोंने 'सिन्धुवार' को शेफालिका या निर्गुण्डीका पर्याय माना है। उसके फूल मञ्जरीके आकारमें केसरिया रङ्गके होते हैं, अतः तोमरसे उनकी उपमा ठीक बैठती है। इसीलिये यहाँ शेफालिका अर्थ लिया गया।

कमलोत्पलकह्लारपुण्डरीकसुगन्धिना ।
सेव्यमाना वने तस्मिन् सुखस्पर्शेन वायुना ॥ ७६ ॥

उस समय कमल, उत्पल, कह्लार और पुण्डरीककी सुन्दर गन्ध लिये मन्द मधुर वायु उस वनमें मानो उन्हें व्यजन डुलाती थी ॥ ७६ ॥

ततो युधिष्ठिरो भीममाहेदं प्रीतिमद् वचः ।
अहो श्रीमदिदं भीम गन्धमादनकाननम् ॥ ७७ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने भीमसेनसे प्रसन्नतापूर्ण यह बात कही—'भीम! यह मन्धमादन-कानन कितना सुन्दर और कैसा अद्भुत है ? ॥ ७७ ॥

वने ह्यस्मिन् मनोरम्ये दिव्याः काननजा द्रुमाः ।
लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोपगाः ॥ ७८ ॥

'इस मनोरम वनके वृक्ष और नाना प्रकारकी लताएँ दिव्य हैं । इन सबमें पत्र, पुष्प और फलोंकी बहुतायत है ॥ ७८ ॥

भान्त्येते पुष्पविकचाः पुंस्कोकिलकुलाकुलाः ।
नात्र कण्टकिनः केचिन्न च विद्यन्त्यपुष्पिताः ॥ ७९ ॥

'ये सभी वृक्ष फूलोंसे लदे हैं । कोकिल-कुलसे अलंकृत हैं । इस वनमें कोई भी वृक्ष ऐसे नहीं हैं, जिनमें काँटे हों और जो खिले न हों ॥ ७९ ॥

स्निग्धपत्रफला वृक्षा गन्धमादनसानुषु ।
भ्रमरारावमधुरा नलिनीः फुल्लपङ्कजाः ॥ ८० ॥

गन्धमादनके शिखरोंपर जितने वृक्ष हैं, उन सबके पत्र और फल चिकने हैं । सभी भ्रमरोंके मधुर गुञ्जारवसे मनोहर जान पड़ते हैं । यहाँके सरोवरोंमें कमल खिले हुए हैं ॥८०॥

विलोड्यमानाः पश्येमाः करिभिः सकरेणुभिः ।
पश्येमां नलिनीं चान्यां कमलोत्पलमालिनीम् ॥ ८१ ॥
स्रग्धरां विग्रहवतीं साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ।
नानाकुसुमगन्धाढ्यास्तस्येमाः काननोत्तमे ॥ ८२ ॥
उपगीयमाना भ्रमरै राजन्ते वनराजयः ।
पश्य भीम शुभान् देशान् देवाक्रीडान् समन्ततः॥८३॥

'देखो, हथिनियोंसहित हाथी इन तालाबोंमें घुसकर इन्हें मथे डालते हैं और इस दूसरी पुष्करिणीपर दृष्टिपात करो, जो कमल और उत्पलकी मालाओंसे अलंकृत है । यह कमलमालाधारिणी साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान मानो साकार विग्रह धारण करके प्रकट हुई है । गन्धमादनके इस उत्तम वनमें नाना प्रकारके कुसुमोंकी सुगन्धसे सुवासित ये छोटी-छोटी वनश्रेणियाँ भ्रमरोंके गीतोंसे मुखरित हो कैसी शोभा पा रही हैं ? भीमसेन ! देखो, यहाँके सुन्दर प्रदेशोंमें चारों ओर देवताओंकी क्रीडास्थली है ॥८१–८३॥

अमानुषगतिं प्राप्ताः संसिद्धाः स्म वृकोदर ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिः पुष्पिताः पादपोत्तमाः ॥ ८४ ॥
संश्लिष्टाः पार्थ शोभन्ते गन्धमादनसानुषु ।

'वृकोदर ! हमलोग ऐसे स्थानपर आ गये हैं, जो मानवोंके लिये अगम्य है । जान पड़ता है, हम सिद्ध हो गये हैं । कुन्ती-नन्दन ! गन्धमादनके शिखरोंपर ये फूलोंसे भरे हुए उत्तम वृक्ष इन पुष्पित लताओंसे अलंकृत होकर कैसी शोभा पा रहे हैं ? ॥८४½॥

शिखण्डिनीभिश्चरतां सहितानां शिखण्डिनाम् ॥८५॥
नदतां शृणु निर्घोषं भीम पर्वतसानुषु ।

'भीम ! इन पर्वत-शिखरोंपर मोरिनियोंके साथ विचरते बोलते हुए मोरोंका यह मधुर केकारव तो सुनो ॥ ८५½ ॥

चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः ॥ ८६ ॥
पत्रिणः पुष्पितानेतान् संपतन्ति महाद्रुमान् ।

'ये चकोर, शतपत्र, मदोन्मत्त कोकिल और सारिका आदि पक्षी इन पुष्पमण्डित विशाल वृक्षोंकी ओर कैसे उड़े जा रहे हैं ? ॥ ८६½ ॥

रक्तपीतारुणाः पार्थ पादपाग्रगताः खगाः ॥ ८७ ॥
परस्परमुदीक्षन्ते बहवो जीवजीवकाः ।

'पार्थ ! वृक्षोंकी ऊँची शिखाओंपर बैठे हुए लाल, गुलाबी और पीले रङ्गके चकोर पक्षी एक दूसरेकी ओर देख रहे हैं॥८७½॥

हरितारुणवर्णानां शाद्वलानां समीपतः ॥ ८८ ॥
सारसाः प्रतिदृश्यन्ते शैलप्रस्रवणेष्वपि ।

'उधर हरी और लाल घासोंके समीप पर्वतीय झरनोंके पास सारस दिखायी देते हैं ॥ ८८½ ॥

वदन्ति मधुरा वाचः सर्वभूतमनोरमाः ॥ ८९ ॥
भृङ्गराजोपचक्राश्च लोहपृष्ठाः पतत्रिणः ।

'भृङ्गराज, उपचक्र (चक्रवाक) और लोहपृष्ठ (कङ्क) नामक पक्षी ऐसी मीठी बोली बोलते हैं, जो समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेती है ॥ ८९½ ॥

चतुर्विषाणाः पद्माभाः कुञ्जराः सकरेणवः ॥ ९० ॥
एते वैदूर्यवर्णाभं क्षोभयन्ति महत् सरः ।

'इधर देखो, ये कमलके समान कान्तिवाले गजराज, जिनके चार दाँत शोभा पा रहे हैं, हथिनियोंके साथ आकर वैदूर्यमणि-के समान सुशोभित इस महान् सरोवरको मथे डालते हैं ॥ ९०½ ॥

बहुतालसमुत्सेधाः शैलशृङ्गपरिच्युताः ॥ ९१ ॥
नानाप्रस्रवणेभ्यश्च वारिधाराः पतन्ति च ।

'अनेक झरनोंसे जलकी धाराएँ गिर रही हैं । जिनकी ऊँचाई कई ताड़के बराबर है और ये पर्वतके सर्वोच्च शिखरसे नीचे गिरती हैं ॥ ९१½ ॥

भास्कराभाः प्रभाभिश्च शारदाभ्रघनोपमाः ॥ ९२ ॥
शोभयन्ति महाशैलं नानारजतधातवः ।
क्वचिदञ्जनवर्णाभाः क्वचित् काञ्चनसंनिभाः ॥ ९३ ॥

'नाना प्रकारके रजतमय धातु इस महान् पर्वतकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इनमेंसे कुछ तो अपनी प्रभाओंसे भगवान् भास्करके समान प्रकाशित होते हैं और कुछ शरद् ऋतुके श्वेत बादलोंके समान सुशोभित हो रहे हैं । कहीं काजलके समान काले और सुवर्णके समान पीले रङ्गके धातु दीख पड़ते हैं ॥९२-९३॥

धातवो हरितालस्य क्वचिद्धिङ्गुलकस्य च ।
मनःशिलागुहाश्चैव सन्ध्याभ्रनिकरोपमाः ॥ ९४ ॥

'कहीं हरितालसम्बन्धी धातु हैं और कहीं हिङ्गुलसम्बन्धी। कहीं मैनसिलकी गुफाएँ हैं, जो संध्याकालीन लाल बादलोंके समान जान पड़ती हैं ॥ ९४ ॥

शशलोहितवर्णाभाः क्वचिद्गैरिकधातवः ।
सितासिताभ्रप्रतिमा बालसूर्यसमप्रभाः ॥ ९५ ॥

'कहीं गेरु नामक धातु हैं, जिनकी कान्ति लाल खरगोशके समान दिखायी देती है । कोई धातु श्वेत बादलोंके समान हैं, तो कोई काले मेघोंके समान । कोई प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल रङ्गके हैं ॥ ९५ ॥

एते बहुविधाः शैलं शोभयन्ति महाप्रभाः ।
गन्धर्वाः सह कान्ताभिर्यथोक्तं वृषपर्वणा ॥९६॥
दृश्यन्ते शैलशृङ्गेषु पार्थ किम्पुरुषैः सह ।

'ये नाना प्रकारकी परम कान्तिमान् धातु समूचे शैलकी शोभा बढ़ाती हैं । पार्थ ! जिस प्रकार वृषपर्वाने कहा था उसी प्रकार इन पर्वतीय शिखरोंपर अपनी प्रेयसी अप्सराओं तथा किम्पुरुषोंके साथ गन्धर्व दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ९६½ ॥

गीतानां समतालानां तथा साम्नां च निःस्वनः ॥९७॥
श्रूयते बहुधा भीम सर्वभूतमनोहरः ।
महागङ्गामुदीक्षस्व पुण्यां देवनदीं शुभाम् ॥९८॥

'भीमसेन ! यहाँ सम तालसे गाते हुए गीतों तथा साममन्त्रोंका विविध स्वर सुनायी पड़ता है, जो सम्पूर्ण भूतोंके चित्तको आकर्षित करनेवाला है । यह परम पवित्र एवं कल्याणमयी देवनदी महागङ्गा हैं, इनका दर्शन करो ॥ ९७-९८ ॥

कलहंसगणैर्जुष्टामृषिकिन्नरसेविताम् ।
धातुभिश्च सरिद्भिश्च किन्नरैर्मृगपक्षिभिः ॥९९॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च काननैश्च मनोरमैः ।
व्यालैश्च विविधाकारैः शतशीर्षैः समन्ततः ॥१००॥
उपेतं पश्य कौन्तेय शैलराजमरिन्दम ।

'यहाँ हंसोंके समुदाय निवास करते हैं तथा ऋषि एवं किन्नरगण सदा इन (गङ्गाजी)का सेवन करते हैं । शत्रुदमन भीम ! भाँति-भाँतिके धातुओं, नदियों, किन्नरों, मृगों, पक्षियों, गन्धर्वों, अप्सराओं, मनोरम काननों तथा सौ मस्तकवाले भाँति-भाँतिके सर्पोंसे सम्पन्न इस पर्वतराजका दर्शन करो' ॥ ९९-१००½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते प्रीतमनसः शूराः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥१०१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार वे शूरवीर पाण्डव हर्षपूर्ण हृदयसे अपने परम उत्तम लक्ष्य स्थानको पहुँच गये ॥ १०१ ॥

नातृप्यन् पर्वतेन्द्रस्य दर्शनेन परन्तपाः ।
उपेतमथ माल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः ॥१०२॥
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेराश्रमं ददृशुस्तदा ।

गिरिराज गन्धमादनका दर्शन करनेसे उन्हें तृप्ति नहीं होती थी । तदनन्तर परंतप पाण्डवोंने पुष्पमालाओं तथा फलवान् वृक्षोंसे सम्पन्न राजर्षि आर्ष्टिषेणका आश्रम देखा ॥ १०२½ ॥

ततस्ते तिग्मतपसं कृशं धमनिसंततम् ।
पारगं सर्वधर्माणामार्ष्टिषेणमुपागमन् ॥१०३॥

फिर वे कठोर तपस्वी दुर्बलकाय तथा नस-नाड़ियोंसे ही व्याप्त राजर्षि आर्ष्टिषेणके समीप गये, जो सम्पूर्ण धर्मोंके पारङ्गत विद्वान् थे ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि गन्धमादनप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

ग्राहकों तथा पाठकोंसे विशेष अनुरोध

मासिक महाभारतके ग्राहक बढ़ाइये

महाभारतके पढ़नेवाले पाठक-पाठिकागण इसकी उपादेयतासे परिचित हैं। वे यह भी जानते हैं कि वर्तमान समयमें इसकी कितनी आवश्यकता है। इसे पञ्चम वेद माना गया है। ऐसा कोई उपयोगी विषय नहीं है, जो इसमें न आया हो। इसके प्रचारसे विशेष लाभ होनेकी आशा है। अतः हम अपने सभी पाठक-पाठिकाओंसे तथा ग्राहक-अनुग्राहकोंसे विनीत अनुरोध करते हैं कि वे विशेषरूपसे प्रयत्न करके दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी कृपा करें। मनसे चेष्टा करनेपर दो नये ग्राहकोंका बनना बड़ी बात नहीं है।

मासिक महाभारतके तीन अङ्क समाप्त हो गये हैं

अतः जिन ग्राहकोंके रुपये मनीआर्डरसे आ गये थे, अथवा जिनका वी० पी० का आदेश मिला था, उन सबको मासिक महाभारतके अङ्क ४ से ६ तकके भेज दिये गये हैं। पहले तीन अङ्क नहीं भेजे गये हैं। पुनः छपनेपर दो महीने बाद वे भेजे जा सकेंगे। कृपापूर्वक देरके लिये क्षमा करेंगे और इसके लिये पत्र-व्यवहार करनेका कष्ट न करेंगे।

मासिक महाभारतके अब भी ग्राहक बनाये जाते हैं

महाभारतका नया वर्ष नवम्बरसे आरम्भ होकर अक्टूबरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक नवम्बरसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु नवम्बरके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। महाभारतके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते। इसका वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित २०) है। जिनको ग्राहक बनना हो मनीआर्डरद्वारा रुपया भेज दें या वी० पी० का आदेश देनेकी कृपा करें।

कृपा कर ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें

प्रत्येक कृपालु प्रेमी ग्राहक महाशयकी सेवामें विनम्र प्रार्थना है कि वे अपनी ग्राहक-संख्या जो "महाभारत" के रैपरपर उनके पतेके पास लिखा रहता है, अवश्य लिख लें और पत्र-व्यवहार आदि करते समय अवश्य लिखें।

ग्राहक-नंबर

व्यवस्थापक—'महाभारत', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

22